स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक-संवेदना

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल० (हिन्दी) उपाधि

के लिए प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध

निर्देशिका

प्रो० डॉ० मालती तिवारी

(प्रोफेसर हिन्दी विभाग)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय,

इलाहाबाद(उ०प्र०)

प्रस्तुतकर्त्री

कु० सरिता जैन

शोध-छात्रा (हिन्दी)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद (उ०प्र०)

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

सन् - 2000

प्राक्कथन

स्वातन्त्र्योत्तर कवियों में मैंने अपने शोध प्रबन्ध के लिए जिन आठ कवियों का चयन किया है, उनमें कुछ ऐसे कवि हैं, जो ग्रामीण परिवेशगत संस्कारों से अधिक जुड़े है। ये कवि हैं – नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल व धूमिल। कुछ ऐसे कवि चुने हैं, जो शहरी जीवन के अधिक समीप हैं। ये कवि हैं – रघुवीर सहाय, गिरिजा कुमार माथुर, मुक्तिबोध व अज्ञेय।

शहरी व ग्रामीण जीवन के अधिक करीब रहने वाले कवियों को चुनने का कारण यह नहीं है कि मैं किसी प्रकार कवियों को और उनकी लोक–संवेदना को विभाजित कर रही हूँ, वरन् यह देखना है कि गाँव या शहरी–परिवेश के अधिक निकट रहने वाला कवि 'जन–सामान्य' की संवेदना से किस तरह जुड़ रहा है। क्या गाँव व शहरी पृष्ठभूमि का उनकी कविताओं पर प्रभाव पड़ा,आदि,-आदि।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है – ''स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में लोक संवेदना'' – (नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', गजानन माधव 'मुक्तिबोध', रघुवीर सहाय, गिरिजा कुमार माथुर तथा अज्ञेय की कविता के सन्दर्भ में)। इस शोध प्रबन्ध का उद्देश्य मात्र कविता की व्याख्या नहीं है, वरन् कविताओं के माध्यम से कवि की लोक संवेद्य दृष्टि की खोज की गयी है।

विषय को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध को पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में 'लोक व संवेदना का स्वरूप' शीर्षक के अन्तर्गत प्राचीन संस्कृत–साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक में प्रयुक्त 'लोक' शब्द के विविध पारम्परिक अर्थों व विद्वानों की परिभाषाओं को बताते हुए 'संवेदना' क्या है ? इसे स्पष्ट करते हुए ''हिन्दी साहित्य में लोक–संवेदना का महत्व'' विषय पर दृष्टि केन्द्रित की गयी है।

द्वितीय अध्याय में "हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ से लेकर स्वतन्त्रतापूर्व तक के काव्य में लोक-संवेदना" शीर्षक के अन्तर्गत आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल व आधुनिक कालीन परिवेश की चर्चा करते हुए इन विविध चरणों में लिखी गयी प्रमुख कवियों की कविताओं में लोक-संवेदना का सर्वेक्षण परक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

तृतीय अध्याय में स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश पर दृष्टिपात करते हुए, काव्य-प्रवृत्तियों में हुए परिवर्तन की चर्चा करते हुए तथा चयनित कवियों के "सृजनशील व्यक्तित्व" पर पड़ने वाले पारिवेशिक व पारिवारिक प्रभाव पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में चयनित कवियों की कविताओं में व्याप्त लोक संवेद्य-दृष्टि के विविध रूपों की खोज की गयी है। कड़ी मेहनत के बाद भी जीवन की मूल-भूत आवश्यकताओं को न जुटा पाने वाले शोषित, पीड़ित, दलित जन की संवेदना कवि की संवेदना बनकर उनकी कविताओं में समाहित है। कहीं ये कवि शोषक-पूँजीवादी राजनीतिक सत्ता का विरोध कर शोषित जन के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त करते हैं, तो कहीं इन शोषित-पीड़ित जनों को जातिवाद, साम्प्रदायिकता, अंधविश्वास धर्मगत रूढ़ियों में आकण्ठ डूबा देखकर उन पर आक्रोश व्यक्त करते है व इन्हें इससे मुक्ति के उपाय सुझाते हुए संघर्ष-शक्ति प्रदान करते हैं। आम-जन के जीवन का वह सुखद-पक्ष भी कवि की लेखनी से कविताओं का सृजन कराता है, जिसमें ये जन संस्कारगत रीति-रिवाजों, परम्पराओं, विश्वासों व प्रकृति के सुरम्य वातावरण में गाँव की मिट्टी की सोंधी खुशबू में डूबे हुए जीवन का आनन्द लेते दिखाई पड़ते हैं।

पंचम अध्याय में कवियों की भाषिक संरचना के माध्यम से लोक-संवेदना की विवेचना की गयी है। इन सभी कवियें ने – अज्ञेय व मुक्तिबोध को छोड़कर-सरल बोलचाल की भाषा में आम आदमी की जिजीविषा, संत्रस्तता, भीरूता, असमर्थता, यथास्थिति में रहने की विवशता

और उनके कारणों को स्पष्ट किया है। मुक्तिबोध की लेखनी जिस भाषा का सृजन करती है वह अपने आप में अनोखी है। उनकी लम्बी कविताएँ आम आदमी व तथाकथित खास माने जाने वाले व्यक्तियों के सम्पूर्ण आन्तरिक और वाह्य जीवन को दृश्य के रूप में उपस्थित करती है। उनकी भाषा सरल होते हुए भी मनःस्थिति का रूप-चित्रांकन करते हुए कहीं जटिल हो गयी है, पर सर्वत्र ऐसा नहीं है। उनकी कविताओं में लोक–प्रचलित शब्दों की भरमार है। इसी तरह अज्ञेय भी अपनी चुस्त और गठी हुई भाषा के कारण कहीं–कहीं जटिल प्रतीत होते हैं, पर कुछ कविताएँ लोक–प्रचलित शब्दों की अधिकता के कारण अत्यन्त सरल व लोक–संवेद्य बन पड़ी हैं।

इन कवियों की भाषा बिकती नहीं है, वरन् चौराहे पर खड़ी होकर गरीबों के तथाकथित पक्षधर शासकों की नीतियों की आलोचना करती हुई उन्हें समूल नष्ट करने के लिए क्रान्ति की आग को जलाने का प्रयास करती है। इन कवियों ने लोक जीवन को प्रभावित करने वाली कहावतों, मुहावरों, लोकोक्तियों, लोक प्रचलित शब्दों व कहीं–कहीं लोक-धुनों का सुन्दर प्रयोग कर अपनी भाषा–संवदेना को सर्वग्रह्य बना दिया है।

उपसंहार में शोध–प्रबन्ध की मौलिकता को ध्यान में रखते हुए संक्षिप्त निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

मैं अपनी गुरूवर्या प्रो0 डॉ0 मालती तिवारी की आजीवन ऋणी रहूँगी, क्योंकि उन्होंने समय–समय पर माँ की ममता दी है, गुरूता की असीम अनुकम्पा दी है, मेरी शोध तृषा को स्नेहिल शीलत–सलिल दिया है। ऐसी ममतामयी, दिव्य प्रकाशदायी गुरूवर्या के चरणों में चुन–चुन कर जितने भी पुष्प चढ़ाऊँ वह उनकी महिमा के अनुरूप कम ही होगा। मेरा सम्पूर्ण शोधकार्य उन्हीं की अनुकम्पा का फल है। इसलिए उनके चरणों में पुनः श्रद्धा–सुमन को समर्पित करती हूँ।

इस शोधकार्य में डॉ0 मूलशंकर शर्मा (विभागाध्यक्ष, हिन्दी, के0बी0पो0ग्रे0 कालेज, मिर्जापुर) और डॉ0 भवदेव पाण्डेय (निवर्तमान हिन्दी रीडर, के0बी0पो0ग्रे0 कालेज मिर्जापुर) ने अपना अमूल्य समय देकर मेरे उत्साह का वर्धन किया है। उनके चरणों में अपने श्रद्धा–पुष्प को समर्पित करती हूँ। मैं डॉ0 बैजनाथ पाण्डेय (रीडर, संस्कृत विभाग, के0बी0पो0ग्रे0 कालेज, मिर्जापुर) की विशेष रूप से आभारी हूँ, जिन्होंने क्षेत्रीय लोक–बोलियों की पहचान कराने में मुझ अज्ञ की विशेष मदद की है। यदि इनका अमोघ स्नेहाशीर्वाद प्राप्त न होता तो मै इस शोधकार्य के दुस्तर सागर को कभी भी पार नहीं कर सकती थी। अतः इनके चरणों में मैं सदैव श्रद्धावनत् रहूँगी।

मेरी माँ तो वस्तुतः ममता की मूर्ति हैं। उन्होंने मेरे स्व0 पिता की सम्पूर्ण जिम्मेदारियों को वहन करते हुए न जाने कितने अकथनीय दुःखों को अपने हृदय में छिपाकर मेरे कार्य में अवर्णनीय सहयोग दिया है। यह शोध कार्य उन्हीं की तपस्या की परिणति है। मैं उनके चरणो में अपने को सदा समर्पित करती हूँ। इस कड़ी में मैं अपने दोनों भाई सुधीर व अधीर को धन्यवाद देती हूँ जिन्होंने पितृविहीन मेरे लिए पिता और भाई दोनों का दायित्व निभाकर मेरे कार्य में सदा पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। उनके स्नेहाकाश की शीतल छाया में ही मैं यह कार्य पूर्ण कर सकी हूँ। मैं अपनी दोनों भाभियों–संगीता व लता के चरणों में अपने कुछ श्रद्धा–कुसुम को न अर्पित करूँ तो मैं उनके साथ कृतघ्नता करूँगी। इन लोगों ने मेरे कार्य को अपना समझकर 'दीप बाति नहिं टारन कहेऊँ'' को चरितार्थ करते हुए सदा पूर्ण सहयोग किया है। जब कभी मैं कार्य करते–करते थक जाती थी तब इन लोगों ने अपनी प्यार भरी सेवा से मेरे शुष्क काठ को सरोरूह बनाकर मुझे आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। एक नाम और है जिसे मैं आजीवन विस्मृत नहीं कर पाऊँगी, वह है मेरी सहेली 'अल्माश'। इन्होंने मेरे कार्य में

सहयोग के लिए क्या नहीं किया है ? मैं ऐसी सखी को "निश्छल प्रेम" के अतिरिक्त और क्या दे सकती हूँ।

अन्त में मैं पुस्तकालयाध्यक्ष – इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद, पुस्तकालयाध्यक्ष – हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग तथा साहित्य सदन पुस्तकालय, मिर्जापुर को धन्यवाद देना चाहती हूँ। इन्होंने शीघ्रता से पुस्तक उपलब्ध कराने में मेरा सदा सहयोग किया। टंकणकर्ता निर्भय अग्रवाल जी को मैं विशेष रूप से धन्यवाद देती हूँ जिन्होने मेरे शोध कार्य को कम समय में कृति का रूप प्रदान किया।

सरिता जैन

विषय–अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

लोक व संवेदना का स्वरूप [पृ0सं0 – 1-२४]

- प्राचीन संस्कृत साहित्य से लेकर हिन्दी साहित्य तक प्रयुक्त 'लोक' शब्द के विभिन्न अर्थ।
- लोक और वेद का विभेद।
- लोक और जन का सम्बन्ध।
- लोक की अवधारणा।
- लोक की परिभाषा (विद्धानों के अनुसार) ।
- लोक के साथ जुड़ने वाले शब्द और 'संवेदना'।
- 'संवेदना' क्या है ?
- साहित्य में लोक–संवेदनाओं का महत्व ।

संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त 'लोक' शब्द के विभिन्न अर्थ :-

प्राची दिशा में जब प्रथम बार मनुष्य ने भुवन-भास्कर को उगते हुए देखा होगा, तो उसका हृदय आनन्द से आह्लादित हो उठा होगा, क्योंकि सहस्त्ररश्मि की रश्मियों ने ही निविड़तम का भेदन किया था । सृष्टि के पूर्व केवल अंधकार का अभेद्य साम्राज्य था।[1] जिस प्रकार रवि-रश्मियों ने तिमिराच्छन्न वातावरण को आलोकित कर सृष्टि को नूतन रूप प्रदान किया, उसी प्रकार वैदिक ऋचाओं ने ज्ञान के शाश्वत आलोक से भारत को ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित किया। ऋषियों ने अपने को तपस्या के अनल में तपाकर शाश्वत प्रकाश-पुंज रूप इन ऋचाओं का साक्षात्कार किया था । इन ऋचाओं में भारतीयों की आत्मा समाहित है । बिना आत्मदर्शन के जागतिक पदार्थों का दर्शन व्यर्थ सिद्ध होता है । जब हम किसी वस्तु पर विचार करते हैं तो हम सर्वप्रथम 'वेद' के हिमालय से ही गंगा के उत्स का अन्वेषण करते हैं, क्योंकि इसी हिमालय में ज्ञान का अक्षय-भंडार अन्तर्निहित है ।

वेदों का इतना प्रभाव रहा है कि जब भी उससे हटकर कोई बात की गयी तो उसे लौकिक कहा गया । महर्षि पतञ्जलि अपने "महाभाष्य" में जब कोई अपनी बात कहना चाहते हैं तो इस प्रकार कहते हैं - 'जैसे लोक में यह बात सिद्ध है, उसी प्रकार वेद में भी ।'[2] महर्षि पतञ्जलि बार-बार (वेद से इतर) लोक का आश्रय लेते हैं । वे कहते हैं कि शब्द, अर्थ और उसका सम्बन्ध लोक प्रमाण से ही नित्य है ।[3] व्याकरण के प्रयोजन बताते समय उन्होंने अधिकांशतः ऋचाओं को ही उद्धृत कर यह बताने का प्रयास किया है कि किसी भी भाषा के तत्व को जानने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है । जब महर्षि पतञ्जलि जैसे विद्वान ने वेद के कल्पतरू की छाया में ही बैठकर अपनी बात कही है, तो मैं भी उसी पथ का आश्रय लेकर अपनी बात कहने का

नदी को पार कर जाती है,[4] उसी प्रकार ऋषियों का आश्रय लेकर मैं अपनी बात कहने का प्रयास करूँगी ।

'लोक संवेदना' - इस पद के निर्माण में दो शब्द 'लोक' और संवेदना हैं । इसीलिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम यह देखें कि 'लोक' का अर्थ क्या है ? 'लोक' शब्द का सबसे पहले प्रयोग 'ऋग्वेद' में मिलता है । परमपिता परमात्मा पुरूष ने जब सृष्टि की, तब सर्वप्रथम उन्होंने लोकों की रचना की । सर्वप्रथम 'ऋग्वेद' में हम लोक शब्द का अर्थ ''अन्तरिक्षादि लोक'' के रूप में प्राप्त करते हैं ।[5] सायण ने 'लोक' का अर्थ 'अन्तरिक्षादि लोक' किया है - ''अन्तरिक्षादीन् लोकान''।[6] ऋग्वेद में यह 'लोक' शब्द अधिकांशतः 'भुवन' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा कहीं-कहीं अन्य अर्थों मे भी प्रयुक्त मिलता है । वाणी के सम्वाद में ऋषि 'लोक' शब्द को 'कार्यक्षेत्र' के रूप में सीमित कर यह बताने का प्रयास करता है कि जितने भी प्राणी हैं, उनका अपना-अपना एक एक लोक है ।[7] आगे चलकर ऋषि जब ''लोक' शब्द की विवेचना करता है तो वह 'लोक' शब्द का अर्थ 'मार्ग' या 'पद्धति' के रूप में प्रयुक्त करता है । इसीलिए वह कह उठता है कि 'इन्द्र' ने मेघ से घिरे हुए जल के लिए 'लोक' अर्थात 'मार्ग' बनाया है ।[8] 'लोक' शब्द को जब ऋषि 'प्रकाश' अर्थ में प्रयुक्त करता है, तब यही प्रतीत होता है कि यह शब्द अपनी धातु के मूल अर्थ को प्रकाशित कर रहा है । लोक वही है जिसके द्वारा देखा जाता है अर्थात लोक 'आलोक' है । ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करता है कि तुम मेरे लिए विस्तृत प्रकाश वाला बनो ।[9] इसी तरह कुछ अन्य ऋचाओं में भी 'लोक' शब्द प्रकाश के लिए प्रयुक्त हुआ है ।[10] 'लोक' शब्द के विस्तृत आकाश को सीमित अर्थ में परिच्छन्न कर ऋषि वधू को पति के घर भेजते हुए कहता है कि अब तुम्हें मैं सत्कर्म के लोक में (अर्थात् सत्कर्म के क्षेत्र में) तुम्हारे पति के पास भेज रहा हूँ ।[11] वही ऋषि आगे

चलकर 'लोक' शब्द को 'घर' अर्थ में प्रयुक्त करता है ।[12] ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहता है कि हे इन्द्र ! संग्राम में मनुष्य के द्वारा रचित युद्धभूमि में आकर वृत्त का वध करो ।[13] यहाँ 'लोक' शब्द 'सामान्य मनुष्य' के अर्थ में प्रयुक्त है। इसी तरह एक अन्य ऋचा में ऋषि किसी विधवा को सम्बोधित करते हुए कह रहा है कि मरे हुए पति के पास क्यों विलाप कर रही हो? तुम्हारे समक्ष 'जीव लोक' अर्थात् 'साधारण मनुष्य' खड़े हैं ।[14]

इस प्रकार के अर्थों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद में 'लोक' शब्द व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होकर सम्पूर्ण लोकों में समाया हुआ है । वस्तुतः 'लोक' भुवन या संसार अर्थ को बताते हुए उसमें रहने वाले 'सामान्य जन' का ही द्योतक है ।

यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद में 'लोक' शब्द ऋग्वेद की ही भाँति अधिकांशतः 'भुवन' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पर कहीं-कहीं अन्य अर्थों के साथ 'सामान्य जन' के अर्थ में भी दृष्टिगत होता है। यजुर्वेद के तेरहवें अध्याय के ५८वें मन्त्र में महीधर 'प्रजा' शब्द की व्याख्या लोक शब्द से करते हैं।[15] इससे यह स्पष्ट होता है कि 'लोक' शब्द का अर्थ 'प्रजा' या 'सामान्य जन' है । अथर्ववेद की कुछ ऋचाओं में 'लोक' शब्द 'जन-सामान्य' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ऋषि कहता है कि उच्छिष्ट में लोक व्याप्त है । उसी में इन्द्र और अग्नि व्याप्त हैं । इन्द्र और अग्नि शब्द के साथ-साथ प्रयुक्त होने से 'लोक' शब्द का अर्थ 'मनुष्य' या 'साधारण जन' किया गया है क्योंकि ऋषि आगे कहता है कि इस उच्छिष्ट में विश्व व्याप्त है ।[16] इससे स्पष्ट है कि लोक शब्द यहाँ भुवन अर्थ में न होकर 'जन-साधारण' या 'मनुष्य' अर्थ में है । इसी तरह एक अन्य मन्त्र में भी लोक शब्द जन-सामान्य या मनुष्य अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । ऋषि कहता है कि 'लोक

इसको प्राप्त करता है।[17] लोक जड़ होने के कारण गमनशील नहीं हो सकता है। इसलिए (व्यंजना के आधार पर) लोक शब्द का अर्थ साधारण मनुष्यों से है।

ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'लोक' शब्द का प्रयोग 'स्थान विशेष' व 'जन-सामान्य' दोनों अर्थों में किया गया मिलता है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' की एक ऋचा में 'लोक' शब्द को स्थान विशेष या देवताओं के निवास-स्थान 'स्वर्ग' के लिए प्रयुक्त किया गया है।[18] 'शतपथ ब्राह्मण' में कहा गया है कि 'ये लोक सर्प हैं' तो यहाँ पर 'लोक' का अर्थ स्थान-विशेष से नहीं वरन् उन मनुष्यों से है 'जो पृथिवी पर सर्पण करते है।[19] इस प्रकार के अनेक उदाहरण ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं । ये उदाहरण सिद्ध करते है कि लोक शब्द स्थान-विशेष के लिए प्रयुक्त होने के साथ ही कहीं-कहीं 'मनुष्य' या 'सामान्य-जन' अर्थ में प्रयुक्त मिलते हैं। इसी तरह आरण्यक-ग्रन्थों में लोक शब्द विशेषतः स्थान-विशेष के अर्थ में प्रयुक्त होकर भी कहीं-कहीं अन्यार्थों की अभिव्यक्ति में सहायक बनते हैं। एक ऋचा में 'योगभूमि' के अर्थ मे लोक शब्द प्रयुक्त है।[20]

उपनिषद ग्रन्थों में तो 'लोक' शब्द स्थान-विशेष और 'जन सामान्य' के लिए समान रूप से प्रयुक्त है। 'वृहदारण्यक उपनिषद' में जब 'लोक' शब्द 'वैश्व' व 'शूद्र' अर्थ को बताने लगता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वस्तुतः 'लोक' शब्द उन 'सामान्य-जन' के लिए है जिनका समाज में उपेक्षित स्थान है।[21] 'कठोपनिषद्' में "लोक दुःखेन" का अर्थ 'लोगो के दुःख से' किया गया है।[22] इसी ऋचा की प्रथम पंक्ति में 'सर्व लोकस्य' शब्द आया है जो 'समस्त संसार'[23] के लिए है। अतः स्पष्ट है कि अन्य वैदिक ग्रन्थों की अपेक्षा उपनिषदों मे 'लोक' शब्द स्पष्टतया 'जन-सामान्य' अर्थ में अनेक स्थलों पर मिलता है। ज्यों-ज्यों वैदिक साहित्य का विकास होता गया, त्यों-त्यों शब्दों के अर्थो में कुछ विस्तार होता गया। आगे चलकर वैदिक साहित्य को देववाणी कहा जाने लगा और इसके समानान्तर जो भाषा लोक मे बोली जाती थी, उसे लैकिक संस्कृत की संज्ञा दी

गयी। निरूक्तकार यास्क जब वैदिक शब्दों के अर्थों की सार्थकता का प्रतिपादन करते है तो बार-बार लौकिक संस्कृत का उदाहरण देते है।[24] यास्क मुनि अत्यन्त दुःखी मन से यह कहते हैं कि मैनें इन वैदिक शब्दों का संग्रह इसलिए किया है ताकि जो साधारण जन है उन्हें भी वैदिक शब्दों का अर्थ-बोध हो जाय।[25] इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लौकिक संस्कृत और वैदिक संस्कृत के प्रयोग में एक विभाजक रेखा थी। संस्कृत नाटकों में जब हम दृष्टिपात करते है तो एक विशेष बात स्पष्ट होती है, वह यह कि लौकिक संस्कृत भी जन-सामान्य की भाषा नहीं थी। क्योंकि संस्कृत नाटकों के अधम और स्त्री पात्र संस्कृत में न बोलकर प्राकृत में ही अपना सम्वाद बोलते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' मे यह बात स्पष्ट है कि लौकिक संस्कृत भी विशेष वर्ग की भाषा थी, जन भाषा या लोक भाषा नहीं थी। हनुमान जी जब सीता के समक्ष उपस्थित होते है तो वह संस्कृत में नहीं बोलना चाहते, क्योंकि कहीं सीता हनुमान को रावण न समझ बैठे। इसीलिए हनुमान मानुषी-भाषा मे बोलते है,[26] जिसे अयोध्या की साधारण जनता बोलती है। कहने का आशय यह है कि जब लौकिक संस्कृत का विकास हुआ, उस समय जन-सामान्य में प्रचलित भाषा इससे पृथक् थी। अतः 'वाल्मीकि रामायण' मे "सर्वलोक प्रियंवदः"[27] (श्री रामचन्द्र सब लोगों में प्रिय वचन बोलने वाले थे) जैसे वाक्यों में प्रयुक्त लोक शब्द इन्हीं जन भाषा बोलने वाले लोगों का घोतक है।

व्याकरण के प्रकाण्ड ऋषि पतञ्जलि के "महाभाष्य" में 'लोक' शब्द जन साधारण के लिए प्रयुक्त है। "महाभाष्य" के प्रथम अध्याय में 'प्रयोगो सर्व लोकस्य' की व्याख्या करते हुए उद्योतकार ने कहा कि सर्व लोक का अर्थ 'व्याकरण अनभिज्ञ' है।[28] पतञ्जलि एक साधु शब्द 'गो' के लिए कई अपभ्रंश शब्दों- जैसे "गावी, गोणी, गोता, गोपतलिका"[29] का प्रयोग करते हैं। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि जन-भाषा एक स्थापित भाषा से व्यापक होती है तथा यह जनभाषा या लोकभाषा के रूप में अपनी

विशेषताओं को लेकर ही विशिष्ट लोगों की भाषा को चुनौती देती हुई जन-मानस को आन्दोलित करती रहती है। इसलिए जब साहित्य की सर्जना होती है तो लोक की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

महाभारत, पुराण तथा अन्य लौकिक संस्कृत के ग्रंथो में भी लोक शब्द 'स्थान-विशेष' व 'जन-साधारण' दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। "महाभारत" के एक श्लोक में कहा गया है कि अज्ञानान्धकार में 'लोक' अर्थात् सामान्य जन विकृत चेष्टाएँ कर रहे थे, किन्तु ज्ञानाञ्जन की शलाका से उनके ज्ञान-नेत्र खुल गये।[30] यहाँ 'लोक' शब्द स्पष्टतः 'सामान्य मनुष्य' के अर्थ को अभिव्यक्त करता है। "गीता" में कहा गया है कि श्रेष्ठ पुरूष जैसा आचरण करता है, संसार का साधारण मनुष्य भी वैसा ही आचरण करता है, जिस वस्तु को वह प्रमाण मानकर चलता है, संसार उसी का अनुसरण करता है।[31] यहाँ संसार जड़ होने के कारण उसमें रहने वाले जन का ही द्योतक है क्योंकि जड़ वस्तु अनुसरण नहीं करती। एक अन्य श्लोक में लोक शब्द तीनों लोकों (आकाश, पाताल व मर्त्त्य) के सन्दर्भ में प्रयुक्त है।[32]

महाकवि कालिदास ने 'लोक' शब्द को सामान्य जन या प्रजा-जन के अर्थ में प्रयुक्त किया है।[33] राम को लोक अर्थात् प्रजा-जन पिता के रूप में मानती थी। कालिदास ने स्थल-स्थल पर 'लोक' शब्द साधारण जन के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। भवभूति ने "उत्तर रामचरित" में राम के मुख से कहलवाया है कि पिता दशरथ ने प्रजा की सेवा (लोकाराधन) मुझ राम को व अपने प्राणों को छोड़ते हुए भी निश्चय रूप में की।[34] नैषधीयचरितम्,[35] कादम्बरी[36] आदि संस्कृत ग्रन्थों में 'लोक' शब्द 'सामान्य जन' के अर्थ को अभिव्यक्त करता है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से यदि हम विचार करें तो 'लोक' शब्द 'लोकृदर्शने' धातु व 'घञ्' प्रत्यय के द्वारा बनता है।[37] 'घञ्' प्रत्यय 'करण' और 'अधिकरण' अर्थ में लगता

है। यदि 'करण' व्युत्पत्ति से अर्थ करें तो अर्थ होगा- 'लोक्यते अनेन इतिलोक' अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय। तो यह संसार मनुष्यों के द्वारा देखा जाता है। अतः लोक का अर्थ 'मनुष्य' हुआ और 'अधिकरण' व्युत्पत्ति से अर्थ करने पर 'लोकते अस्मिन् इति लोक' अर्थात् जिसमें रहकर हम देखते है। इस अर्थ में 'संसार' या 'भुवन' अर्थ की सिद्धि होती है। 'अमरकोश' में भी 'लोक' शब्द 'भुवन' व 'जन' (मनुष्य) दोनों अर्थो में बताया गया है। "लोकस्तु भुवने जने"।[38] 'हैम' कोश भी इसी अर्थ का समर्थक है।[39] महावैयाकरण पाणिनि बड़े ही स्पष्ट शब्दों मे अलग-अलग 'लोक' और 'वेद' की चर्चा करते हैं। इनका 'लोक' शब्द स्पष्टतः वेद (ज्ञानी जनों) से इतर 'जन-सामान्य' अर्थ का द्योतक है। अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति बताते हुए उन्होनें कई स्थलों पर कहा है कि वेद में अमुक शब्द का अर्थ अलग है व लोक में अलगं। "लोक सर्व लोकाट्ठञ्"[40] सूत्र में पाणिनि ने लोक शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है। इनके अनुसार "लोके विदितः लौकिकः"[41] अर्थात् जो लोक में विदित हो वह लौकिक है। लोक में विदित का तात्पर्य है-जो लोक मे रहने वाले मनुष्यों के द्वारा ज्ञात हों। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'लोक' शब्द मनुष्य या जन-सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इन सारें तथ्यों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्पूर्ण संस्कृत - साहित्य में 'लोक' शब्द विविध अर्थो का वाहक होते हुए भी मुख्यतः तीन अर्थो में प्रयुक्त हुआ है- संसार, मनुष्य व सामान्य जन। वैदिक-संस्कृत के साहित्य में 'जन-सामान्य' अर्थ कुछेक स्थानों पर ही स्पष्ट रूप में मिलता है, पर लौकिक संस्कृत के साहित्य मे बहुधा 'लोक' का अर्थ 'जन-सामान्य' दृष्टिगत होता है। वस्तुतः जहाँ 'मनुष्य' अर्थ में 'लोक' शब्द प्रयुक्त है, वहाँ भी कुछेक स्थलों को छोड़कर गहराई से उन सन्दर्भो पर विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि वहाँ 'लोक' शब्द सम्पूर्ण मानव के लिए नहीं वरन् 'साधारण मनुष्यों' के लिए है।

हिन्दी साहित्य में प्रयुक्त 'लोक' शब्द के विविध अर्थ---

संस्कृत-साहित्य हिन्दी साहित्य की जननी है। अतः संस्कृत साहित्य के समग्र गुणों व रस से हिन्दी-साहित्य पल्लवित व पुष्पित हुआ है। जिस प्रकार संस्कृत-वाङ्.मय में 'लोक' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी 'लोक' शब्द अनेक अर्थों को अभिव्यक्त करता है । 'ज्ञान शब्द-कोश' में 'लोक' शब्द के अनेक अर्थ - १- विश्व का एक भाग, २- चौदह भुवन, ३- संसार, ४- पृथ्वी, ५- मानव जाति, ६- समाज, ७- प्रजा (पब्लिक), ८- सामान्य लोग, ६- जनता, १०- समूह, ११- भूभाग, १२- प्रान्त, १३- निवास स्थान, १४- दिशा, १५- सांसारिक व्यवहार दिये गये हैं।[42] जब यह 'लोक' शब्द समासगत हो जाता है, तब इसके अर्थ में विस्तार हो जाता है। 'लोकत्रय', 'लोकनाथ', 'लोकपाल', 'लोक-प्रसिद्ध' आदि समस्त पद में 'लोक' शब्द स्थान-विशेष का द्योतक है, किन्तु 'लोक-कण्टक' (सर्वसाधारण को सताने वाला), लोक कार्य (सर्वसाधारण से सम्बन्ध रखने वाला कार्य), लोक कथा (जन सामान्य में प्रचलित कथायें) लोक गीत (सर्वसाधारण में प्रचलित गीत), लोक-तन्त्र (वह शासन-प्रणाली जिसमें शासनाधिकार जन-प्रतिनिधियों के हाथ में हों), लोकप्रिय (जो सभी लोगों में प्रिय हो) आदि समस्त पदों में लोक शब्द 'साधारण जन' के अर्थ को अभिव्यक्त करता है।[43] अनेक अर्थो में प्रयुक्त लोक शब्द "हिन्दी साहित्य कोश" में साधारणतः (१) स्थान विशेष (जैसे- इहलोक, परलोक, त्रिलोक) और (२) जन-सामान्य- दो अर्थो में प्रयुक्त मिलता है। इन्हीं दोनों अर्थो में लोक शब्द हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ से लेकर अब तक प्रयुक्त मिलता है। जन सामान्य अर्थ को बताने वाला 'लोक' शब्द हिन्दी साहित्य में 'लोग' रूप में भी प्रयुक्त होने लगा है।[44]

आदिकालीन साहित्य में प्रमुख स्थान 'सिद्ध साहित्य', 'जैन साहित्य', 'नाथ साहित्य' तथा 'रासो साहित्य' का है। महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने अपने ग्रन्थ "हिन्दी

काव्यधारा" में आदिकालीन कवियों की रचनाओं का रूपान्तर कर उन्हें बोध गम्य बनाया है । सिद्ध कवि सरहपा ने 'लोक' शब्द को 'तीनों लोक[45] (स्वर्ग लोक मर्त्यलोक पाताल लोक), और भय लोक ।[46] (मनुष्यों का रहने का स्थान जहाँ उसे मृत्यु भय पीड़ित करता रहता है) के अर्थ में प्रयुक्त किया । ये अर्थ स्थान-विशेष को द्योतित करते हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने 'लोक' शब्द का अर्थ 'समुदाय' अर्थ में किया।[47] एक अन्य स्थल पर इनके द्वारा 'लोक' शब्द 'सांसारिक जीवन' को अभिव्यक्त करता है ।[48]

जब हम जैन साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि इस साहित्य में 'लोक' शब्द के पूर्व प्रचलित अर्थ ही प्राप्त होते हैं। देवसेन[49] और पुष्पदन्त[50] कवियों ने लोक शब्द का प्रयोग 'स्थान-विशेष के अर्थ में किया है । पुष्पदन्त के 'लोकपाल'[51] शब्द का 'लोक' शब्द जन सामान्य या प्रजा को द्योतित करता है ।

नाथ सम्प्रदाय के एक प्रमुख कवि गोरखनाथ ने एक स्थल पर 'लोकाचार'[52] शब्द का प्रयोग किया है । 'लोकाचार' का 'लोक' शब्द 'सामान्य-जन' के अर्थ को अभिव्यक्त करता है ।

भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का महान युग है । इस काल के अनेक कवियों की रचनाओं ने समाज को एक नयी दिशा प्रदान की । इन भक्त कवियों में कबीर की रचनाओं ने भारतीय दर्शन के रहस्य को अनोखे ढंग से प्रस्तुत किया है । लोक-जीवन की यर्थाथता को अभिव्यक्त करने वाले कवि कबीर ने लोक शब्द का प्रयोग तीनों लोकों के अर्थ में अधिकांशतः किया है,[53] तथा कहीं-कहीं 'लोक' शब्द 'जन-सामान्य' अर्थ का वाहक बना है । कबीर का कहना है कि प्रिय व्यक्ति के लिए जो आँसू टपकते हैं वही आँसू लोक = जन सामान्य के नेत्र से अन्य कारण से निकलते हैं।[54] इस उदाहरण में लोकशब्द 'जन-सामान्य' अर्थ को द्योतित करता है ।[55]

महाकवि सूर की रचनाओं में 'लोक' शब्द 'स्थान-विशेष' और 'जन-सामान्य' दोनो अर्थों में बहुतायत से मिलता है । एक स्थल पर सूर ने 'लोक कानि'[56] शब्द का प्रयोग किया है । 'लोक कानि' का अर्थ है - 'लोक-मर्यादा' । 'लोक-कानि' का 'लोक' शब्द जड संसार का वाचक नहीं है, वरन् लक्षणा से सामान्य-जनों के मध्य की मर्यादा को लक्षित कराता है । इसी प्रकार उन्होंने 'लोक-लाभ'[57] शब्द के द्वारा 'लोक' शब्द को 'जन- सामान्य' के अर्थ में प्रयुक्त किया है । उद्धव गोपियों से लोक-लाभ (जन-सामान्य के लाभ) की बात कर रहे हैं किन्तु गोपियों ने जन-सामान्य की कोटि से ऊपर उठकर श्रीकृष्ण के लिए अपना सब कुछ न्योछावर कर दिया है । उन्होंने लोक-मर्यादा (लोक-कानि) की तिलाञ्जलि देकर श्रीकृष्ण के जीवन के साथ तादात्म्य स्थापित कर लिया है ।

महाकवि तुलसीदास अनेक अर्थों में 'लोक' शब्द प्रयुक्त करते हैं तथा 'जन सामान्य' अर्थ मे 'लोक' शब्द के प्रयोग को महत्व देते हैं । बार-बार ये लोक और वेद की बात करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि जन-सामान्य (लोक) की भाषा और उनकी मान्यताएँ वैदिक (ज्ञानी जनों की) मान्यताओं से न्यून नहीं हैं ।[58]

तीनों लोक[59] (स्थान-विशेष) अर्थ में 'लोक' शब्द का बहुतायत प्रयोग करने वाले जायसी ने 'सामान्य-जन' के लिए 'लोक' शब्द को सम्मान दिया है ।

रीतिकालीन कवियों में घनानन्द, मतिराम और केशव आदि कवियों की रचनाएँ लोक जीवन से अधिक प्रभावित हैं । इनकी कविताओं में 'सामान्य-जनों' के लिए 'लोक' शब्द अनेक-बार प्रयुक्त है । जन-सामान्य के बीच रहने वाले कवि मतिराम अपनी नायिका को जन-सामान्य द्वारा प्रतिपादित-पथ से विचलित होते हुए कैसे देख सकते हैं ?[60] मतिराम की ही भाँति केशव ने 'लोक' शब्द के अनेक अर्थों में 'जन-सामान्य' अर्थ को अधिक महत्व दिया है ।[61]

आधुनिक युग हिन्दी साहित्य का विविधताओं से भरा युग है । इस नये युग का प्रारम्भ भारतेन्दु-हरिश्चन्द के काव्यक्षेत्र में पदार्पण से होता है । अपनी व्यंग्यपूर्ण रचनाओं के द्वारा उन्होंने भारतीय लोक-जीवन के यथार्थ व तत्कालीन अंग्रेज शासकों की क्रूरता को मुखर रूप प्रदान किया है । उन्होंने अपनी रचनाओं में 'लोक-मर्यादा', 'लोक-रीति' 'लोक लाज'[62] आदि समस्त-पदों के प्रयोग के द्वारा 'लोक' शब्द के जन-सामान्य अर्थ को वरीयता दी । भारतेन्दु की दृष्टि में 'लोक' ऐसे साधारण जन-समुदाय का द्योतक है, जो शास्त्र आदि से अनभिज्ञ है।[63] इनकी दृष्टि में 'लोक' और 'वेद' दो भिन्न प्रकार की मर्यादाएँ हैं । वस्तुतः वेदशास्त्र-मर्यादा का प्रतिपादक है और लोक अपनी प्राचीन अलिखित परम्पराओं का निर्वहन करने वाला जन समुदाय है । दोनों मार्ग का समान महत्व है।[64] 'प्रेमघन' के इष्टदेव असंख्य 'सामान्य जनों' के दुःखों को दूर करने में समर्थ हैं ।[65]

द्विवेदी युग के प्रमुख ब्रजभाषा कवि जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' द्वारा प्रयुक्त 'लोक' शब्द स्थान-विशेष—'तीनों लोक'[66] का वाचक है तथा कहीं-कहीं पर 'लोक' शब्द का लाक्षणिक प्रयोग कर इन्होंने 'साधारण प्रजा' को द्योतित किया है ।[67]

छायावाद-युग के कवि जयशंकर प्रसाद के काव्य में ऐतिहासिक व सम-सामयिक आवरण में लोक मंगल की भावना के स्वर प्रबल रूप में विद्यमान हैं । वे सर्वत्र लोक (सामान्य-जनों) के अक्षय सुख की कामना करते हैं।[68] सुख-दुःख के अनल में तपने के उपरान्त ही लोक (सामान्य जन) स्वर्ण-प्रतिमा बन सकता है।[69] इसीलिए प्रसाद ने लोक पथिक (जन सामान्य के पथ का) बनना स्वीकार किया।[70] सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' का जीवन लोक-जीवन का दुःखद किन्तु प्रतिष्ठित दर्पण है । वे लोक (साधारण जनों) की रीति का निर्वाह सहजता से करते हैं किन्तु जहाँ ये लोकरीतियाँ जनहित में बाधक बनती हैं वहाँ इन्हें तोड़ने से उत्पन्न भय उनके मन में नहीं है।[71] प्रकृति के अनन्य उपासक

सुमित्रानन्दन पन्त आजीवन अपनी लेखनी से लोक जीवन की व्यथा का मार्मिक चित्रण करते हैं।[72] पन्त करूणा लोक के प्रतिबिम्ब से लोक (सामान्य जनों के जीवन) को आलोकित करना चाहते है।[73]

हिन्दी साहित्य के प्रमुख आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'लोक' की कई अवधारणाओं को अभिव्यक्ति किया है। शुक्ल जी जब लोक-मंगल और लोक रंजन की बात करते हैं, तब वे कहते हैं कि मंगल का विधान करने वाले दो भाव होते हैं-करूणा और प्रेम।[74] उनकी दृष्टि में करूणा की गति रक्षात्मक होती है और प्रेम रञ्जनात्मक होता है। राम 'लोक' (साधारण जन-जटायु, शबरी, बाली से संतप्त गिरिवासी कपियों) की रक्षा करते हैं। इतना ही नहीं, साधरण जनों की बात रखने के लिए सीता का परित्याग कर देते हैं। लोक की रक्षा के कारण ही लोक मंगल कारक और लोक-रञ्जक राम मर्यादा पुरूषोत्तम कहलाए।

शुक्ल जी 'साधारणीकरण' सिद्धान्त की विवेचना करते हुए लोक-हृदय को प्रमुखता देते हैं।[75] वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि "सच्चा कवि वही है जिसे लोक हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच मनुष्य-जाति के सामान्य हृदय को देख सके।"[76]

'लोक' शब्द के अर्थ को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अत्यन्त स्पष्ट रूप में व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार - 'लोक' शब्द के अन्तर्गत वह जनता आती है, जो सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल व अकृत्रिम जीवन जीते हैं।[77] तुलसी को वे 'लोक नायक'[78] कहते हैं जो 'आम-जनता' के प्रिय हैं। स्पष्ट है कि उनका 'लोक' शब्द 'सामान्य जन' के अर्थ का वाहक है।

लोक और वेद का विभेद

सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्य 'वैदिक साहित्य' और लौकिक साहित्य'-इन दो रूपों में प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य के उपरान्त लौकिक-साहित्य का विकास हुआ। 'वैदिक साहित्य' और 'लौकिक साहित्य' की संरचना में बहुत भेद नहीं है, किन्तु दोनों में अन्तर है। महर्षिक पतञ्जलि के 'महाभाष्य' से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि लोक शब्द उन जनसमुदाय को द्योतित करता है जो वैदिक भाषा-नियमों का अध्ययन नहीं कर पाते थे। लौकिक संस्कृत कभी लोक-भाषा रही है जिसका प्रयोग मातृभाषा के रूप में साधारण जनता करती आ रही थी। इसलिए पतञ्जलि ने व्याकरण-अध्ययन की आवश्यकता के सम्बन्ध में कहा कि "जो लोग यह कहते हैं कि वेद के अध्ययन से हमने वैदिक शब्दों का और लौकिक शब्दों का ज्ञान कर लिया है, इसलिए व्याकरण क्यों पढ़े ?"[79] यह कथन स्पष्ट करता है कि उस समय वैदिक व लौकिक शब्दों में अलगाव था। पतञ्जलि ने 'वेद' और 'लोक' शब्द के अर्थों को स्पष्ट करते हुए कहा है कि लोक के उदाहरण लोक-प्रचलित नियम हैं। लोक-प्रचलित नियमों के अनुकूल चलने वाले लौकिक है और वेद प्रतिपादित नियम के अनुसार चलने वाले वैदिक है।[80] इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि पतञ्जलि के समय से पूर्व वेद और लोक की परम्परा चल पड़ी थी।

महाभारत में कृष्ण का यह कथन-"लोक और वेद में मैं पुरूषोत्तम रूप में प्रथित हूँ।[81] यहाँ लोक शब्द स्मृतिपरक है[82] और वेद शब्द श्रुतिपरक है। स्मृति अल्पश्रुतों की रचना है।[83] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'लोक' शब्द उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है जो अल्पज्ञ या 'सामान्य जन' है। 'लोक' शब्द को स्पष्ट करते हुए श्री कृष्ण ने[84] स्वयं कहा है कि श्रेष्ठ जनों के कर्मों को देखकर लोक = प्राकृतजन[85] (जन सामान्य) कर्मों को करता है। इन उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि लोक शब्द

प्राकृत जन = (सामान्य जनों) के लिए प्रयुक्त है। प्राकृत जन न वैदिक भाषा का प्रयोग करते थे न वैदिक नियमों के अनुसार ही कार्य करते थे। लौकिक संस्कृत के नाटकों को देखने से यही ज्ञात होता है कि समाज में सुशिक्षित और उच्चवर्गीय थे वे संस्कृत भाषा बोलते थे और जो अनपढ़, अकुलीन थे, वे प्राकृत भाषा में अपनी बात कहते थे। अतः स्पष्ट है कि ''भारतीय साहित्य में... परम्परा से लोक और वेद का विभेद विदित होता है। लोक परिपाटी और वेद परिपाटी जैसी दो पृथक परिपाटियाँ है।''[36] इसे और स्पष्ट करते हुए ''हिन्दी साहित्य कोश'' में कहा गया है कि ''लोक और वेद का पुराना अन्तर यह बताता था कि जो वेद में स्पष्टतः नहीं है वहं यदि लोक में हो अथवा जो वेद में है, उसके अतिरिक्त लोक में हो, वह लौकिक है। यहाँ साहित्य में लोक या लौकिक किसी अवहेलना अथवा उपेक्षा का भाव प्रकट नहीं कराता।..... यहाँ वैदिक से भिन्न शेष समस्त बातें लौकिक कहलायेंगी। बाल्मीकि की 'रामायण', कालिदास का 'शकुन्तला' नाटक, भारवि, माघ, भवभूति की रचनाएँ सभी लौकिक कोटि की होगी।''[37]

इस कथन से यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक संस्कृत के अतिरिक्त लौकिक संस्कृत की एक परम्परा थी, जो यह अभिव्यक्त करती है, कि वैदिक संस्कृत क्लिष्ट होने के कारण जन-सामान्य की भाषा नहीं रही। इसीलिए कवियों ने जन सामान्य की दृष्टि से लौकिक संस्कृत को आधार बनाकर रचना की।

'लोक' और 'जन' का सम्बन्ध -

प्रायः 'लोक' और 'जन' शब्द को पर्याय या समानार्थी माना जाता है और एक दूसरे के स्थान पर इसका प्रयोग किया जाता है। किन्तु इन दोनों शब्दों के अर्थों में अन्तर है। वस्तुतः ''जायते इति जनः''[38] इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ की दृष्टि से सभी उत्पन्न होने वाले को जन कहा जाता है। 'पृथ्वी सूक्त' में कहा गय है कि 'तुमसे उत्पन्न प्राणी तुम्हारे ऊपर जीवन बिताते हैं। पृथ्वी अनेक स्थानों पर विविध भाषाओं को बोलने वाले,

भिन्न-भिन्न धर्मो वाले जनों (सभी मनुष्यों) को घट के समान एक साथ धारण करती हुई एक स्थिर, दूर न भागने वाली गाय के समान धन की सहस्त्रों धाराओं को दुग्ध के रूप में दे।'[89] यह सूक्त जन के व्यापक अर्थ (पृथ्वी के सभी मनुष्यों) को द्योतित करता है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में 'जन' इसी अर्थ का वाहक है।[90] हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल मे 'जन' शब्द मनुष्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[91]

औद्योगिक क्षेत्र में 'जन' शब्द श्रमिकों का पर्याय बन गया है। इस दृष्टि से देखा जाय तो 'लोक' शब्द व्यापक अर्थ का वाहक है और जन सीमित अर्थ का। क्योंकि लोक की व्यापकता में ही जन निहित है। डॉ० नामवर सिंह की जन विषयक दृष्टि "जन साहित्य औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न समाज व्यवस्था की भूमिका में प्रवेश करने वाले 'सामान्य जन' का साहित्य है।"[92] यह स्पष्ट करती है कि वर्तमान समय में जन और लोक (सामान्य जन) एक दूसरे के पर्याय बन गये है।

लोक की अवधारणा

'लोक' शब्द के विभिन्न अर्थो की विवेचना के उपरान्त यह आवश्यक है कि 'लोक' की मूल अवधारणा को स्पष्ट किया जाय। जिस प्रकार 'ग्राम्य' शब्द उन पिछड़े लोगों के लिए प्रयुक्त किया जाता था, जो गाँवों में रहते थें, उसी प्रकार 'लोक' शब्द का अर्थ असाक्षर, असंस्कृत, सहज व अकृत्रिम जीवन जीने वाले लोगों का द्योतक बनता गया। धीरे-धीरे इस 'लोक' शब्द के अर्थ को व्यापकता मिलती गयी और इसकें अन्तर्गत सम्पूर्ण 'कृषक समाज' या 'ग्राम्य-समाज' के लोग आते गये और इसका आधार 'भौगोलिक' हो गया। इसी तरह 'सांस्कृतिक प्रवाह' के आधार पर लोक शब्द एक विशिष्ट मानसिक स्तर का द्योतक बन गया। इस प्रकार के लोगों के कार्य व व्यवहार में प्राचीन भारतीय संस्कृति जिसे 'लोक-संस्कृति' की संज्ञा दी गयी है- के तत्व समाहित है। इस लोक-संस्कृति की गंगा में विभिन्न प्राचीन संस्कृतियों की धाराएँ समाहित हैं। इन दूसरी

संस्कृतियों ने लोक संस्कृति की प्रभावित भले ही किया हो किन्तु उसके मूल-रूप को परिवर्तित नहीं कर पायीं। अपने को अभिजात्य कहने वाले लोग भी लोक-संस्कृति से प्रभावित हैं किन्तु उनका अन्तर्निहित अहंकार उन्हें उस संस्कृति में घुलने नही देता है। नगरों में रहने वाला ग्रामीण श्रमिक-वर्ग जहाँ अपनी लोक संस्कृति में ही आनन्द का अनुभव करता है, वहीं दूसरी ओर ग्रामीण बुद्धिजीवी नगरों में आकर आधुनिकता के आडम्बर मे फँस कर भले ही उसे भूलने का ढोंग करते हों, पर क्या कभी वे इसे भूल पाते हैं ?

वस्तुतः 'लोक' शब्द उस मानव-समूह का बोध कराता है जो आदिम समाजों, ग्रामीण समाजों तथा नागरिक समाजों में एक समान रूप से निवास करने वाला कोई भी मानव समूह हो सकता है । इस प्रकार के मानव-समूहों पर परिष्कृत रूचि वाले व्यक्तियों का अथवा समाज के अभिजात्य वर्ग की विशेषताओं का कम ही प्रभाव पड़ता हैं ।"[13] दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि लोक से तात्पर्य उस मानसिक वृत्ति से है जो प्राचीन काल से लेकर आज तक जन-जन में अपने 'सहज' व 'अकृत्रिम' रूप में विद्यमान है। यह 'मानसिक-वृत्ति' 'भारतीय-संस्कृति' के मूल को अपने अन्दर समाहित किये हुए है ।

लोक की परिभाषा - (विद्वानों के अनुसार)

हिन्दी साहित्य के विविध विद्वानों ने लोक शब्द को अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है । डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद या ग्राम्य' नहीं वरन् नगरों और गाँवों में फैली वह समस्त जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है । नगर में परिष्कृत रूचि-सम्पन्न तथा सुसंकृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यासी होते हैं तथा परिष्कृत

रूचि-सम्पन्न व्यक्तियों की विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने वाली आवश्यक वस्तुएँ उत्पन्न करते हैं ।"[94] स्पष्ट है कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के मत में 'लोक' शब्द उस समस्त जनता के लिए प्रयुक्त हुआ है जो न किसी निश्चित भू-भाग से बँधी है और न किसी ग्रन्थों पर आधारित ज्ञान से, वरन् उसका व्यावहारिक ज्ञान परम्पराओं पर आधारित है । शहरी 'आधुनिकता' से दूर यह जनता अत्यन्त सरल, सहज, निष्कपट व संवेदनशील जीवन जीती है ।

डॉ० सत्येन्द्र की दृष्टि में - 'लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पाण्डित्य की चेतना के अहङ्कार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है ।[95]

डॉ० सत्येन्द्र की यह परिभाषा अपने आप में पूर्ण है, जिसका सार यह है कि 'लोक' शब्द उस मनुष्य वर्ग को द्योतित करता है, जो परम्परा के प्रवाह में जी रहा है जिसमें शास्त्रीयता व पाण्डित्य की चेतना तो मिल सकती है पर इससे उत्पन्न अहङ्कार से वह शून्य है ।

श्याम परमार के अनुसार -

'लोक' साधारण जन समाज है, जिसमें भू-भाग पर फैले हुए समस्त प्रकार के मानव सम्मिलित हैं । यह शब्द वर्ग-भेद रहित, व्यापक एवं प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठराशि सहित अर्वाचीन सभ्यता संस्कृति के कल्याणमय विवेचन का द्योतक है । भारतीय समाज में नागरिक एवं ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्रायः उल्लेख किया जाता है, किन्तु 'लोक' दोनों संस्कृतियों मे विद्यमान है । वही समाज का गतिशील अंग है ।[96]

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० सत्येन्द्र व डॉ० श्याम परमार की परिभाषाएँ 'कहने के ढंग' के कारण भले ही अलग-अलग प्रतीत हो लेकिन गहराई से समझने पर

स्पष्ट होता है कि इनके दृष्टिकोण समान है। ये परिभाषायें 'लोक' को अत्यन्त सहज ढंग से स्पष्ट करती है।

वास्तव में लोक शब्द के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं, जिनका सम्बन्ध गाँव-शहर, पांडित्य-अपांडित्य, निरक्षरता-साक्षरता, से नहीं वरन् उनमें व्याप्त उस सहज जीवन शैली से है जो हमारी भारतीय संस्कृति को उजागर करती है। जिसे वह परम्परा से अपनाते चले आ रहे हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'लोक' शिष्ट कहे जाने वाले वर्ग से इतना मिला हुआ है कि उसे दूध और पानी की तरह अलग करके देखना कठिन है।

लोक के साथ जुड़ने वाले शब्द और संवेदना -

'लोक' शब्द का अपना महत्व है। जब यह शब्द समस्त पद (किसी अन्य शब्द के साथ समास) को प्राप्त करता है तो इसका अर्थ अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है। लोकगीत, लोककथा, लोकगाथा, लोकवार्ता, लोक साहित्य और लोक-नाट्य आदि समस्त-पद के उत्तरवर्ती शब्द साहित्य की विभिन्न विधाएँ हैं। लोक के साथ समस्त पद होकर ये साहित्यिक विधायें लोक से सम्बन्धित जीवन की सम्पूर्ण भावनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। लोक-मङ्गल, लोक-धर्म, लोकापाद, लोक-व्यवहार, लोक-चेतना, लोक-मानस, लोक-परम्परा, लोक-प्रतिभा, लोक-प्रवाह और लोक-संवेदना आदि समस्त पदों में लोक शब्द सामान्य-जन का अभिधायक है।

साहित्य में 'लाके-संवेदना' शब्द विशेष महत्व का है क्योंकि साहित्य की आत्मा संवेदनाओं में ही निवास करती है। लोक-संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य कालजयी होता है। संवेदनाओं से शून्य साहित्य केवल चित्र सा रमणीय लगता है। किसी भी साहित्य का सर्जन व रसास्वादन संवेदनाओं के माध्यम से ही होता है। अतः प्रश्न उठता है कि 'संवेदना क्या है ?'

संवेदना :-

संवेदना विशुद्ध ऐन्द्रिय संवेदना नहीं है । ऐन्द्रिय संवेदना बाह्य यथार्थ के ऐन्द्रिय प्रभावों को ग्रहण करती है । इसके बाद में ऐन्द्रिय प्रभाव आन्तरिक यथार्थ के अनुभव में घुल-मिल जाते हैं । तत्पश्चात् जो सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि या भावदृष्टि उत्पन्न होती है । उसे संवेदना कहा गया है ।

'संवेदना' में 'विद्' धातु और 'सम्' उपसर्ग है, जिसका अर्थ है- 'सम्यक् वेदन' । सम्यक-वेदन से तात्पर्य है जब बाह्य पदार्थ का ऐन्द्रिय बोध हो तब चित्त स्वाभाविक रूप से तदाकार हो । चित्त का तदाकारित होना दो प्रकार से सम्भव है । एक तो प्रथम दृष्ट पदार्थ के साथ तदाकारिता होगी और द्वितीय अनुभव के आधार पर आन्तरिक यथार्थता के अनुसार तदाकारिता होगी । प्रथम रूप में संवेदन की ग्रहणशीलता यत्किञ्चिद् मात्र ही होगी, द्वितीय रूप की ग्रहणशीलता में सूक्ष्म अन्तर्बोध होगा क्योंकि वासना बाह्य-पदार्थ को आत्मसात कर संवेदना का रूप धारण कर लेती है ।

वस्तुतः संवेदना ऐन्द्रिय प्रभावों को अतिक्रान्त कर यथार्थ अनुभव को आत्मसात कर-भावों के आस्वादन या विलय के चित्र का अवसर प्रदान करती है । वस्तुतः वस्तु की संवेदना में चार प्रक्रियाओं की आवश्यकता पड़ती है । प्रथमतः ऐन्द्रिय होने पर वस्तु का आलोचनमात्र होता है । उसी वस्तु का आलोचन सफल होता है जिसका अनुभव हो चुका है । अननुभूत वस्तु से ऐन्द्रिय सम्बन्ध होने पर होने वाले आलोचन के उपरान्त संकल्प-विकल्प की स्थिति उत्पन्न नहीं होती है । अनुभूत विषय के आलोचन के उपरान्त मानसिक-प्रक्रिया के द्वारा आलोचित विषय के प्रति संकल्पात्मक-विकल्पात्मक प्रत्यय का उदय होता है, तत्पश्चात् संकल्पित (ज्ञान) प्रत्यय का अभिमानात्मक स्वरूप उपस्थित होता है । इसके बाद सात्त्विक बुद्धि के द्वारा अध्यवसित विषय का रसास्वादन आत्मतत्त्व करता है । बिना सत्त्व के उद्रेक के आत्मा को विषय का संवेदन नहीं होता है । संवेदना

की स्थिति में आत्मा के दर्पण में विषय का पूर्ण प्रतिबिम्ब ही नहीं उभरता वरन् आत्मा और विषय की एकाकारता हो जाती है । ऐसी स्थिति में वेद्यान्तर-शून्यता तथा स्व-पर-ज्ञान का विलयन हो जाता है । संवेदना की वास्तविक स्थ्सति में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की एकाकारता हो जाती है । यह स्थिति भावुक या सहृदय की ही हो सकती है । इसी स्थिति में कवि या कलाकार रचना की ओर प्रवृत्त होती है ।

वस्तुत संवेदना (वेदन की सम = समतावस्था) वेदन = ज्ञान की समतावस्था है। ऐन्द्रिय ज्ञान चाहे गंध-संवेदना हो या रूप संवेदना अथवा स्पर्श या श्रवण संवेदना हों- ऐन्द्रिय होने पर उसकी वास्तविकता का पूर्ण बोध नहीं हो सकेगा, केवल किञ्चिद् ज्ञान मात्र ही हो सकेगा। जब तक ऐन्द्रिय बोध का सम्पूर्ण प्रतिफल आत्मा में न हो अर्थात् आत्मा में ऐन्द्रिय बोध समाविष्ट न हो जाय, संवेदना नहीं हो सकती है। इसीलिए संवेदना वेदन = ज्ञान की समतावस्था है। इस ज्ञान की समतावस्था में बोद्धा का अस्तित्व विलीन हो जाता है। यह विलयन उसकी भावुकता तथा संवेद्य वस्तु पर निर्भर करता है। कुछ लोग समुद्दीपकों से कम ही प्रभावित होते हैं और कुछ उद्दीपन मात्र से ही भावुक हो जाते है। जो जितना भावुक होगा, वह उतना ही संवेदनशील होगा।

संवेदना का 'सम' शब्द सोऽहम् का प्रत्याहार रूप है। 'सः अहम्' दो पदों के पूर्व पद 'स' और उत्तर पद के 'म' से सम् पद निर्मित होता है जिसका अर्थ होता है 'वह' 'मैं' हूँ। इस संवेदना का अर्थ होता है 'वह मैं हूँ' का 'ज्ञान होना'। 'वह' पद दृश्य या संवेद्य पदार्थ का द्योतक है। यह संवेद्य जब तक 'अहम्' 'मैं' के रूप में परिवर्तित नहीं हो जाता तब तक संवेदना नहीं हो सकती है। 'मैं' पद आत्मा का द्योतक है। संवेद्य का आत्माकार में परिवर्तित हो जाना ही संवेदना है। जैसे- अरूणिम पुष्प स्फटिक में प्रतिबिम्बत होकर स्फटिक को अरूणिम बनाता हुआ वह स्फटिक के आकार के रूप में परिवर्तित हो जाता है उसी प्रकार विषय आत्मा में प्रतिबिम्बत होकर आत्माकार हो जाता

है।[57] इन तथ्यों की विवेचना से यह कहा जा सकता है कि 'संवेदना' व्यक्ति के चित्त या मन की वह दशा है जहॉं ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त किसी के सुखात्मक-दुःखात्मक भाव में चेतना या आत्मा के विलीन हो जाने से उसका प्रथक् अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

यद्यपि सभी संवेदनाएँ विषय और ज्ञानेन्द्रिय सापेक्ष हैं किन्तु इन सबका पर्यवसान चित्त (मन्) में ही होने के कारण संवेदनाओं का चित्तात्मक होना सिद्ध होता है। चित्त सुखात्मक दुखात्मक और मोहात्मक होता है। कोई भी संवेदना तटस्थात्मक नहीं हो सकती है। संसार में चार प्रकार के प्राणी- सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और अपुण्यात्मा होतें है। सुखी के प्रति मैत्री भाव रखना चाहिए, किन्तु बहुत से लोग सुखी के प्रति ईर्ष्या रखते है। दुःखी के प्रति सज्जन के मन में करूणा उत्पन्न होती है तथा दुष्टों के मन में हर्ष उत्पन्न होता है। पुण्यात्मा को देखकर सज्जन मुदित होते हैं और अपुण्यात्माओं की उपेक्षा करते हैं।

लोक-जीवन में उपर्युक्त सभी प्रकार के भाव देखे जाते हैं। कवि इन सभी भावों का मर्मस्पर्शी चित्रण अपनी कविता में करता है। कुशल कवि स्वाभाविक वर्णन को चित्ताकर्षक बना देता है। उसकी लेखनी स्वाभाविक पाषाण-खण्ड को रत्न बना देती है जिसकी चमक चिरस्थायी रहती है।

सुखात्मक- संवेदनाओं की अभिलाषा सभी प्राणी में रहती है। विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख से प्रेम और दुःख से घृणा करता है। सुख-दुःख न विषयगत ही है और न आत्मगत । एक वस्तु किसी के लिए भले ही सुखात्मक हो किन्तु दूसरों के लिए दुःखात्मक होती है तथा तीसरे के लिए मोहात्मक भी हो सकती है। इसलिए सुख-दुःख उभयात्मक है। साहित्य अपने कलात्मक सौन्दर्य से आनन्द प्रदान करता है चाहे वह दुःखात्मक ही क्यों न हो क्योंकि साहित्यिक संवेदनाओं की चर्वणा आनन्द मे ही समाप्त होती है ।

सुखात्मक संवेदनाए लौकिक दृष्टि से सुखमूलक हैं। जिन वस्तुओं की सम्प्राति से अन्तःकरण आह्लादित होता है अर्थात् चित्त का विकास हो जाता है अथवा चित्त विश्रान्त हो जाता है वे वस्तुऍ सुखात्मक संवेदनाओं के कारण होते है। चित्त की विश्रान्ति ही सुख है और अविश्रान्ति दुःख है। श्रृंगार, धन-धान्य, प्रिय आदि की प्राप्ति का वर्णन पाठक को ऐन्द्रिय सुख प्रदान करता है। हास-परिहास, वसन्त, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि के वर्णन से चित्त प्रमुदित हो जाता है। इसलिए इनकी संवेदनाएं सुखात्मक होती है।

दुःखात्मक संवेदनाओं मे चित्त संकुचित हो जाता है। दुःखात्मक संवेदनाओं का साहित्य में अधिक महत्व है।

वाल्मीकि की करूणा ही श्लोक रूप में परिणीत हुई थी। दुःखात्मक संवेदनाएँ लोक-जीवन का अंग बनती जा रही है। इसका भुक्तभोगी कवि ही इनकी संवेदना को समझ सकता है। इस प्रकार के जनों की श्वॉसों में निरन्तर अग्नि-ज्वाला धधकती रहती है जिसकी उष्मा में वह निरन्तर तपता हुआ अपनी जीवन यात्रा को पूरा करता है। दुःखात्मक संवेदनाएं प्रिय का आत्यन्तिक वियोग, धन का विनाश, अकाल और दुर्घटनाओं की विभीषिका, शोषकों के आंतक आदि सामाजिक अपराधों की उर्वर भूमि में जन्म लेकर सहृदय को करूणार्द्र बनाती हैं।

मोहात्मक संवेदनाएँ तमोगुण प्रधान होती है। शोषकों के अत्याचार घृणा और क्रोध को जन्म देते हैं। लोक जीवन में ऐसे लोगों को बहुतायत देखा जाता है, जो मोह ग्रस्त होकर या तो अकर्मण्य हो जाते हैं अथवा अनैतिक आचरण को जीवन का अंग बना लेते हैं। उनके क्रियाकलाप अमानवीय होते है किन्तु वे उसी पङ्क में फँसकर ही सुख का अन्वेषण करते रहते है। ऐसे व्यक्तियों के जीवन से सम्बन्धित रचनाएँ मोहात्मक-संवेदनाओं को जन्म देती है।

संवेदनाएं साहित्य को जन्म देती हैं और साहित्य में संवेदनाएँ समाहित रहती हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो संवेदना ही साहित्य है और साहित्य ही संवेदना हैं। साहित्य के शब्द केवल शब्द नहीं होतें हैं वरन् उसमें प्रवाहित संवेदनाओं के कारण ही उनका महत्व है। साहित्य के शब्द यदि संवेदनात्मक अर्थों के रूप में अपने को परिवर्तित नहीं कर पाते तो वे शब्द केवल झंकार-मात्र बनकर रह जाते हैं। संवेदनाओं के माध्यम से कवि या साहित्यकार समाज, प्रकृति व मानव जीवन की विविधताओं को अपने मन-मस्तिष्क व हृदय-सिन्धु में अंकित करता है, पुनः लेखनी से अजस्र प्रवाहित होने वाले विविध प्रकार के मनोरम रंगो से उन भावों को नूतन व मर्मस्पर्शी रूप प्रदान करता है।

साहित्य में लोक-संवेदनाओं का महत्व

'लोक-संवेदना' का अर्थ है "लोक-जीवन की संवेदना।" आचार्य भरत ने "नाट्यशास्त्र" में बताया है कि नाट्य लोकवृत्त = लोक व्यवहार का अनुकरण करने वाला है जिसमें अनेक प्रकार के भावों तथा विभिन्न अवस्थाओं का समन्वय रहता है।[98] इस नाट्य मे सम्पूर्ण ज्ञान, शिल्प, विधा, कला और योग का समावेश रहता है।[99] इनकी दृष्टि में नाट्य दुःखार्त, क्षमार्त तथा शोकार्त जनों को विश्रन्ति = सुख (आनन्द) प्रदान करने वाला है।[100] भरत-मुनि का उपर्युक्त कथन यह सिद्ध करता है कि उत्तम काव्य लोक-जीवन (जन-साधारण) के व्यवहारों का मार्मिक चित्रण करने वाला होता है। समाज में श्रमार्त, दुःखार्त और शोकार्तो का बाहुल्य है। ये जनसाधारण अपनी जीवनवृत्तियों को काव्य में पाकर शीघ्रातिशीघ्र साधारणीकरण की अवस्था को प्राप्त हो जाते है। इसीलिए उन्हें आनन्द की प्राप्ति होती है। वस्तुतः सुख और दुःख से मिश्रित लोक-व्यवहार जब अभिनय अथवा काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है तभी लोक में विनोद जनक सिद्ध होता है।[101]

कवि जिस स्वभाव का होता है, उसकी कविता भी उसी प्रकार की होती है। जो कवि लोक जीवन की संवेदनाओं के रंगों से अपनी रचनाओं को चित्रित करता है, उसकी रचना अत्यधिक प्रभावशालिनी होती है। वही कवि सफल है जो अपनी अनुभूतियों को उसी रूप में प्रेक्षक तक पहुँचा सके। 'काव्य का ध्येय यह कदापि नही है कि जो वस्तु एक हृदय में घटित होती है उसका प्रेषण करके दूसरों के लिए उसे बोधगम्य बना दिया जाय, वरन् इसका काम है दूसरे व्यक्ति में भी ऐसी मनोदशा की उत्पत्ति कराना जो कि कवि की उस मनोदशा के अनुकूल हो, जो अभिव्यक्ति द्वारा बहिर्मुख हो जाती है।[102]

यह स्थिति तभी सम्भव होती है जब कवि लोक-जीवन के मार्मिक भावों को अपनी कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। लोक जीवन को प्रत्यक्ष करने वाला कवि सभी वस्तुओं को प्रत्यक्ष कर लेता है। कवि की वास्तविक अनुभूतियॉ ही कलात्मक भावों का रूप धारण करती है, जिसका परिणाम यह होता है कि कवि स्वयं जिस भावों का सूक्ष्मता से भोग करता है इसी भावों के तल तक पाठक को पहुँचाने में सफल होता है।

कवि-प्रतिभा की सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है कि उसकी कृतियों में लोक जीवन की संवेदनाओं का कितना व्यापक्तव अथवा वैविध्य मौलिक रूप में प्रभावी ढंग से उपस्थित किया गया है।

लोक-संवेदनाएं मूलतः जन-साधारण के सुख-दुःख की गहरी अनुभूति कराती हैं। लोक-साहित्य में लोक-संवेदनाओं का जो रूप दिखाई पड़ता है, उतना सजग और सहज रूप उन कवियों के काव्य में नही प्राप्त होता जो लोक-प्रतिबद्ध होने का दंभ भरते हैं। वस्तुतः लोक साहित्य साधारण दुःखी जनों का स्वयं का भोगा हुआ साहित्य है, उसमें किसी तरह की कृत्रिमता नहीं रहती क्योंकि उसका प्रवाह हृदय से होता है। इसमें बौद्धिकता का विलास नहीं रहता है। कुछ प्रतिवद्ध कवि लोक पीड़ा को मार्मिक रूप में व्यक्त करने

में सफल सिद्ध हुए हैं परन्तु अनेक कवियों में केवल लोक जीवन का बाह्य स्पर्श मात्र ही दिखाई पड़ता है। लोक संवेदनाओं का सच्चा रूप-उन किसानों के श्रम की बूँदों में, जो गेहूँ और धान की बालियों में परिणत होकर बाजारों में पानी के भाव बिकते हैं-उन श्रमिकों की हड्डियों में, जो कारखानों की आग में पिघलती रहती है-उन श्रमिक युवतियों के फटेहाल-यौवन में, जिसे पेट की आग बुझाने के लिए क्या-क्या नहीं करना पड़ता-उन दीन-हीन बालकों की पीड़ा में, जो प्लेटफार्मो पर फटे दोना को लूटने के लिए आपस में लड़ते रहते हैं, होटलों में दो वक्त की रोटी प्राप्त करने के लिए दिन-रात श्रम किया करते हैं तथा बँधुआ मजदूर की जिन्दगी जीने के लिए विवश रहते हैं -भूख की ज्वाला में पुत्र-पुत्रियों से घिरी हुई उन महिलाओं के दर्द में, जिनके पति अपने प्राण हथेली पर लेकर घर से बहुत दूर कुछ कमाने गये हैं, एवं मेहनतकश श्रमिक स्त्रियों के असहनीय परिश्रम, जो क्षुधानल में जलती हुई भी खेतों में धान रोपती हुई गाती रहती है, जिनके जीवन का शैशव जाड़ों की शीत-भरी रात में पुआलों में तथा यौवन गर्मी की दोपहर में खेत-खलिहानों में तथा वृद्धावस्था सड़क के पड़े ढेले की भाँति बीतता है - दिखाई पड़ता है।

लोक-संवेदना वस्तुतः जीवन के उस अन्तःकरण की अभिव्यक्ति है जिसमें सहजता, सरसता, सिसृक्षा, जिजीविषा और दुर्धर्ष बाधाओं से संघर्ष करने की प्रबल अभिलाषा रहती है। जिसके द्वारा मानव हारकर भी विजय की अभिलाषा ही नहीं करता वरन् सन्नद्ध होकर विकराल काल से युद्ध कर प्रलय को सृजन में परिवर्तित करता रहता है।

साहित्य की विशालता लोक-परम्परा से प्राप्त रीति-रिवाज, आचार-विचार, संस्कारों एवं संस्कृति का अनुपालन विविध प्रकार के अविश्वसनीय लगने वाले क्रिया-कलापों पर

विश्वास, शकुन अपशकुन, व्रत-त्योहारों के प्रति देवमूलक आस्था आदि क्रिया-कलापों के सूक्ष्म-निरीक्षण का प्रतिफलन है। साहित्यकारों ने लोकजीवन के उफनते हुए समुद्र को केवल दूर से ही नहीं देखा, वरन् उसमें डूबकर उसके खारेपन के साथ ही उसके लावण्यमय रूप का आस्वादन करते हुए उसके हृदय तल के रत्नों को निकालकर उन रत्नों से अपनी कविता-कामिनी को सॅवारा।

विश्व का सम्पूर्ण साहित्य सुखात्मक, दुःखात्मक तथा मोहात्मक संवेदनाओं की विवेचना करता है। उनके पात्रों मे वैशिष्ट्य भले ही हो, लेकिन संवेदनाओं में अन्तर नहीं है। यह बात दूसरी है कि अभिजात्य साहित्य में भौतिक-विलास तथा बौद्धिक क्रीड़ा का समावेश अधिक होने से लोक-साहित्य की भॉति हृदय की सहजता व सरसता कम दिखाई पड़ती है, पर लोक-संवेदनाओं से वह शून्य नहीं है। शिष्ट साहित्य का दीपक भी लोक-संवेदनाओं की स्नेहिल वर्तिका के प्रकाश से अन्धकार का भेदन करता रहा है। वस्तुतः साहित्य और लोक का सम्बन्ध गत्यात्मक और इतना अन्तरंग है कि विद्यमान रहने पर भी सतत मुखर नहीं होता है।

लोक-संवेदनाओं के माध्यम से ही साहित्य मे भारतीय संस्कृति में व्याप्त धार्मिक, सहिष्णुता, नैतिकता, समन्वय, समानता व विश्ववन्धुत्व जैसी भावनाओं का समावेश हुआ है। यह भारतीय संस्कृति भारत में रहने वाले हर भारतीय के संस्कारों में चेतन या अचेतन रूप में रची-बसी है जिसका आलोक कविताओं में उतर कर जन-जन को आप्लावित करता रहता है। रामायण और महाभारत की कथाओं ने भारतीय जन-मानस को अत्यधिक प्रभावित किया। फलतः लोक-गीतों में राम व कृष्ण से सम्बन्धित कथाओं का बाहुल्य देखा जा सकता है। इन महापुरूषों से सम्बन्धित गीतों को जन्म, मुण्डन, विवाहादि संस्कारो मे गाया भी जाता है। लोक गीतों की श्रुति-परम्परा वैदिक साहित्य के उदात्तत्व को उपस्थित करती है। जिस प्रकार किसी बात की प्रमाणिकता के लिए हम

वैदिक साहित्य के शब्दार्थों में डूब जाते है उसी प्रकार श्रुति-परम्परा को आज भी स्थिर रखने वाले लोक-गीतों की संवेदनाएँ साहित्य के लिए उपजीव्य है।

जो कवि लोक-हृदय में पूर्ण रूप से समाया रहता है, उसी की कविता सरसता, सहजता को बिखेरती व काल-सीमा के बन्धनों को तोड़ती हुई वैश्वीकरण को प्राप्त होती है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है किन्तु लोक-हृदय की अन्तर्भूमियों में कुछ ऐसी समानता होती है जो भिन्न-भिन्न देश, संस्कृति और जाति के मनुष्यों को एक ही क्षण में अपने में विलीन कर देती है। इसीलिए किसी एक देश-काल का साहित्य पूरे विश्व में प्रतिष्ठित हो जाता है।

मार्क्स ने कला के सम्बन्ध में कहा है कि- कला जनोपयोगी होनी चाहिए और उसके द्वारा समाज के दलित वर्गो की मूक वेदनाओं, भावनाओं तथा आशाओं एवं निराशाओं की अभिव्यंजना होनी चाहिए। अतीत की कला महलों में पली थी धनिक सत्ताधरियों के आमोद-प्रमोद का साधन बनी रही, परन्तु अब उसे जन-साधारण के सुख-दु:ख, हास्य तथा अश्रुपात में भाग लेना पड़ेगा और इसी में उसकी सार्थकता निहित है।[103] कला के प्रति मार्क्स का यह दृष्टिकोण काव्य मे लोक-संवेदनाओं की अनिवार्यता प्रकट करता है।

लोक-संवेदनाओं में विश्वबन्धुत्व का भाव, पड़ोसी तथा समाज के प्रति प्रेम, मानव के प्रति प्रेम और श्रद्धा तथा एक दूसरे के हित के लिए आत्म-बलिदान की भावना निहित है। अतः साहित्य में इन संवेदनाओं की उपादेयता स्वयं सिद्ध है।

लोक-संवेदानाओं से तादात्म्य रखने वाला कवि अहं की चहारदीवारी से बाहर निकलकर समाज व जीवन के गूढ़ यथार्थ-सत्यों से साक्षात्कार कर उनमें व्याप्त विसंगतियों, विषमताओं व विडम्बनाओं के मूल कारणों को खोजकर अपनी कविता के माध्यम से उन्हें जग-जाहिर करता हुआ उनके खिलाफ जनमत तैयार करने में योग देता

है, ताकि समाज में सत्य, न्याय, प्रेम,. नैतिकता, सहिष्णुता, समानता आदि मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा हो सके। अतः कहा जा सकता है कि लोक-संवेदनाओं से परिपूर्ण साहित्य समाज को नैतिक व मानवीय आधार पर सुदृढ़ करने में महत्वपूर्ण योगदान देता है।

इस वैज्ञानिक युग के बढ़ते प्रभाव ने जहाँ विश्व की दूरी कम कर दी है, वहीं मनुष्य से मनुष्य की दूरी को बढ़ाया है। आज मनुष्य भौतिक विकास की लालसा में मनुष्यता की तिलाञ्जलि दे रहा है। ऐसी भयावह स्थिति में लोक-संवेदनाओं से संवलित साहित्य मानव का हित चिन्तक है। सभ्यता और भौतिकता की वृद्धि में मानव की हृदयगत कोमल भावनाओं पर प्रहार किया जिसके परिणाम स्वरूप साहित्य में अत्यधिक बौद्धिकता दिखाई पड़ती है। बौद्धिक-साहित्य अनिष्टकारी तो नही है पर लोक में उनकी पकड़ बिल्कुल न होने से उसका मूल्य आम जनता की दृष्टि से नगण्य है। स्पष्ट है कि भौतिकता के बढ़ते प्रभाव से साहित्य को लोक-संवेदनाएँ ही बचा सकती हैं क्योंकि इन लोक-संवेदनाओं में ही भारतीय सांस्कृतिक मूल्य समाहित है जो जन-जन को सही व स्वस्थ दिशा देने में समर्थ हैं। ये मूल्य हैं - त्याग की भावना, सहज निश्छलता, परस्पर सौहार्द की भावना, धर्म-परम्पराओं के प्रति अनुराग की भावना आदि। त्याग की भावना स्वार्थ संकुचित मनुष्य के हृदय को विशालता प्रदान करती है। सहज निश्छलता लोभी व चतुर मनुष्य को आडम्बरमय जीवन की संकीर्ण गुफा से निकालकर विश्वबंधुत्व की धारा में प्रवाहित करने में सक्षम है। परस्पर सौहार्द्र की भावना नैतिकता तथा धर्म-परम्पराओं के प्रति अनुराग की भावना विश्रृङ्खलित मानव समाज को पाप के पङ्क से निकालकर उसे 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' के रहस्य का साक्षात्कार कराकर परमानन्द प्रदान करने में पर्याप्त कराने में पर्याप्त है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि इस भौतिकवादी युग में लोक संवेदनाओं से युक्त साहित्य ही मनुष्य की प्रकृति विजयनी वैज्ञानिक लालसा को ध्वस्त कर, उसके आन्तरिक सन्तुलन, अनुशासन और उसके उत्कर्ष को लोकमंगलकारी बना सकता है, तथाकथित सभ्य पुरूष की बर्बरता तथा अहङ्कार शीतला को नम्रता, सरसता और सहृदयता में परिवर्तित कर सकता है क्योंकि इन्ही लोक संवेदनाओं में समरसता की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है।

प्रथम अध्याय - सन्दर्भ ग्रंथ सूची

(1) ''तम आसीत्तमसा गूढमग्रे'' – (ऋग्वेद 10/129/3)'' उद्धृत The New Vedic Selection" - Pt. N. Kanta Nath Shastry Telang and Dr. Braj Bihari Chaubey. Sel. No 28 का 3।

(2) ''यथा लौकिकवैदिकेषु'' – महाभाष्य–1 – 1।1। आ, पृ0–66।

(3) ''लोकतः'' – महाभाष्य, 1।1।1 (पृ0 – 64)।

(4) ''अति अपार जे सरित वर, जौं नृप सेतु कराहिं।

चढि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं।। 13 ।।

रामचरित मानस (बाल काण्ड), पृ0 – 26।

(5) ''तथा लोका अकल्पयन्'' – ऋग्वेद, 10/90/14 (Sel. No. 25 का 14)

(6) सायण भाष्य – ऋग्वेद 10/90/14 (Sel. No. 25 का 14)

(7) ''आ सीदतं स्वभु लोकं विदाने'' – ऋग्वेद 10/13/2 (पृ0 480)

(8) ''यो वो वृताभ्यो अकृणोदुलोकं ....।'' ऋगवेद 10/30/7 (पृ0 – 570)।

(9) ''ममान्तरक्षिमुरूल लोकस्तु'' – ऋग्वेद 10/128/2 (पृ0 1095)

(10) ''अकृणोरू लोकम्'' – ऋग्वेद 10/181/3 (पृ0 1224)

(11) ''ऋतस्य यौनो सुकृतस्य लोके **ड**रिष्टा ....।'' ऋग्वेद 10/85/24 (पृ0–845)।

(12) ''अदुर्मग्ङली: पति लोकमा विश.............।'' ऋग्वेद 10/85/43 (पृ0 – 853)।

(13) ''अभीकेचिदु लोक कृत्संगे ....।'' ऋग्वेद 10/133/13 (पृ0 –1113)

(14) ''उदीर्ष्वनार्यभि जीवलोकं...................।'' ऋग्वेद 10/18/8 (पृ0–512)।

(15) ''प्रजाभ्यो नानालोकेभ्य:'' – 13/58, शुक्ल यजुर्वेद संहिता – श्री महाधराचार्यकृत।

(16) उच्छिष्टे नाम रूप चोच्छिष्टे लोक अहितः।

उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्।। 1 ।।

अथर्ववेद (द्वितीय खण्ड), का011, अध्याय–1, (पृ0 – 50)।

(17) एनं लोको गच्छति ।। 5 ।।

अथर्ववेद (द्वितीय खण्ड), का0 – 11, अध्याय–4, (पृ0 – 225)।

(18) "देवा वै तृतीयेनान्हा स्वर्गलोकमायंस्तान सुरा..................।" ऐतरेय ब्राह्मण 5.1 ,

उद्धृत – ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन (पृ0 – 104)।

(19) "इमे वै लोकाः सर्पा" – शतपथ ब्राह्मण 7.4.1.25, उद्धृत–ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन, पृ0 – 71।

(20) "यावदनु पृथिवी यावद्न्वग्निस्तावानस्य लोको भवति" – ऐतरेय आरण्यक, I[.1.7., Sel. No. - 42, उद्धृत – "The New Vedic Selection" Pt. N. Kanta Nath Shastry Telang and Dr. Braj Bihiri Chaubey.

(21) "इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमामि भूती नीदं सर्व यदयमात्मा ।। 6।।

वृहदारण्यक उपनिषद II.4.6., Sel. No. - 44, उद्धृत उपर्युक्त।

(22) "न लिप्यते लोक दुःखेन बाह्यः।" ।। 11 ।। कठोपनिषद (द्वितीय–बल्ली), कृति– "इशादि नौ उपनिषद" पृ0 – 128।

(23) सूर्यो यथा सर्व लोकस्य चक्षु..........।" ।। 11 कठोपनिषद द्वितीय बल्ली कृति – "ईशादि नौ उपनिषद," पृ0 – 128।

(24) तिलौकिकेष्वप्यतद्यथेन्द्राग्नी पिता पुत्राविति ।। 4 ।। "निरूक्तम्" (निघन्टु भाष्य) – यास्क मुनि (1/16/4) पृ0 – 75 (पं0 बदरीलाल तनूज व पण्डित शिवशर्मा कृत – टिप्पणी आदि)।

(25) (अ) लौकिकेष्वप्येतथाऽसपत्नोऽयं ....।" ।। 7 ।। (1/16/7), निरूक्तम् (निघष्टुभाष्य) – यास्कमुनि, पृ0 – 75।

(ब) सर्वमिति लौकिकेष्वप्येतद्यथा सर्वरसा अनुप्राप्ताः पानीयमिति ।। 9 ।।, (1/16/9), पृ0–77 (उपर्युक्त पं0 बदरी लाल...................... उपर्युक्त)।

(26) "अपश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत् ।। 9।।, श्री बाल्मीकि रामायणे, सुन्दरकाण्डे (पञ्चत्रिंश : सर्ग :), पृ0 – 940।

(27) बाल्मीकि रामायणे (सुन्दर काण्डे) पञ्चत्रिंशः सर्गः (सु0 35/21), पृ0–95।

(28) भाष्ये सर्व लोकस्येति; व्याकरणानभिज्ञोऽपि साधु–शब्द प्रयोगात् फलंलभतैवेव्यर्थः।" "महाभाष्य" (भाग–1), पृ0 – 54।

(29) कृति "व्याकरण महाभाष्ये नवाह्मिकम्" 1/1/1, (पृ0 – 53)'

(30) अज्ञानतिमिरांधस्य लोकस्यतु विचेष्टतः।

ज्ञानांजन शलाकाभि नेत्रोन्मीलन कारकम्।।" श्री मन्महर्षिवेद व्यास प्रणीत 'महाभारत' (प्रथम खण्ड) आदिपर्व (1/84) पृ0–7।

(31) यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्त देवेतरो जनः।

स यत्प्रमाणं कुरूते लोक स्तदनुवर्तते ।। 3/21।। "श्रीमद् भगवत् गीता" – पृ0 – 112।

(32) "न में पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषुकिंचन।" 3/22, श्रीमद् भगवत् गीता, पृ0–113।

(33) "तेनार्थवॉल्लोभ पराङ्मुखेन ध्नताविध्न भयं क्रियावान्।

तेनास लोकः पितृमान्विनेत्रा तेनैव शोका पनुदेन पुत्री ।। 23 ।।

कालिदास – रघुवंशम् (चतुर्दशः सर्ग) पृ0 – 166।

(34) "संता केनापि कार्येण लोस्याराधनं व्रतम्। "1/41, पृ0 – 102,
महाकवि श्री भवभूति प्रणीतम् – "उत्तररामचरितम्"।

(35) "व्यलोकि लोकेन न केवलंचतन्मुदा..................।" ।। 71 ।। महाकवि हर्ष प्रणीतं"
नैषधीयरितम् महाकाव्यं" (पञ्चदशः सर्गः) पृ0 – 399।

(36) श्री बाणभट्ट कृत "कादम्बरी" पृ0–617 (ऊपर से तीसरी चौथी पंक्ति)

(37) अमरकोश, 2/1/6, पृ0–112।

(38) "अमरकोशः" – श्रीमद् अमरसिंह विरचितः 3/3/18, पृ0–397।

(39) "लोको विश्वे जने इति हैम" – 2/1/7, उद्धृत – अमरकोशः पृ0–112।

(40) अष्टाध्यायी काशिका – व्याख्याकार – श्री नारायण मिश्र, 5/1/44, पृ0–11।

(41) सन्दर्भ – उपर्युक्त।

(42) ज्ञान शब्द कोश – सम्पा0 मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, पृ0 – 712।

(43) सन्दर्भ – उपर्युक्त।

(44) हिन्दी साहित्य कोश (भाग–1) पृ0 – 747,प्रधानसम्पा0 – धीरेन्द्र वर्मा।

(45) "ब्रह्मा विष्णु त्रैलोक्य सकलहि निलीन जहँ।" ।।50।। दोहा कोष–उद्धृत
"हिन्दी काव्य धारा" – राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0–9।

(46) "नाथ पाई दलिया भयलोका" ।। 24 ।। "दोहा कोष", उद्धृत – हिन्दी काव्य धारा–
राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0–7।

(47) "पशु लोक निर्बोध जिमि रहिया।" ।। 21।। दोहाकोश, उदधृत हिन्दी काव्य धारा –
राहुल सांस्कृयायन, पृ0 – 7।

(48) "मिथ्यै लोक बँधावे अपना।" चर्यापद ।।2।। शेष–उपर्युक्त, पृ0–17।

(49) "धर्महि सुख पावहि दुख, एह प्रसिद्धउ लोक।" ।।101।। उद्धृत–हिन्दी काव्य धारा – राहुल सांस्कृत्यायन।

(50) प्रा' श्चित तासु यदि कासि आज। तो घरै तोर परलोक कार्य।।

'पुष्पदत्त-महापुराण,' उदधृत – हिन्दी काव्य धारा – राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0–181।

(51) "ठिय लोकपाल जीवित निरीह/........../पुष्पदन्त-आदिपुराण उदधृत – हिन्दी काव्य धारा, पृ0–209।

(52) छोड़ौ वैद–वणज–व्यौपार/पढ़िवा गुणिबा लोकाचार।" गोरखनाथ (170/9) उद्धृत – हिन्दी काव्य – धारा – राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0–163।

(53) "तत्त तिलक तिहुँलोक मैं, राम नाम निज सार।" "कबीर वाणी पीयूष" सम्पा0-डॉ0 जयदेव सिंह व डॉ0 वासुदेव सिंह,। साखी नं0 –3, पृ0 – 1।

(54) "सोई आँसू साजनां सोई लोक बिड़ाहि"। कबीर वाणी पीयूष" – सम्पा0 उपर्युक्त, (साखी नं0 – 23), पृ0–25।

(55) "सकल लोक सूनो लागतु.................।" ।।88।। भ्रमरगीत सार – सम्पा0 रामचन्द शुक्ल, पृ0–38।

(56) "लोककानि कुल को भ्रम..................।" ।।26।। शेष उपर्युक्त, पृ0–14।

(57) "कहत कथा अनेक ऊधो लोक लाभ दिखाय।" ।।65।।, शेष उपर्युक्त, पृ0 – 28।

(58) (क) "वेदहू पुरान कहीं, लोकहू विलोकयत्।" ।।97।। कवितावली (उत्तरकाण्ड), टीकाकार लाला भगवानदीन, पृ0–135।

(ख) "लोक वेदमत मंजुल कूला" ।। 39 ।। बालकाण्ड, रामचरित मानस (मूल मझला साइस) गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ0–41।

(59) "तीनि लोक चौदह खण्ड सबै पर मोहि सूझि।" ।। 5 ।। जायसी ग्रन्थावली, (पद्मावत), राजा सुआ – संवाद खण्ड,पृ0 – 132।

(60) "खैमे न अलीक लोक–लीक न बिसारिए ।। 125।। रसराज, (मतिराम ग्रन्थावली) – सम्पा0 कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ0–25।

(61) जो सुत अपने बाप को, बैर न लेई प्रकास।

तासौं जीवत ही मर्‌यों, लोक कहै तजि–तास ।। 28 ।।

"संक्षिप्त राम चन्द्रिका" सम्पा0 डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, बालकाण्ड, पृ0 – 3 ।

(62) "भारतेन्दु ग्रन्थावली" (दूसरा खण्ड) पृ0 69, 48, 70। संकलनकर्ता व सम्पादक– ब्रजरत्न दास।

(63) "लोक सिखावन हेतु कबहुँ संध्या अनुसरहीं" – "भारतेन्दु ग्रन्थावली" (दूसरा खण्ड) – पृ0 647, संकलनकर्ता व सम्पादक-ब्रजरत्न दास।

(64)(अ) "लोक वेद दोऊ कूल सरोवर, गिरे न रहे सम्हारे"। भा0ग्र0 (दूसरा खण्ड) पृ0–116।

(ब) "लोक वेद दोउन सो न्यारी हम निज रीति निकाली"। भा0ग्र0 (दूसरा खण्ड) पृ0–274, संकलनकर्ता व सम्पादक-ब्रजरत्न दास।

(65) "तुमहीं असंख्य लोकरंजन तुमहीं अधिनायक" – "प्रेमघन सर्वस्व" (प्रथम भाग) पृ0–236।

(66) सम्पत्ति त्रिलोक की विलोकन मैं आवै ना ।। 10 ।। उद्धव–शतक–रत्नाकर पृ0–7।

(67) ठाकुर त्रिलोक के कहाइ करिहैं कहा।" ।। 9 ।। उद्धव–शतक–'रत्नाकर', पृ0–6।

(68) "लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में।" "कामायनी" (संघर्ष सर्ग) पृ0–88।

(69) "यह लोक अग्नि में तप गलकर/थी ढली स्वर्ण प्रतिमा बनकर।" कामायनी (दर्शन सर्ग) पृ0–117।

(70) "चले आ रहे छाया पथ में लोक पथिक जो थकते,।" कामायनी (कर्मसर्ग), पृ0–52।

(71) "होगा मुझको यह लोक–रीति/कर दूँ पूरी,, जो नहीं भीति।।"

'सरोज स्मृति' शीर्षक कविता, राग विराग–सम्पा0 रामविलास शर्मा, पृ0–88।

(72) इस क्षुद्र लेखनी से केवल

करता मैं छायालोक सृजन ? "युगवाणी (कविता संग्रह) उद्धृत काव्य रश्मि – सम्पा0 - डॉ0 कन्हैया सिंह, डॉ अनन्त सिंह, पृ0–98।

(73) क्षीण करूणा लोक का भी लोक को/है बृहत् प्रतिबिम्ब दिखलाता सदा।"

ग्रन्थि (कविता संग्रह), उद्धृत–काव्य–रश्मि–सम्पा0 उर्युक्त, पृ0–91।

(74) "काव्य में लोक मंगल और माधुर्य" – पृ0 109, कृति आचार्य शुक्लः प्रतिनिधि निबन्ध" सम्पादक सुधाकर पाण्डेय।

(75) "साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्यवाद" – पृ0 126, कृति–आचार्य शुक्लः प्रतिनिधि निबन्ध – सम्पा0 सुधाकर पाण्डेय।

(76) "साधारणीकरण और व्यक्ति वैचित्यवाद" – पृ0 – 119, कृति–उपर्युक्त।

(77) "जनपद", वर्ष–1, अंक–1, पृ0–65, उद्धृत–हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षोडश भाग) "हिन्दी का लोक साहित्य', पृ0–3, सम्पादक कृष्णदेव उपाध्याय व महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन।

(78) हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (भाग 3) पृ0 – 379।

(79) "वेदान्तो वैदिकाः" शब्दाः सिद्धाः लोकाच्चा लौकिकाः" महाभाष्य पस्पशः 1/1/1,

(80) दृष्टव्य , वही0 1/1/1।

(81) "अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः।" 15/18, श्रीमद् भागवत गीता (श्री रामानुज भाष्य)।

(82) "वेदार्था व लोकनाल्लोक इति स्मृतिरिहोच्यते।" पृ0 500–501, श्रीमद् भगवत् गीता (श्री रामानुज भाष्य)।

(83) स्मृतिरव्यल्पश्रुतैः ....। पृ0–189, श्रीमद् भगवत गीता (शांकर भाष्य) प्रथमोगुच्छः, (13–18, तृतीय षट्कम्)।

(84) "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
य यत्प्रमाणं कुरूते लोक स्तदनुवर्तते।।" गीता 3/21,
श्रीमद् भगवत् गीता (शांकर भाव्य)।

(85) "लोक...............प्राकृतो जनोऽनुवर्तते।" पृ0–312, श्रीमद् भगवत् गीता (शांकर भाष्य)।

(86) हिन्दी साहित्य कोश, पृ0 – 747।

(87) ~~उपयुक्त~~ साहित्य कोश, पृ0–747।

(88) हलायुध कोश, पृ0–310, सम्पादक जयशंकर जोशी।

(89) जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं..............।" (12/1/45) पृथ्वी सूक्त, अथर्ववेद।

(90) "जनस्य साकेत निवासिनास्तौ', 5/31, रघुवंशं।

(91) कृपा सिन्धु ! जनदीन दुआरे दादि न पावत काहे।" विनय पत्रिका– तुलसी दास, पृ0–145।

(92) जनपदे, खण्ड–1, अंक–2, पृ0 63–64, उदधृत–पद्मावत का लोक तात्विक अध्ययन– डॉ0 नृपेन्द्र प्रसाद वर्मा, पृ0 – 32।

(93) "लोक साहित्य का अध्ययन" – त्रिलोचन पाण्डेय, पृ0–109।

(94) (जनपद, वर्ष–1, अंक–1, पृ0–65) उदधृत – हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास (षोडश भाग) – हिन्दी का लोक साहित्य, सम्पादक कृष्णदेव उपाध्याय व महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0 – 3।

(95) हिन्दी साहित्य कोश (भाग–1) पृ0–7, (डा0 सत्येन्द्र)। सम्पा0

(96) भारतीय लोक साहित्य – डा0 श्याम परमार, पृ0 10।

(97) श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य विरचित – ध्वन्यालोक, 1/1 (प्रथम उद्योत)

(98) "नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मक।

लोक वृत्तानुकरण नाट्यमेतन्मया कृतम्।" नाट्यशास्त्र। 1। 112

(99) "न तज्ज्ञानं न तच्छिल्वं न सा विद्या न सा कलां।

नासौ योगे न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।" उपर्युक्त 1/11

(100) "दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।

विश्रान्ति जननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति।। उपर्युक्त, 1/115।

(101) "विनोद जननं लोक नाट्यमेतद् भविष्यति। वही, 123।

(102) उद्धृत "काव्य समीक्षा" – डा0 विक्रमादित्य राय, पृ0–98।

(103) उद्धृत – "काव्य समीक्षा" – डा0 विक्रमादित्य राय, पृ0 – 164।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक चरण से लेकर स्वतन्त्रता–पूर्व तक के काव्य में लोक–संवेदना – [पृ०सं०-२१-६४]

(क) आदिकालीन काव्य में लोक संवेदना

(1) धार्मिक साहित्य में लोक–संवेदना

(2) रासो साहित्य में लोक–संवेदना

(3) आदिकालीन अन्य काव्यों में लोक–संवेदना

(ख) भक्तिकालीन काव्य में लोक–संवेदना

(ग) रीतिकालीन काव्य में लोक–संवेदना

(घ) आधुनिक कालीन कविता और लोक संवेदना

(1) भारतेन्दु युगीन काव्य में लोक–संवेदना

(2) द्विवेदी युगीन कविता और लोक–संवेदना

(3) छायावाद युगीन कविता और लोक संवेदना

(4) प्रगतिवाद युगीन काव्य में लोक संवेदना

(5) प्रयोगवादी काव्य और लोक संवेदना

हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक चरण से लेकर स्वतन्त्रता पूर्व तक के काव्य में लोक संवेदना-

(क) आदिकालीन-काव्य में लोक-संवेदना

हिन्दी साहित्य का प्रारम्भिक चरण राजनीतिक-दृष्टि से अत्यन्त उथल-पुथल से भरा हुआ था। उत्तर पश्चिम की ओर से लगातार होने वाले मुसलमानों के आक्रमणों से भारतीय जनता अत्यन्त त्रस्त थी। कन्नौज, अजमेर, अन्हलवाड़ आदि राजधानियों में निवास करने वाला राजा अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए विदेशी आक्रान्ताओं से मिल-जुलकर निपटने के बजाय अपने ही देश में गृहयुद्ध की सी स्थिति बनाये हुए थे। अतः तत्कालीन राजनीति उस समय के सामाजिक जीवन, सांस्कृतिक-परिवेश, अर्थ-व्यवस्था व धार्मिक-वातावरण सभी पर अपना प्रभाव डाल रही थी। सामान्य-जन युद्ध की विभीषिकाओं से भयाक्रान्त था। युद्धों में होने वाले धन का दुरूपयोग उनकी आर्थिक स्थिति को अत्यन्त जर्जर बनाता जा रहा था। श्रमिकों के व्यवसाय पर भी युद्धों का असर पड़ रहा था। हिन्दू-स्थापत्य का विकास अवरूद्ध सा हो गया था, क्योंकि युद्धों के कारण शिल्पी एकाग्रचित होकर अपने कार्य में प्रवृत नहीं हो पा रहे थे।

विदेशी आक्रमण तथा गृह-कलह के विषम-परिवेश में कवि-गण अपनी अलग-अलग मनः स्थितियों के अनुरूप काव्य-सृजन में प्रवृत थे। राजाश्रय में जीवन-यापन करने वाले कवि की काव्य रचना राज्य-प्रशस्ति में रत थी। कुछ अन्य-जन राजाश्रय-विहीन, स्वच्छन्द वातावरण में रह रहे थे, वे धार्मिक-आवरण में जन-सामान्य के हित के अनुरूप लोकभाषा में काव्य-सृजन कर रहे थे। अतः आदिकालीन साहित्य में एक ओर तो अध्यात्म की चर्चा तथा उपदेशों का प्राधान्य है, वहीं, दूसरी ओर देशहितार्थ अपने प्राण-न्योछावर कर देने की भावना अपने परिष्कृत रूप में निविड़तम में आलोक प्रदान

करती हुई दिखाई देती है। प्रेममयी श्रृङ्गार भी राजा के लिए प्रेरक-शक्ति बनकर काव्यों में समाहित हुआ है।

आदिकालीन 'रासो' काव्य तत्कालीन सामन्ती-संस्कृति और लोक-संवेदनाओं की जीती जागती तस्वीर है। इन काव्यों के रचयिता प्रशस्ति मूलक रचना करते हुए भी लोक-जीवन की विविध अनुभूतियों तथा संवेदनाओं से अछूते नहीं है वरन् उनका काव्य लोक को ही समर्पित है। सिद्धों व नाथों की साधना तथा जैन कवियों के काव्य सभी लोक-स्वभाव के प्रतिबिम्ब हैं। इन धार्मिक कवियों ने जनमानस को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए अपने अध्यात्म-विवेचन के पुष्प में लौकिक जीवन के सौरभ को समाहित किया। इनकी तान्त्रिक सिद्धियों तथा उलटवाँसियों ने कर्मकाण्डों से प्रभावित भोले-भाले सामाज्य जन को नूतन चिन्तन के लिए विवश किया, जिससे जनता इनके करीब आती गयी।

वस्तुतः आदिकाल की रचनाएँ शिष्ट व सामान्य जनों के लिए समन्वयात्मक इन्द्रधनुष हैं। इसी तथ्य को स्वीकार करते हुए डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है- "आदिकाल के धार्मिक साहित्य, सिद्धों, नाथों और जैन कवियों की रचनाओं में जैसे रहस्य भावना, कर्मकांड और मन्त्र के तत्व समाहित हुए हैं, रासों-काव्यों की ऐहिक श्रेणी में कुछ उसी तरह शिष्ट और लोक साहित्य के तत्व घुल-मिल गये है। यह पूरा परिदृश्य किसी भाषा में साहित्य की आरम्भिक स्थिति का पक्का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। लोक अैर शिष्ट साहित्य का संक्रमण इन अवस्था में बड़े सहज भाव से होता है।[1]"

(१) धार्मिक साहित्य में लोक-संवेदना-

सिद्ध-साहित्य

समय के स्वर को पहचानने वाला कवि समाज में पल रही लोक चेतना व विशिष्ट वर्ग की चेतना से भली-भाँति परिचित होता है। वह परिस्थितियों के कारण

समाज में प्रधानता प्राप्त कर लेने वाले विषय को बहुधा अभिव्यक्ति का माध्यम बनाना चाहता है, ताकि उसकी बात आम-जनता के बीच अधिक से अधिक सुनी व पढ़ी जा सके। हिन्दी साहित्य के आदिकालीन 'सिद्ध साहित्य' में यही हुआ। कभी प्रसिद्धि-प्राप्त बौद्ध धर्म क्रमशः परिवर्तित होते-होते सामाजिक चेतना के अनुरूप 'लोकमत' की प्रधानता को अभिव्यक्ति करने के कारण सिद्ध-साहित्य के रूप में मान्य हुआ।

सिद्ध-साधकों में कुछ अपनी तान्त्रिक सिद्धियों के द्वारा जनता को आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रहे थे, कुछ अपने आचार्यों के मतों का दुरूपयोग कर सामाजिक अनाचार में लिप्त हो जनता को पथ-भ्रष्ट कर रहे थे, पर ऐसे साधनों की भी कमी नहीं थी, जो सच्चे अध्यात्मवादी होने के कारण समाज के प्रति विमुख न होकर अत्यन्त सजग भाव से समाज के हित-चिन्तन में लगे हुए थे। ऐसे साधकों मे सरहपा, शबरपा, कण्हपा, कुक्कुरिया, लुइपा आदि मुख्य हैं। इन्होनें समाज में प्रचलित सभी रूढ़ियों व पाखण्ड का विरोध किया। "सिद्धों में से बहुत से मछुये चमार, धोबी, डोम, कहार, लकड़हारे, दर्जी, तथा और बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। अतः जाति-पाँति के खण्डन तो वे आप ही थे।"[2] ये सिद्ध कवि शास्त्र-ज्ञानियों की उन प्रवृत्तियों की निन्दा करते थे जो सामाजिक समरसता में बाधक थी। ब्राह्मण, बौद्ध व जैन धर्म में व्याप्त पाखंड की उन्होने अत्यन्त कटु शब्दों में निन्दा की है।[3]

इन सिद्ध कवियों ने उस समय आम जनता में प्रचलित भाषा को काव्य की भाषा बनाया, जन जीवन में प्रचलित लोकप्रिय छन्दों को अपनाया और लोक प्रचलित शब्दों- जुलाहा, धुनिया, वृक्ष, नौका, चौपड़ आदि को रूपकों के रूप में प्रयुक्त किया। ये सभी काव्याभिव्यक्ति के तत्त्व उनके काव्यों में लोक-संवेद्य भावों के सहायक बन कर आये।

जैन साहित्य

जैन आचार्यों व कवियों ने अपने काव्यों में सुभाषित व नीति-कथनों के माध्यम से

समस्त जन के कल्याण भाव को प्रमुखता दी है । इन कवियों ने जीवन के विविध पहलुओं पर दृष्टि डालकर उनमें से प्रेम, विरह, युद्ध व उपदेश परक विषयों का चयन किया, जिसकी परिणति अन्ततः लोक में "सामाजिक जागरूकता" को ही प्रश्रय देती है, साथ ही जैन कवियों के लोक-संवेद्य होने का प्रमाण भी प्रस्तुत करती है।

जैन-कवियों ने लोक में प्रख्यात पौराणिक चरित्र 'राम' और 'कृष्ण' को अपने कथानकों मे लेकर लोक-मानस को अपनी ओर मोड़ने का सफल प्रयास किया। कहीं-कहीं इन कवियों ने आध्यात्मिक विषय का परित्याग कर लोक और उसमें फैली 'सामाजिक विषमता' का जीवन्त रूप अंकित किया है।[4]

जन-सामान्य उनकी बात बड़ी सरलता से समझ सकें, इसके लिए उन्होनें लोक-प्रचलित भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। कवि स्वयंभू ने इस सन्दर्भ मे कहा-

"सामान्य भाषा यदि ना गढ़ऊ। यदि आगम युक्ति किछु गढ़ऊ।

यदि होइ सुभाषित बचनाई। ग्रामीण भाष परिहरणाई।।[5]

नाथ साहित्य

नाथ-पंथ के पुरस्कर्त्ता गोरखनाथ के समय में भारतीय धर्मो में अनेक विकृतियां थी, जो साधु व सामान्य जन दोनों को व्यर्थ की रूढ़ियों से आक्रान्त किये हुए थी। कवि गोरखनाथ ने धर्म के विकृत रूप को जन-सामान्य के समक्ष रखकर उसकी समस्त रूढ़ियों पर प्रहार कर, ईश्वर के सर्वमान्य रूप को दिखाया।[6] राजा व प्रजा दोनों के प्रति उनकी 'समान दृष्टि' जन-सामान्य के प्रति उनकी आस्था को व्यक्त करती है-

"राजा-परजा सम करि देष।"[7]

अपनी बात आम जनता तक पहुँचाने के लिए उन्होनें उन्ही के बीच प्रचलित भाषा को अपनाकर काव्य-सृजन किया। अपनी एक विशिष्ट शैली, जिसे वे उलटवॉसी कहते हैं, के माध्यम से जन मानस में कुतूहल अत्पन्न करने का प्रयास किया, ताकि अधिक से अधिक

जनता इससे आकृष्ट हो इसका अर्थ जानने का प्रयास करे। इनके सहज, सरल उपदेश प्रदायक पद्यों ने जनता को एक सूत्र मे बाँध दिया। वस्तुतः "शंकराचार्य के बाद भारतीय लोकमत को इतना प्रभावित करने वाला आचार्य भक्ति काव्य के पूर्व दूसरा नहीं हुआ।"[8]

लोक व वेद किसी से भी समझौता न करने वाले व अपनी बात की सत्यता पर अडिग रहने वाले गोरखनाथ द्विवेदी जी की दृष्टि में इस प्रकार हैं- "किसी भी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होनें दुर्बलता नहीं दिखाई। वे स्वयं पण्डित व्यक्ति थे, पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नहीं, साधन है। उन्होने किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधना मार्ग से उचित भाव ग्रहण किया।"[9]

नाथ पंथ के अन्य कवियों में चौरंगी नाथ, चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्ध्रीपाव, गोपीचन्द आदि प्रसिद्ध हैं। इनकी रचनाओं में उपदेश व खण्डन-मण्डन का प्राधान्य है। जन-सामान्य में प्रचलित भरथरी व गोपीचन्द के गीत आज भी लोक के हृदय में अपनी पहचान बनाये हुए है।

आदिकाल का यह आध्यात्मिक साहित्य लोक जीवन की विविध संवेदनाओं से अछूता नहीं रहा है। जन सामान्य में प्रचलित भाषा को अपनाकर इन कवियों ने स्वतः ही लोक के प्रति अपनी निष्ठाको व्यक्त करते हुए उन्हें अपनी ओर मोड़ने का प्रयास किया। "असल में लोकमत की जैसी प्रधानता (इस युग के प्राक्काल में) दृष्ट हुई, वैसी सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में शायद ही कभी दिखी हो।"[10]

रासों साहित्य में लोक-संवेदना-

रासों काव्यों में "पृथ्वीराज रासो" नामक महाकाव्य की रचना महाकवि चन्दबरदाई ने की है। यह महाकाव्य सामन्ती व लोक संस्कृति का मिला-जुला रूप प्रस्तुत करता है।

तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक आर्थिक व धार्मिक परिवेश के अनुरूप दोनों संस्कृतियों को अपने आवरण में लिए यह महाकाव्य युग-चेतना का जीता जागता रूप है।

ऊँचे-ऊँचे महलों में रहकर ऐश्वर्य का उपभोग करने वाले राजाओं की प्रशस्ति के साथ-साथ सर्व-साधारण जन की दुनिया का भी बारीकों से किया गया वर्णन महाकवि को लोक के अत्यन्त निकट ले आता है। यह महाकाव्य लोक जीवन की विविध अनुभूतियो, जन्म से लेकर मृत्यु तक के विविध संस्कारों, विविध उत्सवों, अनुष्ठानों व विश्वासों, रीतियो, लोक-मनोरंजन के विविध साधनों से भरा हुआ है। जन-सामान्य के हृदय में व्याप्त ये भाव व विश्वास कवि की लोक-संवेद्य दृष्टि के परिचायक है। पद्मावती और पृथ्वीराज चौहान के विवाह के अवसर पर महाकवि चन्द अनेक लोक-रीतियों के द्वारा विवाह का सजीव चित्रांकन करते हैं।[11]

सामन्ती परिवेश व लोक परिवेश दोनों से जुड़ा हुआ यह महाकवि अपने महाकाव्य में दोनों के साथ न्याय करता दिखाई पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि- "ये कवि केवल राजाश्रित प्रशस्तिमूलक रचनाकार नहीं, वरन् लोक जीवन लोक भाषा तथा लोकाभ्युदय के प्रतिनिधि बनकर समष्टि का न्यास करते हैं।"[12]

नरपति नाल्ह कृत 'बीसलदेव रासो' महाकाव्य नायिका राजमती के विवाह व विरह से सम्बन्धित कथा है, जिसमें सर्वत्र व्याप्त लोक जीवन की सरसता सहज ही मन को आकृष्ट करती है। विरह-व्यथित राजमती जीवन को सहज रूप में जीने के निमित्त कभी कोयल बनने की कामना करती है, तो कभी रानी न बनकर जाटनी बनना पसन्द करती है ताकि वह भी अपने भरतार के साथ खेत कमाती, अच्छी लोमवटी पहनती। वह लोक-जीवन की सहज संवेदनाओं से युक्त नारी होने को ज्यादा अहमियत देती है, जहाँ कृत्रिमता उसे न छू सके। जगनिक का "परमाल रासों" जिसमें 'आल्हा' और 'ऊदल'

नामक दो वीरों की गाथा है, आज भी लोक-कण्ठ में विराजमान होकर कवि की लोक -सचेतना का जीता-जागता प्रमाण बना हुआ है

आदिकालीन अन्य काव्यों में लोक-संवेदना-

प्रेमकथा लोकगाथाओं का मुख्य विषय रहा है। राजस्थान में प्रसिद्ध लोकगाथा "ढ़ोला मारू का दूहा" लोक जीवन का गतिशील चित्र है। गॉव के स्वस्थ वातावरण में इसका विकास इसकी स्वाभाविकता का स्वयं प्रमाण प्रस्तुत करता है, जहाँ कृत्रिमता का नामो निशान नही है। लोक जीवन में प्रचलित उपमान, जनपदीय भाषा सर्वत्र प्रेम व विरह की अभिव्यक्ति में सहायक बने हैं।[13]

लोक-जीवन से गहन संपृक्ति के कारण अमीर खुसरों हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में बहुत प्रसिद्ध रहे है। अलाउद्दीन खिलजी, तुगलक जैसे शासकों के साथ रहकर भी उन्होनें मातृभाषा हिन्दी की संवृद्धि में योग दिया। मानवतावादी दृष्टिकोण लेकर ये हिन्दू व मुसलमान दोनों के ही दुःख दर्द में समान रूप से शरीक हुए। इनकी लेखनी जन-जीवन के गहरे रंगों से आपूरित है। एटा जिले के पटियाला गाँव की गंध इनकी चेतना में सदैव रची बसी रही है । भारतीय लोक-जीवन के बहुरंगी व मर्मस्पर्शी भाव चित्र जनजीवन के प्रति इनके अगाध स्नेह को स्वतः ही व्यक्त करते हैं।

खुसरों की पहेलियाँ और मुकरिया आज भी जन जीवन की रगों में रची-बसी है।[14] खुसरों द्वारा स्थापित लोक-जीवन की महत्ता मुल्ला दाऊद, मलिक मुहम्मद जायसी कुतुबन मग्झन आदि बाद के कवियों के लिए प्रेरणा स्त्रोत रही है।

विद्यापति की 'पदावली' लोकभाषा में लोक जीवन के सरस चित्र उकेरने के कारण राजमहलों व कुटियों दोनों में समादृत है। संस्कृत के विद्वान होते हुए भी विद्यापति ने लोक भाषा में काव्य-रचना को महत्ता दी ।[15]राजाश्रित कवि होकर भी उन्होंने अपनी कविता-कामिनी के सीमन्त को लोक जीवन के वर्णन के सिन्दूर से अरूणिम किया।

तभी तो आज भी मिथिला की अमराइयाँ उनके लोक गीतों का गान करती दिखाई पड़ती है।

आदिकालीन सम्पूर्ण साहित्य पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट है कि लोक संवेदना ही कृष्ण की बाँसुरी की भाँति इन कवियों की रचना रूपी गोपीयों को आकर्षित कर रही थी। एक ओर सिद्ध, जैन और नाथ कवि जन-सामान्य को तत्कालीन रूढ़ियों व आडम्बरों से दूर करने के लिए उन्हें धार्मिक आवरण मे लेकर लोक-भाषा में काव्य-सृजन कर रहे थे तो दूसरी ओर राजाश्रित कवि अपने गौरव-पूर्ण छन्दों से देश-हित के लिए जान कुरबान करने की भावना जागृत कर रहे थे। प्रेममय श्रृगड्गार का वर्णन युद्धरत राजा की प्रेरक शक्ति बनकर उनमें ओज का संचार किया करता था। युद्ध में विजय अन्ततः जन जीवन के हित से जुड़ी हुई थी।

(ख) पूर्वमध्यकालीन हिन्दी काव्य में लोक-संवेदना

हिन्दी काव्य-जगत् में पूर्वमध्यकाल अपनी स्वर्णिम-आभा बिखेरता हुआ नये कलेवर के साथ उदित होता है। इस समय देश की राजनीतिक परिस्थितियों में मौलिक परिर्वतन दिखाई पड़ते है। देश के गौरव माने जाने वाले राजपूत-वंशों का अन्त हो गया था तथा मुसलमानों का साम्राज्य स्थापित हो गया था, जिसके परिणाम स्वरूप देश की आम-जनता (जो अधिकांश हिन्दू थी) और मुसलमान शासक के बीच दूरी बढ़ती जा रही थी।

समाज पूर्ववत् उच्च व निम्न वर्ग में विभाजित था। उच्च वर्ग के शासकों, सामन्तों व साहूकारों में अधिकांशतः वैभव-विलास में ही आपाद्मस्तक डूबे रहते थे। किसान, मजदूर आदि श्रमिकों का वर्ग कठोर श्रम करने के बाद भी उचित पारिश्रमिक के अभाव में अत्यन्त कठिनाई से जीवन-यापन कर रहा था। किसान के पास अपनी खेती न थी, भिखारी को भीख भी नहीं मिलती थी, बनिये के पास अपना व्यवसाय नहीं था, यहाँ तक

कि नौकरों को कहीं काम भी नहीं मिल पाता था।[16] सामान्य-जन में अज्ञानता व अशिक्षा इस हद तक व्याप्त थी कि वे बहुविवाह, सतीप्रथा, परदा प्रथा जैसी कुरीतियों को अपना धार्मिक कर्त्तव्य समझकर उनका निर्वाह करते थे।

धार्मिक दृष्टि से हिन्दी-साहित्य का यह चरण अपने साथ हिन्दू, इस्लाम, जैन, बौद्ध, पारसी व ईसाई आदि अनेक धर्मो की बाढ़ लेकर आया। पर इनमें 'हिन्दू' व 'इस्लाम' ये दो धर्म ही उस समय मुख्य थे। इन दोनों धर्मो में धर्माचार के नाम पर किये जाने वाले- मूर्तिपूजा, तीर्थाटन, अवतारवाद, गौ-ब्राह्मण रक्षा, जाति-भेद, छूआछूत आदि कृत्यो से समाज में साम्प्रदायिकता बढ़ती जा रही थी। दोनों धर्मो द्वारा प्रतिपादित नियम इतने कठोर थे कि इस पर प्रहार किये बिना समानता की बात सोची भी नहीं जा सकती थी।

हिन्दी साहित्य का पूर्व-मध्यकाल इन्हीं परिस्थितियों की उपज है। इस युग के (सन्तों) भक्त कवियों ने तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ही साहित्य-सृजनकर समाज को एक नया प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रदान किया। उन्होनें अपने काव्यों में आत्मानूभूति को प्रमुखता दी तथा वेद-शास्त्रों की अवेहलना की। तत्कालीन भक्त कवि आम जनता के सच्चे प्रतिनिधि थे। अतः उनका काव्य जन-जागृति का प्रतीक बनकर आया। राजाश्रय-विहीन इन कवियों ने जन-सामान्य के दुःख-दर्द, गरीबी और असमानता की पीड़ा पर भक्ति व विश्वास का लेप किया, जो उनके लिए उपयोगी सिद्ध हुआ। गरीबों, किसानों, श्रमिकों, अछूतों व जुलाहों को उनकी दयनीय स्थिति व उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करके इन भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप में जन-जागरण का मार्ग प्रशस्त किया। धर्म इन कवियों के मार्ग में बाधक नहीं, वरन् सहायक बना। "बैष्णवों के सिद्धान्त मूलतः उस समय व्याप्त सामाजिक, आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति थे। सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होनें राष्ट्रीय नव जागरण का रूप

धारण किया। सामाजिक विषय-वस्तु में वे जाति प्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरूद्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे।"[17] अतः कहा जा सकता है कि मध्य-युग के जाति-पाँति, अन्धविश्वास, व साम्प्रदायिकता की भावना से भरे समाज में इन कवियों के सामाजिक, धार्मिक चेतना से परिपूर्ण साहित्य की देन अमूल्य है।

ये सन्त कवि वैरागी नहीं थे। उन्होने समाज व परिवार के बीच रहकर सर्व-साधारण जनता को भक्ति का सम्बल प्रदान किया तथा जिन्दगी की सच्चाई से उनका परिचय कराया। हिन्दी की इस अखण्ड काव्य-धारा को सामान्य-जन की ओर उन्मुख करने वाले कवियों में कबीर जायसी, सूर व तुलसी प्रमुख हैं।

कबीर

कबीर वेद-शास्त्रों के अध्ययन से उत्पन्न पाण्डित्य से बहुत दूर थे। उन्होनें पांडित्य को लोक की आवश्यकताओं के अनुपयुक्त माना और उस ज्ञान को लोक के लिए उपयुक्त माना जिसे वह अपने अनुभवों से जान सकें। उनकी दृष्टि में चारों वेदों को पढ़ने वाला पंडित उस कटे हुए खेत में बालियाँ ढूढने वाले व्यक्ति के समान है जो कबीर जैसे कर्मशील के द्वारा पहले ही चुन ली गयी हैं।[18]

कबीर इस बात को भली-भाँति जानते थे कि हिन्दू व मुसलमानों के बीच आपसी भाई-चारा स्थापित करने के लिए दोनों धर्मो को वाह्याडम्बरों से मुक्त कराना अत्यन्त आवश्यक है। अतः उन्होने अपने अनेक पदों व साखियों के द्वारा सामान्य जन को धर्म का सच्चा स्वरूप दिखलाने का प्रत्यन्त किया।[19] वर्ण-व्यवस्था जो मूलतः कर्म पर आधारित थी, उसे जन्म और जाति से जोड़कर उसका मूल स्वरूप विकृत करने वालों पर कवि आक्रोश व्यक्त करता है। उनकी दृष्टि में निम्न वह व्यक्ति है जो ईश्वर (ब्रह्म) का स्मरण नहीं करता।[20] शूद्रों के साथ अन्याय करने वाले ब्राह्मण से वे कहते हैं कि जब एक ही ज्योति ने सभी को उत्पन्न किया तो कोई ब्राह्मण और कोई शूद्र कैसे हो गया ।[21]

कबीर ने सामान्य-जन को कभी अपनी ऑखों से ओझल नहीं होने दिया। सर्व-साधारण जनता के बीच उत्पन्न कबीर अपने जीवन के अन्तिम समय तक इन्हीं लोगो के बीच रहे और अपने पदों के द्वारा उनमें प्रेम, एकता, भाईचारा उत्पन्न कर हृदयाभिभूत करते रहे। निरंकुश शासकों, मुल्ला मौलवियों तथा पंडितों का कोप सहते हुए भी उन्होने लोक हित को प्रमुखता दी।

लोक उनकी बात सहजता पूर्ण समझ सके, इसके लिए उन्होंने लोक प्रचलित बोलियों के शब्दों[22] को मुख्यतः काव्य में स्थान दिया तथा लोक प्रचलित उपमानों[23] को आधार बनाकर ब्रह्म, जीव, जगत, माया, सम्बन्धी ज्ञान को सहज ढंग से जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास किया। उनकी उलटवासियाँ सामान्य जनता को आश्चर्य चकित कर उनमें पदों व साखियों के अर्थ के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती थी, जो उनकी ज्ञान-वृद्धि मे सहायक था।

कबीर के अलावा दादू, रैदास, धन्ना, पीपा, सुन्दरदास, प्राणनाथ आदि सन्त कवि भी अपनी रचनाओं के द्वारा सामाजिक वैषम्य को दूर कर मानव-प्रेम का आदर्श लोक के सम्मुख रख रहे थे। रज्जब, दरिया साहब, दीन दरवेश आदि मुसलमान सन्त भी इस कार्य में कबीर के पूर्ण सहयोगी रहे।

जायसी

भारत में मुस्लिम साम्राज्य स्थापित हो जाने के बाद लम्बे समय तक साथ-साथ रहने के कारण हिन्दू व मुसलमान दोनों ने एक दूसरे को समझने का प्रयास किया और पाया कि प्रेम-भावना का बीज दोनों के हृदयों में एक समान है। जायसी आदि सफ़ी कवियों ने इस प्रेम-भावना के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होनें हिन्दुओं में प्रचलित आख्यानों को चुना और उन्ही की भाषा में उसे ऐसा रंग दिया, जो दोनों में आपसी सौहार्द्र व घनिष्ठता स्थापित करने की मिसाल कायम कर सका ।

जायसी ने अपने प्रमुख लोकाख्यानक महाकाव्य "पद्मावत" में मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति का यथार्थ-चित्र उकेरा है। जायसी स्वभावतः उदार होने के कारण मुस्लिम-संस्कृति के साथ-साथ भारतीय लोक जीवन से भी भली-भाँति परिचित थे। उन्होनें भारतीय लोक-जीवन में प्रचलित विविध विश्वासों, संस्कारों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, पर्वोत्सवों को अत्यन्त सहज ढंग से महाकाव्य मे स्थान दिया तभी तो यह महाकाव्य 'लोक जीवन का महाकाव्य'[24] कहलाने का अधिकारी बना।

हिन्दू-विश्वास के अनुसार 'विवाह' एक शाश्वत वन्धन है, जिस पर महाकवि जायसी ने अपनी आस्था व्यक्त की है।[25] प्राचीन आख्यानों में पशु-पक्षियों द्वारा मनुष्य की बोली बोलने की चर्चा मिलती है जिसे कवि जायसी ने भी अपनाया। 'पदमावत्' में हीरामन तोता कथा का मूल सूत्रधार है। रानी पदमावती द्वारा उसे अपनी व्यथा सुनाये जाने पर वह उसकी व्यथा मुक्ति के लिए योग्य वर की तलाश में जाने की आज्ञा मॉगता है।[26] ज्योतिष, ग्रह-नक्षत्रों व राशियों के प्रभाव पर भारतीय लोक जीवन की गहन आस्था है। यात्रा के लिए प्रस्थान से पूर्व भारतीय जन दि्क शूल[27] (दिवस विचार) देखकर चलता है ताकि उसकी यात्रा मे किसी प्रकार की वाधा न उत्पन्न हो पाये। भारतीय लोक जीवन में व्याप्त अनेक संस्कार, व्रत व पर्वोत्सवों के वर्णन से पद्मावत भरा हुआ है। वच्चे के जन्म[28] से लेकर मृत्युपरान्त तक भारतीय जन विविध संस्कारो से बँधा हुआ है, जिसकी सूक्ष्म जानकारी महाकवि जायसी रखते हैं। विभिन्न पर्वोत्सवों को लेकर भारतीय लोक-जीवन बहुत सम्पन्न है। इन पर्वोत्सवों के पीछे जन-साधारण के विश्वास की एक परम्परा है। जायसी ने 'बसन्त खण्ड' में जन-सामान्य के बीच प्रचलित 'धमार' और 'चाँचरि' नृत्य का सजीवांकन किया है जो बसन्तोत्सव का प्राण है।[29] हिन्दुओं के पवित्र त्यौहार होली,[30] दीपावली का सरस वर्णन पद्मावतकार ने अनेक स्थलों पर किया है।

विभिन्न लोक उपमानो का आश्रय लेकर महाकवि जायसी ने बारहमासा में विरह का अत्यन्त मर्मस्पर्शी, संवेदनामय रूप चित्रित किया है। रानी नागवती का विरह अनुभूति व अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से ग्रामीण बाला से किसी प्रकार कम नही।[31] "उनकी भाषा उनकी कल्पना, उनकी अभिव्यक्ति शैली इन सबका लोक जीवन से सीधा सम्बन्ध है। ....जिस मिट्टी से जायसी का सम्बन्ध था उसकी सारी महक उसमें आदि से अन्त तक व्याप्त है।"[32]

सूर

तत्कालीन सामन्ती समाज में साधारण मनुष्य शासक-शोषक वर्ग के हाथों कठपुतली बना हुआ था। उसकी अपनी जिन्दगी भी अपनी नहीं थी, संभ्रान्त माने वाले लोगों के यहाँ गिरवी रखी हुई थी। ऐसे घुटन भरे माहौल में जीवन व्यतीत करने वाले इन्हीं साधारण जनों की वेदना व पीड़ा महाकवि सूर व उनके अन्य समकालीन कवियो की रचनाओं में मार्मिक अभिव्यक्ति पाती है।[33] ये कवि सिर्फ उनकी व्यथा को ही वाणी नहीं देते वरन् मनःशान्ति के लिए अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति को सांसारिकता से विमुख किये बिना ही प्रेमा भक्ति का सम्बल प्रदान कर आनन्द की उस भूमि पर पहुँचाते है, जहॉ अध्यात्म और प्रेम दोनों मिलकर उनके जीवन को नये रंगों से आपूरित करते है। उन्होने ज्ञान व योग की लोक विरोधी धारा का प्रतिरोध जन-मानस को दृष्टि में रखकर ही किया है क्योंकि यह विद्या सहज लोगों की समझ से परे थी।

अपने महाकाव्य 'सूरसागर' में ब्रज के सभी संस्कारों, विश्वासों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों व पर्वोत्सवों का अत्यन्त जीवन्त व संवेदनामय रूप उकेरने वाले महाकवि सूर जन-मानस के प्रतिरूप हैं। भारतीय जन-मानस प्राचीन काल से ही यह विश्वास करता चला आ रहा है कि व्यक्ति को कर्मानुसार ही फल की प्राप्ति होती है।[34] सूर के कई पद जन-मानस के इस विश्वास की पुष्टि करते हैं । इसी तरह जन्म के अवसर पर

गीत गाना व अन्य लोक-रीतियों का निर्वाह करते ब्रजवासी सूर की जन निष्टा को व्यक्त करते है।[35] बसन्तोत्सव, होली, गोवर्धन-पूजा[36] से सम्बन्धित विभिन्न पद सूर काव्य मे भारतीय-संस्कृति की अनुपम छटा बिखेरते हैं।

मुहावरों व लोकोक्तियों में लोकानुभवो की अभिव्यक्ति मिलती है। इससे जन-सामान्य के व्यवहार व समझ की सही परख होती है क्योंकि यह उन्हीं के द्वारा बनायी गयी हैं। "लोकोक्तियाँ मानवी ज्ञान के घनीभूत रत्न हैं, जिन्हें बुद्धि और अनुभव की किरणें फूटने वाली ज्योति प्राप्त है।"[37] सूर काव्य में इन मुहावरों व लोकोक्तियों का भण्डार है। गोपियों द्वारा उद्धवो को दिये गये उपालम्भों में 'एक म्यान में दो तलवारे नहीं समा सकती', 'सूखी नदी में नाव चलाना', 'हाथी के दॉत खाने के और दिखाने के और,' 'सबके सब एक डार के तोड़े हैं'- मुहावरों व लोकोक्तियो की छटा मर्मस्पर्शी है।[38]

उनका यह महाकाव्य "सूरसागर" ग्राम व नगर दोनो की संस्कृतियों का जीवन्त रूप जनमानस के पटल पर अंकित करता है। ग्राम-संस्कृति की सहजता उन्हें विशेष रूप से आकृष्ट करती है, तभी तो वह उद्वव को माध्यम बनाकर कृत्रिम नगरीय संस्कृति के प्रति उपेक्षा भाव प्रकट करते है।[39] उनकी रचनाओं में व्यक्त यह ग्रामीण सवेदना से प्रभावित उनका मन लोक से सहज लगाव को व्यक्त करता है।

लोक की पीड़ा व उन्हीं के प्रेम, आनन्दोल्लास को संजोये सूर व उनके समकालीन नन्ददास, नाभादास, कुंभनदास, चतुर्भुज दास आदि 'अष्टछाप' के कवि जन-मन की सघन संवेदनामय अनुभूति कराते हैं। "सूर अपने लिए या अपने प्रभु के लिए गीत नहीं गाते है। सूर ने कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को लोक मे बाँटने की उत्कंठा से गीत गाए है।"[40] अतः कहा जा सकता है कि सूर के लिए 'लोक' या 'सामान्य जन' प्रमुख है। तभी तो सूर के प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उनके पद शताब्दियों बाद आज भी लोककण्ठ में सुशोभित हैं।

तुलसी-

तत्कालीन मुगल-शासकों के अत्याचार से पीड़ित जनता की मुक्ति के लिए 'परहित सरिरा धर्म नहिं भाई'[41] पंक्ति के रचयिता महाकवि तुलसीदास ने राम के 'लोक-रक्षक' रूप को अपने काव्यों मे प्रमुखता दी।" उनके राम किसी सामन्ती पीड़ा को दूर करने के लिए अवतरित नहीं हुए वरन् केवट जैसे अधम माने जाने वाले व्यक्ति को गले लगाने के लिए, वनवासी, गिरिवासी जन-जातियों को मित्र बनाने के लिए, शबरी जैसी उपेक्षित नारी के उच्छिष्ट बेर को खाने के लिए मानव रूप मे इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुये हैं। उनके राम का राज-परित्याग यह दर्शाता है कि लोक की सेवा राज प्रसाद में रहकर नहीं हो सकती वरन् ग्राम व कानन-कानन घूमकर सबकी पीड़ा की तप्त जल-धारा में अपने को विमज्जित कर देने से होती है।

राजा, महाराजाओं व सामन्तों की अधीनता स्वीकार न कर तुलसीदास ने दुःख-दारिद्र व विपन्नता में ही अपना जीवन व्यतीत किया। वे आजीवन जन-सामान्य के बीच रहे। अतः उनके दुःख-दर्द व आभावों को भी उन्होने अत्यन्त निकट से देखा था। "वे 'विनय पत्रिका' में कलि अत्याचारों तथा कलि के अभिशापों से ग्रस्त जन-सामान्य के प्रतिनिधि बनकर राम को विनय की पत्रिका भेजते हैं, उनसे जन की मुक्ति की दरख्वास्त करते हैं।"[42]

सामान्य जन के दुःखों से उत्पन्न तुलसी की व्यथा स्वॉस-प्रक्रिया की भाँति उनके काव्यों में समाहित है। उनके राम बालि और रावण जैसे निरंकुश राजा को धूल में मिलाकर वहाँ की राजसत्ता वही के जनप्रतिनिधि सुग्रीव और विभीषण को दे देते है। आज का तथाकथित जन-सेवक, जनसेवा के नाम पर जनता के पसीने की खान से निकले हुए स्वर्ण को चुराकर लंकापुरी बनाकर रहता है और राम के हनुमान ने तो सोने की लंका को ही जला डाला ।

वेदों के प्रति अक्षर ज्ञान से रहित होने पर भी भारतीय जनता की वेदों में अटूट आस्था है, इस बात से तुलसीदास भली-भाँति परिचित थे। अत. उन्होनें सामान्य जन के हित की दृष्टि से ऐसी नीति अपनायी जिससे वे न तो वेद के अध समर्थक हुए न लोक-लीक के। उन्होनें वेदपाठी पडितों की उन मान्यताओं का खुलकर विरोध किया, जो सहज लोक-धर्म के विकास में बाधक थीं। भारतीय-संस्कृति से पुष्ट ऐसे समाज का स्वरूप उन्होनें लोगों के समक्ष रखा, जिससे ह्रासोन्मुख वर्णाश्रम व्यवस्था को आश्रय मिला। वर्णाश्रम व्यवस्था के बिना लोगों का जीवन पतित होता जा रहा था।[43] अत: तुलसी दास द्वारा वर्णाश्रम व्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा जीवन को नियन्त्रित कर उसे सुखी व सार्थक बनाने के लिए की गयी,[44] न कि मनुष्य-मनुष्य में भेद उत्पन्न करने के लिए। यदि ऐसा होता तो क्या तुलसी के राम व महाकर्मकाण्डी वशिष्ठ केवट[45] को गले लगाते ? क्या शबरी जैसी भीलनी के जूठे बेर खाते। तुलसीदास का वेद-शास्त्र सम्मत दृष्टिकोण भी लोक जीवन से विमुख नहीं है। तभी तो डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सुन्दर शव्दों में कहा कि "लोकचित्त का इतना विस्तृत और यथार्थ ज्ञान रखने वाला कवि अगर लोकमत पर शासन न करता तो आश्चर्य की बात थी, शासन करना स्वाभाविक है।"[46]

हिन्दी साहित्य का यह पूर्व-मध्यकाल वाह्य रूप से भले ही केवल भक्तिगाथा प्रतीत हो, पर वस्तुतः यह अन्याय, अत्याचार के खिलाफ जन-मानस को आन्दोलित करने वाला है। लोक प्रचलित बोलियों मे काव्य सृजन करने वाले ये कवि कभी किसी दरबार के आगे नहीं झुके व सदैव सामान्य जन के सच्चे हितैषी बने रहे। "जाहिर है कि अपने समय की शीर्ष सत्ता को चुनौती देने का साहस वही कर सकता है जो उतनी ही गहराई से जन-साधारण के जीवन से जुड़ा हो। इन रचनाकारों की आस्था का स्त्रोत यही साधारण जन से इनकी गहन संपृक्ति है। इस संपृक्ति के नाते ही ये प्राकृत जनों की प्रशस्ति से बच सके तथा नर की मनसबदारी को धिक्कार सके।"[47]

स्पष्ट है कि इन सभी भक्तिकालीन कवियों ने अपनी रचनाओं के द्वारा तत्कालीन जन-मानस को स्वस्थ दिशा प्रदान की। कबीर ने आडम्बर विहीन समाज की रचना करने के लिए सबको प्रेम के एक ही ताने-बाने में बुनकर उन्हे नवीन वस्त्र से आच्छादित करने का प्रयास किया। जायसी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रेम-भावना के बीज को विशाल वट-वृक्ष में परिवर्तित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान किया। यद्यापि उनकी रचना के पुष्प मे दार्शनिक सौरभ अधिक है, किन्तु बारहमासा के माध्यम से वे लोक-संवेदनाओं को भी मूर्त करना नहीं भूलते। तत्कालीन विषम सामाजिक परिवेश में तुलसी व सूर ने जन मानस को एक सूत्र में बॉधने के लिए भक्ति की ऐसी गंगा बहायी जिसमें अवगाहन कर सबका मन निर्मल हो गया। इस प्रकार हम कह सकते है कि सम्पूर्ण भक्तिकाव्य अपने उदात्त रूप में मानवतावादी दृष्टिकोण को संजोये हुए है। मानवतावादी काव्यों के इस सरोवर में कही पर क्रान्तिकारी आस्था के अरूणकमल खिले हुए है, तो कहीं पर रागात्मक स्वरों को गुंजरित करने वाले भ्रमर प्रेम व हल्लोल्लास का वातावरण सृजित कर रहे है ।

रीतिकालीन (उत्तरमध्यकालीन) काव्य और लोक-संवेदना

हिन्दी साहित्य का यह काल राजनीतिक दृष्टि से विलास प्रिय मुगल-शासकों व सामन्तों का काल था। राग-रंग मे डूबे सामन्तों व शासकों का अनुकरण करती जनता भी 'यथा राजा तथा प्रजा' की कहावत को चरितार्थ कर रही थी। "इस सभ्यता और वाह्य परिस्थितियों का प्रभाव कवियों पर पड़े बिना न रह सका। कवियों के भावुक कण्ठों से भी वही गाने फूटे जो जनता अनुभव कर रही थी। राजदरबार में आश्रय पाने के कारण उन्हे अपनी सरस्वती (वाणी) को उसी प्रकार नचाना पड़ता था जिस प्रकार आश्रयदाता चाहता था।" [48]

रीतिकालीन कवि यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति थे, पर उनमें से अधिकांश कवियों का जीवन-यापन राजाश्रय में होने के कारण ये प्रतिष्ठित व्यक्तियों मे गिने जाते थे।[49] इनमें चिन्तामणि, कुलपति मिश्र, कुमारमणि देव, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रताप साहि आदि महत्वपूर्ण हैं, जो राजप्रसादों की अभिरूचि के अनुरूप काव्य-सृजन के कारण अपनी प्रतिभा को अन्यत्र न लगा सके। राजाश्रय-विहीन कुछ कवि ऐसे भी थे, जो सामन्ती जीवन से न जुड़कर जन-सवेदना से प्रभावित हो काव्य-सृजन कर रहे थे। इन्होने अपने नीति-कथनों के माध्यम से लोक-सवेदना को मूर्त रूप प्रदान किया। इन कवियो में रहीम, घाघ, भड्डरी, गिरिधरदास आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुछ राजाश्रित कवि भी ऐसे है जो काव्य-लक्षणों के उदाहरण देते समय लोक-जीवन व उनकी संवेदनाओं से प्रभावित दिखाई पड़ते है। वस्तुत· इन सभी कवियों ने लोक जीवन के उस पक्ष को अपनी लेखनी से जीवन्त किया, जो विविध संस्कारों, मान्यताओं, अन्धविश्वासों व पर्वोत्सवो आदि के रूप में जन-जन के हृदय में समाहित है। भारतीय लोक जीवन में संस्कारों का प्रवेश संतानोत्पत्ति पूर्व से ही प्रारम्भ हो जाता है। इस अवसर पर विभिन्न पारम्परिक रीति-रिवाजों द्वारा शुभ-कार्य किये जाते है। जन्मोपरान्त से लेकर मृत्यु तक के सोलह संस्कारों में 'पाणिग्रहण' संस्कार को कवियों ने प्रमुखता से अपने काव्यों में वर्णित किया है।[50]

समाज में व्याप्त विभिन्न शकुन-अपशकुनों में सामान्य जन-आस्था को देखते हुए इन कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से उसे स्थायित्व प्रदान किया। प्राकृतिक कार्यो शारीरिक संकेतो व जीव-जन्तुओं की क्रियाओं के माध्यम से ये शकुन-अपशकुन व्यक्त होते है तथा इनका निदान लोक-परम्परा से प्राप्त विधि के अनुसार होता है। बिहारी के दोहों मे तो इनकी भरमार है। ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञान भी रीतिकालीन कविताओं में बहुतायत रूप में मिलता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार निष्कलंक चन्द्रमा का दर्शन संसार

में प्रलय का सूचक है, जिसे महाकवि बिहारी अपने एक दोहे में व्यक्त करते है।[51] भारतीय लोक-जीवन प्राचीन काल से ही स्वप्न, भाग्य व जादू-टोनों पर अन्तर्मन से आस्था व्यक्त करता आ रहा है। रोग-निवारण के लिए वे औषधियों का प्रयोग न कर टोने-टोटके का सहारा लेते है कुदृष्टि से बचने के लिए बिहारी की नायिका डिटौना लगाती है।[52] इसी तरह व्रत व पर्वोत्सवो की पुरातन-परम्परा के आज तक जीवित रहने का मूल कारण लोक-संवेदना है। जन सामान्य इन्हें परम्परागत रीतियों के अनुसार अत्यन्त श्रद्धा व उल्लास के साथ मनाते चले आ रहे है। जन-जन में प्रेम, सौहार्द्र व सहिष्णुता की भावना जागृत करने में इन त्यौहारों का महत्वपूर्ण योगदान है। लोक को संवेदित करने वाले इन उत्सवों से कवि भला अपने को कैसे अलग रख सकता है। प्रायः सभी कवियों ने होली, दीपावली जैसे महत्वपूर्ण त्योहारों के वर्णन द्वारा जन-जन के हृदय में अपनी पहुँच बनायी। बिहारी की नायिका प्रिय द्वारा आँखों मे डाले गये गुलाल को कष्ट होने पर भी नहीं निकालना चाहती।[53]

अन्ततः कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों ने अपने चरित नायको का ही अधिक गुणगान किया है, पर अवसर पाते ही वे सामान्य-जन की संवेदना को साकार करना नहीं भूलते है। घाघ, भड्डारी आदि राजाश्रयहीन कवियों ने अपने नीति कथनों के माध्यम से सामान्य जीवन के अनेकानेक प्रसंग मार्मिक रूप से वर्णित किये है।[54]

आधुनिक कालीन कविता और लोक-संवदेना

दीर्घकालीन परतन्त्रता के दौरान ही हिन्दी साहित्य अपने तीन ऐतिहासिक काल-खण्डों की यात्रा समाप्त कर जब आधुनिक युग में प्रवेश करता है, उस समय हमारे देश के मनीषियों ने जग-जागरण की दृष्टि से अनेक महत्ववूणे सुधार कार्यों को आरम्भ किया था। इस जन-जागरण के उपयुक्त वातावरण में जन-चेतना के संवाहक कवियों की संवेदनशील दृष्टि ने लोक की पीड़ा का गहराई से अनुभव किया और अपनी

कविताओं के माध्यम से उन लोक-संवेदनओं को मुखर रूप प्रदान कर जागरण के शंखनाद को जन-जन तक पहुँचाने मे अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया।

भारतीय युगीन कविता और लोक-संवेदना

अग्रेजो के विरूद्ध सन् १८५७ के विद्रोह के असफल होने के पश्चात् १ नवम्वर १८५८ को ब्रिटिश साम्राज्ञी ने अपनी प्रथम घोषणा में कहा कि "हमारी प्रजा के लोग चाहे वे किसी भी जाति, रंग व धर्म के हो, बिना किसी रोकटोक एवं भेदभाव के सरकारी नौकरियों में उनकी शिक्षा, योग्यता और कार्य-क्षमता के अनुसार भरती किये जायेंगे।"[55] पर उन्होनें अपनी इस घोषणा पर कभी अमल न किया। उन्होनें भारत को निर्धन बनाने, वहाँ के मजदूरों व श्रमिकों को बेरोजगार करने के लिए विविध हथकण्डे अपनाये। ग्रामीण किसान लगान की बढ़ी हुई दर देते-देते पस्त थे। धीरे-धीरे उनकी स्थिति इतनी बिगड़ती गयी कि उन्हें अपनी जमीन से भी हाथ धोना पड़ा। देशी सामन्तों व जमींदारों का संरक्षक बनने का अंग्रेजों का ढोंग देश की अमीर व गरीब जनता के लिए बेहद मँहगा पड़ा।

जाति-व्यवस्था की जंजीरों को स्वयं अपने पैरों मे बाँधे हुए व पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, सती प्रथा आदि कुरीतियों को ढोते हुए भारतीय समाज निरन्तर रसातल की ओर जा रहा था। शास्त्रोक्त-नियमों से वे इस तरह चिपके हुए थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में उसकी अप्रासंगिकता पर उनकी दृष्टि ही नहीं गयी। धर्म के क्षेत्र में विविध धार्मिक-सम्प्रदायो की बाढ़ आ जाने से उसका मूल स्वरूप निरन्तर उनसे दूर होता गया। तत्कालीन समाज में व्याप्त इन विकृतियों को दूर करने के लिए अनेक विद्वान पुरूष सामने आये। राजा राममोहन राय, महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर, केशवचन्द सेन, महर्षि दयानन्द, श्रीमती ऐनी बेसेन्ट, महादेव गोविन्द रानाडे आदि महापुरूषों ने अपने विविध सुधार कार्यो के द्वारा भारतीय समाज में जागरूकता उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न किया।

इन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व धार्मिक परिस्थितियों ने तत्कालीन बुद्धिजीवी वर्ग पर गहरा प्रभाव डाला जिसके फलस्वरूप भारतेन्दु युगीन साहित्य का जन्म हुआ। इन कवियों ने रीतिकालीन काव्य प्रवृत्ति को त्यागकर तत्कालीन समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए उन समस्याओं को अपनी रचनाओं के द्वारा उठाया जो आम जनता को पतन की ओर लिए जा रही थी।

हास्य-व्यंग्य की शैली अपनाकर भारतेन्दुयुगीन कवियों ने तत्कालीन कुरीतियों पर गहरा प्रहार किया। ताकि जन सामान्य इनके कुपरिणामों से बच सके। उन्होंने विदेशी शासकों के काले कारनामों का कच्चा चिट्ठा एक-एक कर जनता के सामने रखते हुए उन्हें अपनी कविताओं के माध्यम से यह समझाने का प्रयास किया कि किस तरह ये शासक उनका शोषण करते हैं। फैशन में पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति की अंधी नकल करने वालों पर भी उन्होंने कटाक्ष किये। इसी तरह रिश्वतखोरी,[56] जातिगत-भेदभाव को बढ़ावा देकर फूट डालने वालों पर उन्होंने अपनी कविताओं के द्वारा तीखे प्रहार किये। तत्कालीन समाज में चारो ओर फैली हुई अव्यवस्था से जीविकोपार्जन के साधन सीमित होते जा रहे थे। जनता अन्धविश्वासी होकर धूर्त और पाखण्डी लोगों की चपेट में आती जा रही थी। धर्म और मठ के नाम पर ऐसे लोग अपना अच्छा व्यवसाय चला रहे थे। काशी जैसी धार्मिक नगरी में फैले पाखण्ड का यथार्थ रूप प्रस्तुत पंक्तियों में मिलता है -

''देखी तुमरी कासी, लोगों, देखी तुमरी कासी।
जहाँ बिराजे विश्वनाथ विश्वेश्वर जी अविनासी।

X X X

लोग निकम्में भंगी-गंजड़, लुच्चे - वे - बिसवासी।
महा आलसी झूठे शुहदे बे - फिकरे बदमासी।।''[57]

अनमेल विवाह तत्कालीन समाज की बुनियाद को दिन प्रतिदिन अत्यन्त तीव्रता के साथ खोखला करता जा रहा था। प्रायः सभी कवियो ने इस लोक-प्रचलित सामाजिक बुराई की कटु आलोचना की।[58] इसी तरह बाल विवाह पर व्यंग्य करती यह पंक्तियाँ वालवधू के प्रति कवि की गहरी संवेदना की परिचायक है-

"भौरा चकई बहाय, गुल्ली डंडा बिसराय

तनी नाच इतराय मोरे बारे बलमू।।

X X X

प्रेमधन अकुलाय, रस बिन विलमाय

कहै खिल्ली सी उड़ाय, मोरे बारे बलमू।।"[59]

जहॉ एक ओर इन कवियों ने तत्कालीन समाज में व्याप्त विकृतियों पर प्रहार किया है वहीं दूसरी ओर जन-सामान्य में प्रचलित विविध पर्वोत्सवो, रीति-रिवाजो व संस्कारो पर लेखनी चलाकर ये कवि उनकी खुशियों मे भी शामिल हुए है। "होली" के लोकोत्सव पर इन कवियों ने अनेक लोक प्रचलित शैली में गीत लिखे है। इन गीतों में कहीं ब्रज की मस्ती है व कहीं बनारस की सरसता। ये गीत अधिकांश राधा-कृष्ण को माध्यम बनाकर लिखे गये है। होली की मस्ती में जन-जन इस तरह डूबे हुए है कि उन्हें अपने खाली पेट भी याद नही-

"मॅहगी परी न पानी बरसा, बजरौ नाहीं सस्त।

धन सब गवा अकिल नहिं आई तो भी मंगल-कस्त।।

होली होय रही।।"[60]

लोकपर्व एवं महोत्सवों के साथ-साथ जन्म, विवाह व मृत्यु से सम्बन्धित संस्कारों का भारतीय लोक जीवन में विशेष महत्व रहा है। कवियों ने इन संस्कारो का भी विस्तार से वर्णन किया है, जो कवि की लोक-संवेद्य दृष्टि से जुड़कर भारतीय परम्परा व संस्कृति को साकार करता है। विवाह से सम्बन्धित अनेक लोक-रीतियों- बारात, मण्डप, वर-वधू

की गाँठ बाँधना, भाँवर, ज्योनार आदि से सम्बन्धित कविताओं में उनकी लोक के प्रति आस्था दिखलाई पड़ती है।[61] इन कवियों ने जन-सामान्य की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए कजली, होली, बारहमासा आदि ऋतुगीत व सोहर, बन्ना, ज्योनार, गाली आदि संस्कार गीत भी लिखे है, जो विविध पर्वो व संस्कारों के अवसर पर गाये जाते है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इन कवियों ने जहाँ एक ओर जन-सामान्य को आर्थिक शोषण से मुक्ति दिलाने तथा कुरीतियों और अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए अपने काव्य को माध्यम बनाया तो दूसरी ओर गाँवों व नगरों मे अभाव ग्रस्त जिन्दगी जीने के बाद भी किलकारियाँ भरते बच्चों, खेतों में काम करते किसानों की थकान को दूर करने वाले लोकगीतों, विभिन्न पर्वोत्सवो व अनेक सुअवसरो पर मंगल गीत गाती औरतो का सजीवांकन कर जन भावना का आदर किया। जन-संवेदना से सम्पृक्त इन कवियों की कविताओं में लोक का सम्पूर्ण जीवन मुखरित हुआ है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "भारतेन्दु और उनके सहयोगियों की शक्ति का मुख्य स्रोत तत्कालीन जन-जीवन है। उनकी सारी रचना-प्रकिया वही से गति पकड़ती है। लोक-चिंता- टैक्स और महामारी तथा मँहगाई की, अंग्रेजों के शोषण की- उनके मुख्य विषय है।... भारतेन्दु द्वारा ग्राम-गीतों को प्रोत्साहन और उनका उपयोग लोक जीवन के इस तादात्म्य के ही कारण है।[62] अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भारत के हित की भावना रखने वाले ये कवि अपने काव्य को लोक मंगलकारी स्वरूप प्रदान करते हैं।

द्विवेदी युगीन काव्य और लोक संवेदना

भारतीय राजनीति में बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशक विविध उतार-चढ़ावों से भरे हुए थे। इस दौरान हुई घटनाओं ने भारतीय जन-मानस को गहराई से प्रभावित किया। १६०५ में अंग्रेजों द्वारा किया गया "बंगाल विभाजन", १६०६ में "मुस्लिम लीग" की स्थापना व १६०६ में "मार्ले-मिंटो सुधार" का मुख्य उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य
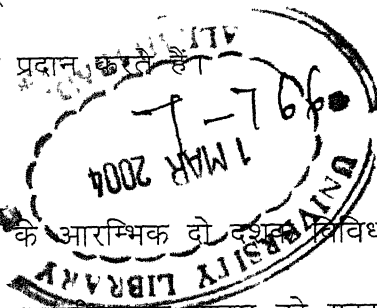
को बढावा देना था ताकि जनता जाति के आधार पर देश मे अलगाव की भावना में वृद्धि कर सके। अंग्रेजों की यह चाल जन-जागरूकता के कारण सफल न हो सकी। जन-आन्दोलन के समक्ष घुटने टेकते हुए १६११ मे उन्हे साम्प्रदायिकता का बीज बोने वाले बगाल विभाजन की नीति को समाप्त करना पड़ा। यह जागरूक होती जनता की पहली जीत थी। इसके पश्चात् १६१४ का विश्व-युद्ध, १६१६ के लखनऊ अधिवेशन में हिन्दू-मुसलमानों के बीच राजनीतिक समझौता, १६१७ की रूस की साम्यवादी क्रान्ति, बगाल का क्रान्तिकारी आन्दोलन, गाँधी जी का सत्याग्रह आन्दोलन जिसे जनता द्वारा भरपूर सहयोग मिल रहा था- आदि घटनाओं ने मिलकर भारतीय जन-आंदोलनों को तीव्रता प्रदान की। इस समयावधि के आन्दोलनों की खास बात यह रही है कि साधारण जनता भी सक्रिय राजनीति में हिस्सा लेकर देश-हित की खातिर बलिदान देने के लिए तैयार हो गयी थी।

आर्थिक-क्षेत्र मे जमींदारी-व्यवस्था के कारण किसानों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी थी। उन पर निरन्तर ऋणों का बोझ बढ़ता जा रहा था। एक ओर देश में भूखमरी बढ़ रही थी, तो दूसरी ओर अन्न विदेशो में निर्यात किया जा रहा था। देश का कच्चा-माल विदेशों को भेजने व तैयार माल का आयात करने की नीति के चलते भारतीय उद्योगों को गहरा धक्का लगा। साथ ही इन उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों की छटनी से बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो गयी । यद्यपि ब्रिटिश पूँजी के भारत आगमन से कुछ भारतीय उद्योग फले-फूले, पर यह उन्नति साधारण जनता के हित की दृष्टि से नगण्य रही।

राजनीतिक और आर्थिक-व्यवस्था में उथल-पुथल व विभिन्न आन्दोलनों के कारण भारतीय समाज में एकजुटता की भावना बढ़ी, जिसके परिणामस्वरूप जाति-व्यवस्था के बंधन ढीले हुए। शिक्षित वर्ग में वृद्धि होने से हानिकारक परम्पराओं व रूढ़ियों के प्रति

लोगों में सामाजिक समझ बढ़ी। अछूतोद्धार व नारी पर होने वाले अत्याचारों से मुक्ति दिलाने के लिए चलाये गये आन्दोलनों ने अपने को निम्न मानने वाले व्यक्तियों की हीन-भावना को दूर करने का भरसक प्रयत्न किया। इन विविध आन्दोलनों को सफल बनाने में तत्कालीन कवियो का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

मानवीय संवेदनाओं के इस बदलते परिदृश्य में द्विवेदी युगीन काव्य ने जनता के संघर्ष को मानवतावादी रूप दिया। श्रमिक, किसान, दलितवर्ग, अकाल, भूखमरी, रूढ़ियॉ व कुरीतियॉ आदि कथ्य तदयुगीन परिवेश में उनकी रचनाओं का अटूट हिस्सा स्वतः ही बनते गये। भारतीय अर्थ-व्यवस्था की रीढ़ किसान ही जब भूखा मर रहा हो तो देश की साधारण जनता की स्थिति क्या रही होगी इसका अनुमान स्वत. ही लगाया जा सकता है। किसान जीवन की व्यथा का संवेदनशील रूप कवि मैथिलीशरण गुप्त की इन पंक्तियो में दृष्टव्य है-

"पानी बनाकर रक्त का, कृषि कृषक करते हैं यहाँ।

फिर भी अभागे भूख से, दिन रात मरते है यहॉ।।[63]

किसानों की हताशा को अभिव्यक्ति देने के साथ ही कवियों ने उनमें सामाजिक, आर्थिक जागरूकता उत्पन्न करने का प्रयास किया ताकि वे संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर सके।

किसान की समस्याओं के साथ-साथ भारतीय समाज में व्याप्त अनमेल विवाह, बहुविवाह, विधवा-विवाह निषेध व दहेज प्रथा जैसी कुरीतियाँ इन युग में भी बनी हुई थी। यद्यपि इन कुरीतियों को दूर करने के प्रयत्न भारतेन्दु युग में प्रारम्भ हो चुके थे, पर उनका प्रभाव अनेकानेक समस्याओं से घिरी जनता पर अधिक न पड़ सका। अतः द्विवेदी युगीन कवियों ने भी जोरदार शब्दों में इन कुरीतियों की भर्त्सना की। ये कुरीतियाँ स्वस्थ समाज के विकास में बाधक थी। इन्हें दूर किये बिना जन-कल्याण असम्भव था।

बीसवीं शताब्दी में प्राचीन भावों, विचारों और संस्कारों का जिस तरह नवीनीकरण हो रहा था, उससे अवतारवाद पर बौद्धिक चिन्तन का गहरा रंग चढ़ता जा रहा था। परिणाम स्वरूप राम, कृष्ण, बुद्ध, सीता, राधा, शंकर और पार्वती आदि सब अपना लोकोत्तरत्व छोड़कर लोक-कल्याण के अनुकरणीय पात्रों के रूप में काव्य में स्थान पाने लगे। जो भगवान अब तक मन्दिर में प्रतिष्ठित थे उन्हे दीन-दुखियों, पीड़ितों के बीच तथा झोपड़ियों में खोजा जाने लगा। इस युग में राम और कृष्ण दैवी नहीं बल्कि मानवीय रूप में ही चित्रित किये गये है। 'साकेत' और 'प्रियप्रवास' की नायिका केवल पत्नी या प्रेमिका नहीं, वरन् वे लोक-कल्याण विधायिका बनकर समाज की सेवा में रत दिखाई गयी है-

"वे छाया थीं सुजन सिर की, शासिका थीं खलों की।

कंगालो की परम-निधि थीं, औषध पीड़ितो की।"[64] 'प्रियप्रवास'

इस युग का कवि मानव-धर्म, मानव-प्रेम मानव-एकता व सर्वधर्म समन्वय व समानता की भावना में वृद्धि करता है। अभावों से पीड़ित मानवता के दुःखों को बॉटना ही इनके लिए ईश्वर के प्रति सच्ची निष्ठा है। इसी अर्थ में उन्होनें सामाजिक समरसता से युक्त सच्चे मानव धर्म की प्रतिष्ठा की।[65]

अन्ततः कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय जन-जागरण के इस दौर मे कवियों ने जन चेतना को जागृत करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होनें महसूस किया कि जन-जन पीड़ा का मूल कारण गुलामी है। जब तक वे (स्वयं अपने अधिकारों के लिए) देश की मुक्ति के लिए एकजुट होकर संघर्ष नही करेगे तब तक उनके सभी प्रकार के कष्ट दूर न हो सकेगे। अतः देश की आजादी ही उनके दुःखो को दूर कर सकती है। इतिहास गवाह है, किसी राष्ट्र की मुक्ति जन-समर्थन व परस्पर सहयोग के बिना सम्भव नहीं। जब जनता अपनी भूख की समस्या व उससे जुड़ी अन्य समस्याओं में फँसी रहेगी तब

तक उन्हें संगठित करना असम्भव है। अतः कवियों ने उनकी समस्याओं के मूल कारण को पहचान कर अपनी कविताओं के माध्यम से उन्हे उनसे मुक्ति के उपाय सुझाये। उन्होंनें अपनी कविताओं को लोकगीतों की शैली में ढालकर यह कार्य अत्यन्त सहजता से किया।

छायावादी काव्य में लोक संवेदना

प्रथम विश्व-युद्ध मे भारतीयों के द्वारा अंग्रेजों का किया गया सहयोग उनके लिए रौलट-एक्ट बनकर उपस्थित हुआ, जिसके परिणामस्वरूप औपनिवेशिक स्वराज की प्राप्ति तो दूर रही वरन् भारतीयों को कठोर कानून की श्रृङ्खला मे जकड़ दिया गया। इसके विरोध में भारतीयों ने जलियाँवाला-बाग में शान्ति-पूर्ण प्रदर्शन किया, जिसका अंग्रेजो द्वारा क्रूरता से दमन किया गया। इस क्रूरता ने उन भारतीयों की भी ऑखें खोल दी, जो अंग्रेजो की गुलामी करते चले आ रहे थे। इस घटना ने भारतीय राजनीति व समाज पर जो महत्वपूर्ण छाप छोड़ी, वह हिन्दू-मुस्लिम एकता के रूप में दिखाई पड़ी। इसी समय भारतीय राजनीति में गाँधी का पदार्पण हुआ। उनकी अहिंसा व सर्वधर्म समभाव की नीति ने उन्हें करोड़ों जनता का एक मात्र प्रतिनिधि बना दिया। उनका मानना था कि तत्कालीन परिस्थितियों में जब-तक देश की तीन-चौथाई से अधिक आम जनता का एकजुट समर्थन नहीं मिलता, देश की आजादी सम्भव नहीं।

गाँधी जी द्वारा चलाये गये 'असहयोग आन्दोलन' व बाद के अन्य आन्दोलनों ने भारतीय किसानों, श्रमिकों व आम-जनता को एकजुट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। १९३० के आस पास विश्व आर्थिक मंदी के दौर से गुजरा, जिसके कारण कृषि-उत्पादित वस्तुओं के भाव गिर गये। इसका प्रभाव भारतीय किसानों पर पड़ा जिससे उनकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गयी। ऐसी स्थिति में भी सरकार ने अपने अधिकाधिक लाभ के लिए 'मुक्त द्वार की नीति' समाप्त कर 'संरक्षण की नीति' अपनाते हुए भारतीय जनता को

खूब लूटा। फलतः सरकार के प्रति किसानों का आक्रोश बढ़ता जा रहा था। पर १६३४ मे समाजवादी पार्टी की स्थापना ने श्रमिकों व कृषकों को कुछ राहत की साँस प्रदान की।

सामाजिक व सांस्कृतिक-क्षेत्र में विविध आन्दोलनों मे जनता की भागीदारी ने उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया। उनकी इस सक्रियता के कारण ही उनके हित में अनेक कानून बनाये गये। "आर्य-विवाह कानून", "शारदा एक्ट", व "बाल-विवाह निरोधक कानून" आदि जनता की जीत के ही द्योतक हैं।

एक ओर जन-जन में राजनीतिक जागरूकता बढ़ती जा रही थी तथा समाज में विविध परिर्वतन दिखाई पढ़ रहे थे वहीं दूसरी ओर साहित्यिक-क्षेत्र में एक नवीन-युग का सूत्रपात हो रहा था जिसे छायावाद नाम दिया गया इस काल की कविताओं में विवेकानन्द, गाँधी, रविन्द्रनाथ टैगोर, महर्षि अरविन्द आदि महापुरूषों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। गाँधी जी के अहिंसात्मक-आन्दोलन व मानवतावादी दृष्टिकोण ने इन छायावादी कवियों को अत्यधिक प्रभावित किया। इन कवियों ने तत्कालीन परिवेश में उन शाश्वत-मूल्यों की स्थापना की, जिसकी जन जन को महती आवश्यकता थी और जो देशकाल से परे हर काल के लिए प्रांसंगिक है ।

गाँधी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित इन कवियों ने अपनी कविताओं में लोकहित, विश्व-बन्धुत्व, करूणा, ममता, मैत्री, उदारता आदि भावनाओं को प्रमुखता से रूपायित किया। इनकी रचनाओं में समष्टि के कल्याण की कामना की गयी। पन्त, प्रसाद, निराला आदि सभी छायावादी कवियों ने जीवन के "मधुमय रूप" का ही गान नहीं किया, वरन् सदियों से मृतादर्शों, रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों में जकड़े हृदय-कपाटों को अपनी लेखनी से कठोर प्रहार करते हुए खोला और उसे मानवतावादी भावनाओं की धारा में निमज्जित करते हुए समाज को एक नयी दिशा प्रदान की। इन कवियों के काव्य में यदि कहीं निराशा की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है तो उसके मूल में पलायन वादिता नहीं, वरन् वह विवशता

है, जो जन-सामान्य के द्वारा जीर्ण शीर्ण रूढ़ियों को ढोने से उत्पन्न हुई है। यह विवशता भी अन्ततः नष्ट होकर मानवीय-मूल्यों की स्थापना में सहायक बनती है।

"सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम्"[66] के गीत गाने वाले कवि साम्राज्यवाद की पाशविक-वृत्तियों को देखकर उनसे मुँह नहीं मोड़ते, वरन् विप्लवी बादल बनकर उन्हें नष्ट करने के लिए प्रलयकारी गर्जन करते है। "राम की शक्ति पूजा" कविता के द्वारा कवि निराला ने शोषकों को रावण के रूप में स्थापित कर भारतीयो को राम बनने की प्रेरणा दी। रावण जैसी अमानवीय वृत्तियों को अपने ही अंहकार के कारण नष्ट होते हुए दिखाकर तत्कालीन परिदृश्य में कवि ने साम्राज्यवादी ब्रिटिश शक्तियों को उनके भविष्य का रूप दिखाया है। सम्पूर्ण छायावादी कवि भारतीयो को कायरता के पंक से निकालकर सिंह बनने की प्रेरणा प्रदान करते हैं।

छायावादी कवियों ने एक ओर मनुष्य को शक्तिशाली होकर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा दी तो दूसरी ओर पूंजीपतियों के उत्पीड़न को चित्रित कर अपनी लोक संवेदना को मूर्त रूप प्रदान किया। विदेशी-पूँजी के आगमन के परिणाम स्वरूप भारत में यान्त्रिक सभ्यता का तेजी से विकास हुआ। इस यान्त्रिक पद्धति ने प्राचीन भारतीय दस्तकारी व कारीगरी का व्यवसाय नष्ट कर दिया। लोग मशीनों से बनी-चीजों का अधिकाधिक उपयोग करने लगे। अतः हाथ से बनी चीजों का कोई मूल्य न रह गया, जिसका सीधा प्रभाव उनकी रोजी-रोटी पर पड़ा। मशीनों पर काम करने वालों को भी उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता था, जिससे उनकी स्थिति निरन्तर गिरती जा रही थी। कवि सुमित्रानन्दन ऐसे पूँजीपतियों को 'जोंक' का रूप प्रदान करते है, जो जन-सामान्य के रक्त को चूसने के लिए सदैव तत्पर रहते है।[67] कवि निराला ऐसे पूँजीपतियों की जो भिक्षुक के पसरे हुए हाथ की उपेक्षाकर कपियों को मालपुये खिलाते है- 'श्रेष्ठ मानव' कहकर उपहास-पूर्ण भर्त्सना करते हैं।[68] कवि की दृष्टि में वही मानव श्रेष्ठ है, जो

दीन-दलितो को अपने गले लगाकर उनकी व्यथा को अपनी व्यथा समझ सके। अपनी "तुलसीदास" कविता के द्वारा कवि निराला तत्कालीन परिस्थितियों में "रूप-सम्मोहन" को त्यागकर विदेशी शासन से जन-जन की मुक्ति हेतु जुट जाने की प्रेरणा देते दिखाई पड़ते हैं। स्पष्ट है युगीन यथार्थ के प्रति वे अत्यन्त सजग रहे है जिसकी अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में कहीं शोषितो के प्रति करूणा दया ममता के रूप में, तो कही शोषकों पर किय गये व्यंग्य, उपहास व क्रान्ति के आह्वान[69] के रूप में मिलती है।

कवि पन्त अपने काव्य जीवन के आरम्भिक दौर में प्रकृति-प्रेम से सरावोर कविताएँ लिखते हुए स्वयं घोषणा करते हैं- "छोड़ द्रुमो की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया। वाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन।।" परन्तु धीरे-धीरे उन्हें मानव का वह सुन्दर रूप आकर्षित करने लगा, जो दया, ममता, स्नेह, मैत्री व विश्व प्रेम का प्रतिरूप है। उनकी बाद की रचनाओं में गॉधी व अरविन्द दर्शन का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है, जिसके कारण उनकी कविताएं प्रकृति से दूर विश्व-मानव के सुख-दुःख से जुड़ती गयी।[70]

सामाजिक जीवन की रूढ़ियों व वर्जनाओं के बीच प्रेमानुभूतियों की जो एकान्तिक पीडा कवि जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' महाकाव्य व महादेवी वर्मा की कविताओं में दिखलाई पड़ती है, वह अन्ततः जन-जन की पीड़ा के रूप में विश्व-वेदना बनकर उसी में समाहित हो जाती है। दलित-पीड़ित मानवता के प्रति कवि जयशंकर प्रसाद के स्नेह को राष्ट्रीयता से भरे हुए उनके गीतों में देखा जा सकता है। इन गीतों के द्वारा वे जन-जन को गुलामी ही जंजीरों से मुक्त कराने के लिए उनमें ओज व शक्ति का संचार करते है। भारतीयता पर उन्हे गर्व है, जिसके लिए वे सर्वन्योछावर करने वालो का आह्वान करते है।[71] परतन्त्रता के इस युग में इस काल के कवि एक ओर देशी व विदेशी पूँजीपतियों के द्वारा आम जनता के शोषण का संवेदनशील चित्रणकर जहाँ उनमें जागरूकता उत्पन्न करने

का प्रयास कर रहे है वही दूसरी ओर उन्होंने लोक के उस रूप का भी चित्रांकन किया, जहॉ वह हँसता, मुस्कराता खुशियों में शामिल होता है। विविध संस्कारो, मान्यताओं, रीति-रिवाजो, पर्वोत्सवों से पारम्परिक रूप में बॅधा हुआ लोक-जीवन उनकी कविताओं में लोकगीतों की शैली के माध्यम से अपनी अलग छटा बिखेरता दिखाई पड़ता है। अबीर से लाल सिंदूरी कपाल की सुषमा में डूबे हुए जन-जन की खुशी को निराला अपनी कविता में अत्यन्त सहजता से होली के वातावरण की निर्मिति के साथ व्यक्त करते हैं।[72] गॉव की गोद में ही पले-बढ़े, पर उच्च्च शिक्षा व आजीविका की खोज में शहर आ जाने वाले अधिकांश छायावादी कवियों की कविताओं में ग्रामीण व आंचलिक लोक-जीवन के तत्वों व संवेदनाओ का सन्निवेश अत्यन्त सहजता से हुआ है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि छायावादी कवियो ने आरम्भ से ही लोक-संवेद्य भावों की अभिव्यक्ति अपनी कविताओं के माध्यम से की। पर आलोचको द्वारा प्रकृति के प्रति मोह, सौन्दर्य व प्रेम, पलायनवादिता, निराशा व रहस्यानुभूति आदि छायावाद कालीन प्रवृतियों की चर्चा इतनी अधिक की गयी कि राष्ट्रीयता की भावना में छिपे लोक-संवेद्य भावों की सही पहचान न हो पायी । इन कवियों की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना ने उन जीवन-मूल्यों से अपनी कविताओं को सँवारा जो जन-जन को गुलामी की जंजीरों से मुक्त करने हेतु उनमें प्रेंम, दया, ममता सहिष्णुता, व विश्वबन्धुत्व आदि भावनाओं का संचार करते हैं। इनकी आत्मानुभूतियों में समाहित 'वेदना व करूणा' मात्र उनकी अपनी नहीं वरन् तत्कालीन परिवेश से आक्रान्त जन जन की पीड़ा है जिसमें सहभागी बनते हुए ये कवि अन्ततः उनमें वह शक्ति पैदा करना चाहते है, जिससे वह मात्र दया व सहानुभूति के पात्र न बनकर अभिमन्यु जैसे शक्तिशाली बन सके।[73]

प्रगतिवादी काव्य में लोक संवेदना

ब्रिटिश शासित भारत में बढ़ते निरन्तर जन-संकट के कारण तत्कालीन राजनीति रूस में स्थापित 'मार्क्सवादी साम्यवाद' से प्रेरणा प्राप्त कर रही थी, क्योंकि यह व्यवस्था बहुसंख्यक सर्वहारा वर्ग के हित से जुडी हुई थी। इस मार्क्सवादी साम्यवाद के प्रणेता कार्लमार्क्स "पूँजी के आधार पर समाज को दो वर्गो में विभाजित करते है- सर्वहारा और बुर्जुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति आर्थिक विषमता और वर्ग-भेद का कारण बनती है। अत. सर्वहारा की सरकार बनने पर व्यक्तिगत सम्पत्ति समाप्त होती है और सारी सम्पत्ति राज्य की हो जाती है। इस प्रकार विषमता और संघर्ष का अन्त होता है।"[74] रूस में इस प्रकार की साम्यवादी व्यवस्था के स्थापित हो जाने से वहाँ की जनता को नयी जीवन-शक्ति मिली। रूसी समाज अनेक संकटों व विसंगतियों को पीछे छोड़ता हुआ जन-जन के जीवन मे हरियाली बिखेर रहा था। इसका प्रभाव भारतीय राजनीति पर भी पड़ा। "सन् ३० तक आते-आते हिन्दुस्तान की राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस के भी प्रस्तावों में हिन्दुस्तान के श्रमजीवी जन-समूह की चर्चा होने लगी थी। किसान-मजदूर आन्दोलन में काफी ताकत आ गयी थी। तत्कालीन साहित्य में भी इस राजनीतिक जागरण की छाया दृष्टिगोचर होने लगी थी।"[75]

तत्कालीन भारत की अधिकांश जनसंख्या काफी मेहनत के बाद भी दो वक्त की रोटी बड़ी मुश्किल से जुटा पा रहा थी। ऐसी स्थिति में कमजोर वर्ग के प्रति सहानुभूति व उनके उद्धार उपायों से जुड़ी इस साम्यवादी व्यवस्था ने तत्कालीन कवियों को प्रभावित किया। उन्होनें अपनी कविताओं के द्वारा शोषितों, दलितों, पीड़ितो के प्रति संवेदना ही व्यक्त नहीं की, वरन् उनमें वर्ग-संघर्ष की भावना भी उत्पन्न की।

मार्क्सवादी साम्यवाद से प्रभावित प्रगतिवादी साहित्य का शुभारम्भ सन् १९३६ के आस-पास हुआ। पेरिस में १९३५ में "प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन" (प्रगतिशील लेखक

संघ) नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना हुई, जिससे प्रभावित होकर १६३६ में सज्जाद जहीर व मुल्कराज आनन्द ने भारत में इस संस्था की स्थापना की। मुंशी प्रेमचन्द इसके प्रथम अध्यक्ष हुए। उन्होंने अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में कहा – ''जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं चाहे वह व्यक्ति हो या समूह उसकी हिमाकत करना उसका फर्ज है।''[76] यों तो इस उद्घोषणा के पूर्व भी साहित्य में इस तरह की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं पर इस उद्घोषणा के बाद स्पष्ट रूप से प्रगतिवादी काव्यधारा बहुसंख्यक शोषित वर्ग से सम्पृक्त हुई।

''प्रगतिवाद के बीस वर्षों का इतिहास साहित्य में स्वस्थ सामाजिकता, व्यापक भावभूमि और उच्च्य विचार के निरन्तर विकास का इतिहास है, जो केवल राजनीतिक जागरण से आरम्भ होकर क्रमशः जीवन की व्यापक समस्याओं की ओर, आदर्शवाद से आरम्भ होकर क्रमशः यथार्थवाद की ओर और यथार्थवाद अथवा नग्नयथार्थ से आरम्भ होकर क्रमशः स्वस्थ सामाजिक यथार्थवाद की ओर अग्रसर होता जा रहा है।''[77] इस सामाजिक यथार्थवादी साहित्य में दुःख, पीड़ा, हताशा व अभाव की ही अभिव्यक्ति नहीं मिलती वरन् जीवन के प्रति विश्वास व भविष्य के प्रति आशावादी दृष्टिकोण का उषाकालीन अरूण आलोक भी दिखाई पड़ता है। शोषक वर्ग के प्रति सर्वहारा वर्ग का सामूहिक संघर्ष ही इस सामाजिक यथार्थवादी साहित्य का मूल है। इस युग के साहित्य में सर्वहारा ही वह बुनियादी शक्ति है, जो पूँजीवादी प्रवृतियों पर आघात कर देश में समानता पर आधारित समाजवाद स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है।

प्रगतिवादी काव्य रचना के आरम्भकर्ताओं में 'निराला' एक प्रमुख कवि हैं। उन्होंने छायावादी युग में ही प्रगतिशीलता के बीज बो दिये थे। उनकी 'दीन' (१६३५), 'भिक्षुक' (१६२१), 'बादल राग' (१६२०) कविताएँ छायावाद युग की ही देन हैं, जिसमें तत्कालीन काव्यधारा से अलग प्रगतिवादी स्वर सुनाई पड़ते हैं। इन कविताओं में पीड़ित

का जैसा सवेदनशील, प्रामाणिक व मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है, वही सम्पूर्ण प्रगतिवादी साहित्य की सशक्त बुनियाद बनता है जिस पर बाद सम्पूर्ण प्रगतिवादी साहित्य रचा गया। प्रगतिवादी काल मे लिखी गयी तोड़ती पत्थर(१६३१) कविता लोक संवेदना की दृष्टि से अत्यन्त ममस्पर्शी है। छायावादी दृष्टि को छोड़कर सुकुमार हृदय कविवर पन्त भी अपने "युगान्त" (क० सं १६३८) में युगान्तर की घोषणा करते हुए समाजवादी विचारों की ओर उन्मुख हुए। उनके "युगान्त", "युगवाणी", "ग्राम्या" कविता सग्रह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, डॉ० राम विलास शर्मा, शिवमंगल सिंह 'सुमन', 'दिनकर' आदि प्रगतिवादी कवियों ने अपनी सशक्त कविताओं के द्वारा वर्ग-संघर्ष को प्रेरणा देते हुए सर्वहारा व शोषित दलित वर्ग के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त की। कवि केदारनाथ अग्रवाल अपनी 'मूलगंज', 'अमीनाबाद', 'कानपुर', 'मजदूर', 'रनिया', 'चदू' आदि कविताओं के माध्यम से शोषक वर्ग की क्रूरता व विलासिता पर व्यंग्य-पूर्ण शैली में प्रहार करते हुए शोषित वर्ग की दयनीय जिन्दगी का सजीवाकंन करते है। किसान-जीवन का यथार्थ कवि को अत्यन्त द्रवित करता है। उसकी करुण-कथा को कवि केदार अपनी अनेक कविताओं में सच्ची संवेदना के साथ व्यक्त करते हैं।[78] जिस धरती को किसान कड़ी मेहनत से उपजाऊ बनाता है उस धरती पर कोई अन्य अपना हक जताये, यह उन्हे स्वीकार नहीं।

किसानों-मजदूरों का शोषण करने वाले पूँजीपतियों मिल-मालिकों, भूमि को हड़प लेने वाले धरणीधरों को नष्ट करने के लिए वह सर्वहारा वर्ग में अपनी कविताओं के द्वारा क्रान्तिकारी-चेतना जागृत करते हैं।[79] तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक-वैषम्य के साथ धार्मिक जड़-परम्पराओं को ढोने की सामान्य-जनों की मनोवृति ने उन्हें क्षुब्ध किया, जिस पर उन्होंने तीखे प्रहार किये है। वकालत जैसे पेशे मे व्यस्त रहने वाले कवि केदार गॉव

के जन-जीवन व प्रकृति का अत्यन्त सहज भाषा में संवेदनापूर्ण चित्रण करते हैं। उनकी यह सहजता पाठकों को बरबस आकृष्ट करती है।

अपनी ओजस्वी लेखनी के द्वारा जन-जन में ऊर्जा का संचार करने वाले कवि नागार्जुन का व्यक्तिगत जीवन दुःख व अभावों में व्यतीत हुआ है। वे अपनी कविताओं के माध्यम से ऐसे राजपथ का निर्माण करना चाहते हैं जिस पर चलकर आम-जनता उन कठिनाइयों को न भोगे जिसका कवि स्वयं भुक्त भोगी रहा है। वे अपने लिए कुछ भी संग्रह नहीं करना चाहते। आम जनता के दुःखों को बाँटते हुए जीवन-जीना चाहते हैं। संवेदनशील, मानव हृदय के पारखी कवि नागार्जुन कहीं मिथिला की अमराइयों, धान के खेतों, कमल-कुमुदनी से भरे तालाबों, पोखरों, बादल, वर्षा व प्रकृति के अन्यान्य रूपों को अपनी कविता में सहज भाषा के माध्यम से रूपायित करते हैं तो कहीं सामाजिक-अव्यवस्था, धार्मिक अन्ध-विश्वास, राजनीतिक भ्रष्टाचार पर अत्यन्त तीखे व्यंग्य करते हैं। देश की बहुसंख्यक शोषित-पीड़ित जनता के वे प्रबल पक्षधर हैं। यह पक्षधरता उनकी कविताओं में स्पष्ट देखी जा सकती है। एक ओर देश में फैली भुखमरी व दूसरी ओर एलिजाबेथ के सम्मान में करोड़ो रूपयों का अपव्यय उन्हें अत्यन्त क्षुब्ध करता है। अनावश्यक व्यय पर उनके तीखे व्यंग्य उनकी अनेक कविताओं में देखे जा सकते हैं, जिसका प्रभाव सीधे आम जनता पर पड़ता है।

कवि त्रिलोचन अपनी कविताओं के माध्यम से सर्वत्र मिट्टी की सोधी गंध बिखेरते हैं। उनकी कविताएँ जन-जन को अनास्था, पराजय व घुटन भरे माहौल से निकालकर उनमें जीवन के प्रति आस्था, उत्साह व दृढ़-आत्मविश्वास का संचार करती हैं। ''धरती'' का यह कवि गाँव के नैसर्गिक सौन्दर्य तथा वहाँ बसने वाले किसानों के जीवन के मनोरंजन पहलुओं को व्यक्त करने के साथ-साथ पूंजीवाद व्यवस्था की क्रूरता से त्रस्त किसान के अभावों का अत्यन्त संवेदनशील चित्रण करता है। गिरे हुए व्यक्तियों को सहायता देने वाला यह कवि सम्पूर्ण मानव-जाति को समानता के स्तर पर लाकर उन्हें स्वस्थ

जीवन प्रदान करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहा है। कवि दिनकर का लोक मंगलकारी मन तत्कालीन समाज के यथार्थ को देखकर हाहाकार कर उठता है, जहाँ एक ओर श्वानों को दूध व वस्त्र से सुसज्जित कर पाला-पोसा जा रहा है। वही दूसरी ओर बच्चा भूख व ठंड से व्याकुल है।[80] देश की यह विषम स्थिति पूँजीपतियो की शोषण-प्रवृति के चलते समाप्त नहीं हो सकती। अतः कवि क्रान्ति के लिए जन-जन का आह्वान करता है, ताकि यह व्यवस्था समूल नष्ट हो सके। डा० रामविलास शर्मा, शिवमगल सिंह 'सुमन' व रांगेय राघव की सामाजिक संवेदना को आत्मसात कर लिखी गयी कविताएं जन-जीवन के यथार्थ को वेगवती भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण प्रगतिवादी कवियो की कविताएं जन-संवेदना से अनुप्राणित होकर लिखी गयी है। इन कविताओं में कही जमींदारों, सामंतो द्वारा किसानों-मजदूरों पर किये जाने वाले अत्याचारों का अत्यन्त संवेदनशील रूप दिखाई पड़ता है, तो कहीं पुलिस की निर्दयता का शिकार होता आम-आदमी। कहीं दवा के अभाव में अन्तिम साँस गिनता बच्चे की तड़प है, तो कहीं आर्थिक अभावों के कारण अनपढ़ रह जाने वाला बालक। कहीं भिक्षुक की पीड़ा को सहता कवि तत्कालीन समाज पर व्यंग्य करता दिखाई पड़ता है तो कहीं वह नारी की दयनीय स्थिति को आँखों से ओझल नहीं कर पाता। तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक विषमता को समाप्त करने के लिए सभी कवि अन्ततः जन-क्रान्ति का आह्वान करते हैं।

प्रयोगवादी काव्य और लोक-संवेदना

प्रगतिवादी कवियों के तत्कालीन परिस्थितियों में किसानों, मजदूरों व देश की आम जनता की कठिनाइयों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए घोषित रूप में प्रतिबद्ध होकर उनके हितार्थ काव्य-सर्जना की। पर १६३६ में आरम्भ हुए द्वितीय विश्व-युद्ध कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्भ्रम की स्थिति में पड़ जाने से उत्पन्न निराशा ने

कविताओं में एक नयी प्रवृति को जोड़ा, जिसमें अनास्था, अविश्वास, घुटन व टूटन के स्वर प्रमुख रूप से दिखलाई पड़ते हैं। इन प्रयोगवादी कवियों ने प्रगतिवादी कवियों की भाँति प्रतिबद्ध होकर काव्य-सर्जना तो नही की, पर उनकी कविताओं में भी कुछ नये-बोध के साथ कुरूप-यथार्थ का संवेदनामय रूप दिखाई पड़ता है। वहीं दूसरी ओर अस्थिर मनः स्थिति से उत्पन्न घुटन व टूटन के परिणाम स्वरूप कुछ जटिल-संवेदनाओं की अभिव्यक्ति हुई है।

अतः यह काल प्रगतिवादी बोध व कुछ नये बोधों व संवेदनाओं के साथ साहित्य-जगत में आया और अभिव्यक्ति के नये शिल्पगत प्रयोगों के कारण ''प्रयोगवाद'' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस काल का आरम्भ ''तारसप्तक'' नामक कविता-संकलन के प्रकाशन (१६४३) के साथ होता है। मुक्तिबोध, शमशेर, डा० रामविलास शर्मा, प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल, नेमिचन्द जैन आदि प्रयोगवादी कवि मूलतः यथार्थवादी है, जिन्होंने भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता को अपनाते मध्य व निम्नवर्गीय जीवन की जड़ता, पराजय बोध, उनके जीवन-संघर्ष व मानसिक-संघर्ष को पीड़ा के अनेक स्तरों के साथ उभारा। इन कवियों ने 'व्यक्ति' की घुटन को कविता का विषय बनाया हो या 'समाज' की घुटन को, मूलतः उनकी दृष्टि मार्क्सवाद से प्रभावित समाजवादी विचारों पर ही टिकी हुई है।

अपने युग की ज्वलन्त समस्याओं से जुड़े कवि 'मुक्तिबोध' मानवीय दुःखों, उलझनों वा सामाजिक-आर्थिक विषमताओं से समाज को मुक्ति दिलाने हेतु मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रति आकृष्ट हुए। अपनी 'तारसप्तक' में संकलित 'पूँजीवादी समाज के प्रति' कविता में ऐसे पूँजीपतियों के प्रति तीव्र आक्रोश से भरे हुए दिखलाई पड़ते हैं, जो जनता के रक्त की एक-एक बूँद को चूसकर अपने को रेशमी सांस्कृति में लपेटे रखता है। ऐसे शोषकों से जन-जन की मुक्ति के लिए वे जन-क्रान्ति का आह्वान करते है।[81]

मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित कवि नेमिचन्द जैन तीव्रतम संघर्ष के इस युग में अपनी कविताओं में सामाजिकता को विशेष महत्व देते हुए कहते है कि "साहित्य में प्रगतिशीलता में मेरा विश्वास है और उसके लिए एक सचेष्ट प्रयत्न का भी मैं पक्षपाती हूँ, किन्तु कला की सच्ची प्रगतिशीलता कलाकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता में है..। कवि से प्रगतिशील होने की माँग का अर्थ है कि वह जीवन की ओर अपने दृष्टिकोण को बदले। अपने ही सामाजिक दायित्व और स्थान को नहीं, बल्कि अपने काव्य के भी सामाजिक महत्व को समझे।"[82] इस वक्तव्य के अनुरूप ही उनकी कविताएँ समाज के प्रति सच्ची संवेदना व्यक्त करती दिखाई पड़ती हैं। "कविगाता है" शीर्षक कविता में नेमिचन्द जैन उन लाखों नंगे-भूखे नर-कंकालों की वेदना से अत्यन्त द्रवित है जो अपने गरम रक्त से सींचकर महलों का निर्माण करते हुए अन्ततः मौत को गले लगा लेते हैं। प्राप्ति की कुछ आशा न होते हुए भी मालिक के प्रति उनकी निष्ठा तथाकथित अभिजात्यों की क्रूरता पर कटु प्रहार करती है।[83] यह सामाजिक वैषम्य कवि को असहय है जिसे मिटाने के लिए वह लाल क्रान्ति को अनुचित नहीं मानता।[84]

कवि भारत भूषण अग्रवाल की प्रयोगवादी दौर में लिखी गयी तार सप्तकीय रचनाओं में मार्क्सवाद का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। उस समय कविता जगत में व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों को लेकर फैले विवादों के बीच वे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहते है- "....यदि कविता का उद्देश्य व्यक्ति की इकाई और समाज की व्यवस्था के बीच के सम्बन्ध को स्वर देना और उसको शुभ बनाने में सहायता करना है, तो हिन्दी के कवि को समाज से नाराज होकर भागने की बजाय समाज की उस शोषण सत्ता से लड़ना होगा जिसने उसको कोरा स्वप्नाभिलाषी और कल्पनाविलासी बना कर छोडा है।"[85] उनकी "मंसूरी के प्रति" कविता उनके इस कविता विषयक वक्तव्य को साकार करती है जहॉ वे पूँजीपति शोषको के खिलाफ आवाज उठाते हुए शोषितों के प्रति

सहानुभूति पूर्ण संवेदना व्यक्त करते है।[86] शोषितों की संगठित शक्ति पर उन्हें पूरा भरोसा है, जो बादल बनकर पूँजीपतियों पर वरसने के लिए तैयार है।[87]

कवि प्रभाकर माचवे की समाजवादी दृष्टि से अनुप्राणित कविताओं में जन-जन की संवेदना पिरोयी हुई है। प्रयोग-शीलता के इस दौर मे उनकी समाजवादी यथार्थ दृष्टि से प्रभावित "वह एक" कविता एक सामान्य अखबार बेचने वाले के चित्र को बड़े ही संवेदनशील रूप मे प्रस्तुत करती है। अखबार में लिखी खबरों व उसकी महत्ता से अनभिज्ञ वह उसे चिल्ला-चिल्लाकर इसलिए बेचा करता है क्योंकि उसकी रोजी-रोटी उसी से चलती है।[88] जहाँ एक पूँजीवादी समाज में व्याप्त अतड़ियों के सुखा देने वाली भूख का मर्मस्पर्शी रूप कवि के हृदय को दुःख व पीड़ा से भर देता है[89] वही लोक जीवन से सम्पृक्त अन्य कविताओं में ग्राम्य जीवन के प्रति उनका अनुराग सर्वत्र नयी आभा बिखेरता दिखाई पड़ता है।

कविता को जन-साधारण की पूँजी मानने वाले डॉ० रामविलास शर्मा की कविताओं में प्रगतिशीलता के स्वर स्पष्ट रूप में देखे जा सकते है। तत्कालीन संकटग्रस्त वातावरण में घुटता एकाकी मानव-व्यक्तित्व उन्हें बेचैन करता है,[90] तो वहीं दूसरी ओर उन्हीं सामाजिक सन्दर्भो में भूख, महामारी की विभीषिका झेलते 'रक्त-हीन तनों' से भरी धरती कवि को असह्य-पीड़ा से भर देती है।[91] इस भयावह पीड़ा से मुक्ति हेतु कवि शोषितों में असन्तोष के बीज बोकर क्रान्ति का वातावरण निर्मित करना चाहता है।[92] लोक-जीवन में व्याप्त अभावों के संवेदनशील चित्रण के साथ ही साथ उनकी कविताओं में भारतीय गाँवों का विविधताओं से भरा स्वाभाविक रूप भी दिखाई पड़ता है। गॉव से उन्हें अत्यन्त लगाव रहा है। हिन्दुस्तान का कोई भी गॉव उन्हें अपने गाँव की याद दिलाता है।

प्रयोगवादी काव्य के प्रवर्त्तक माने जाने वाले कवि सच्चिदानन्द-हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', जो "तारसप्तक" संकलन के सम्पादक है, के काव्य में प्रयोगशीलता 'कथ्य' और

'शिल्प' दोनो ही स्तरों पर देखी जा सकती है। वैयक्तिक सत्य को महत्ता देकर उसे व्यापक-सत्य में परिणत के लिए वे सम्प्रेषण के साधनों पर विशेष ध्यान देते हैं। उनके अनुसार कवि का भोगा हुआ यथार्थ जब कविताओं के माध्यम से पाठक तक पहुँचकर उनके जीवन का भी सत्य बन जाता है तो उनकी कविता वैयक्तिक न रहकर सामाजिक बन जाती हैं। इतना ही नही उनकी कुछ कविताओं में युग-बोध भी मिलता है जो कवि की संवेदना के साथ एकाकार हो जन-जन की करूणा के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है ।[93] कविताएँ लिखते हुए वे अपने काव्य को किसी भी सीमा में प्रतिबद्ध नहीं करना चाहते है। उनके अनुसार कलाकार अपनी सोच के अनुरूप कुछ भी लिखने के लिए स्वतन्त्र है।

इन सभी तारसप्तकीय प्रयोगवाद कालीन कवियों की कविताओं पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये कवि युग-बोध से जुडकर ही अपनी जन-संवेदना को व्यक्त करते हैं । इनमें से अधिकांश कवियों की दृष्टि मार्क्सवादी साम्यवाद से प्रभावित दिखाई पड़ती है। उनकी कविताओं में जो 'व्यक्ति सत्य' अभिव्यक्त हुआ है, वह भी समाज से कटा नहीं है। प्रयोगवादी कवि एक निश्चित चौखट से बँधकर काव्य-रचना नही करता। अतः उनकी रचनाओं मे कथ्य व शिल्प दोनो ही स्तरों पर विविधता के दर्शन होते हैं।

द्वितीय अध्याय - सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0 33–34।

(2) हिन्दी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ0–17।

(3) "ब्राह्मणहिं ना जानन्ता भेद। यो ही पढ़ेउ ये चारों वेद ।। 1 ।।

माटि पानि कुस लिए पढ़न्त। घर ही बइठी अग्नि होमन्त।

X X X

लोम उपाटे होय सिद्धि, तो युवति नितम्बहु।"

सिद्ध कवि सरहपा – दोहा कोश, पृ0–2।

उद्धृत – हिन्दी काव्य धारा – सम्पा0 राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0–5।

(4) "कवि आसिग कलि अन्तरि जाइ। एक समाण नदी सई कोई।

X X X X

के नर सालि दालि भुजंता। घिय घलहतु मच्छे विलहंता।।"

कवि आसगु – जीव दयारास, पृ0 – 31–32।

उद्धृत – हिन्दी साहित्य का आदिकाल – डॉ0 हरिश्चन्द्र वर्मा, (अध्याय 5, आदिकालीन कृतिकार और कृतियाँ)।

(5) "स्वयंभू रामायण" 1/3 । उद्धृत – हिन्दी काव्य धारा – सम्पादक राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0–25।

(6) "कुम्हरा कै घरि हाँडी ओंछ, अहिरा के घर साँडी।

X X X

भणत गोरष त्रिगुणी माया, सतगुर होई लषावै ।।" (136/42)

उद्धृत– हिन्दी काव्य धारा – सम्पादक– राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0 – 162।

(7) उद्धृत – हिन्दी काव्य धारा – सम्पादक– राहुल सांस्कृत्यायन, पृ0 – 163।

(8) हिन्दी साहित्य कोश (भाग–2) – प्रधान सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा पृ0–154।

(9) हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (भाग–6), पृ0–211।

(10) हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (भाग–3), पृ0–89।

(11) बोलि विप्र सोधे लगन्न सुभ घरी परिठ्ट्य।

हर बौसह मण्डप बनाप कर भाँवरि गंठिप।।

ब्रह्य वेद उच्चरहि होम चौरी जु प्रति पर।

पद्मावति दुलहिन अनूप दुलह प्रथिराज राज नर।। 69।।

"पद्मावती समय" – सम्पादक, विश्वनाथ गौड़, पृ0–32।

(12) आदिकालीन हिन्दी रासो काव्य परम्परा एवं भारतीय संस्कृति – डॉ0 राकेश चतुर्वेदी, पृ0 12–13।

(13) कुमलाणी कन्त विण, जलह विहूणी वेल।

विणजारा री भाइ जिऊँ, गया धुकती मेल्ह।। 163।।

"ढोलामारू रा दूध", उद्धृत – हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – डॉ0 रामकुमार वर्मा , पृ0–34।

(14) "खेत में उपजे सब कोई खाये,
घर में उपजे घर खा जाये।।" अमीर खुसरो
उद्धृत – हिन्दी साहित्य : अनिर्दिष्ट शोध भूमियाँ– भगवती प्रसाद सिंह, पृ0–20।

(15) "सक्कअ वाणी बहुअ न भावइ
पाउअ रस को मम्म न पावइ,
देसिल बअना सब जन मिट्ठा
तै तैसन जम्बओ अव हट्ठा।।" (कीर्तिलता 1/19–22)
उद्धृत–विद्यापति–सम्पादक, शिव प्रसाद सिंह, पृ–202।

(16) "खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भलि।

बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।"

कवितावली – 'गोस्वामी तुलसीदास (उत्तरकाण्ड), पृ0सं0 – 178।

(17) भक्ति काव्य और लोक जीवन – शिव कुमार मिश्र, पृ0–5।

(18) "कबीर चार्‌यूं वेद पढ़ाई करि, हरि सू न लाया हेत।

बालि कबीरा ले गया, मण्डित ढ़ढ़ै खेत।।9।।" (चांणक को अंग)

कबीर ग्रन्थावली – सम्पादक माता प्रसाद गुप्त, पृ0–62।

(19) "हमारै राम रहीम करीमां केसौ, अलह राम सति सोई।

विसमिल मेरि बिसंभर एकै और न दूजा कोई ।। 58।।

कबीर गन्थावली – सम्पादक, माता प्रसाद गुप्त, पृ0 – 180।

(20) "जो पै करता वरण विचारै।

तौ जनमत तीनि डांडि किन सारै।

X X X

कहो कबीर मधिम नहीं कोइ

सो मधिम जा मुखि राम न होइ ।। 41।।"

कबीर ग्रन्थावली – सम्पादक माता प्रसाद गुप्त, पृ0 170–171।

(21) "एक जोति थै सब उतपन्ना, कौन बाम्हन कौन सूदा।। 57।।"

कबीर ग्रन्थावली – सम्पादक, माता प्रसाद गुप्त, पृ0 – 179।

(22) "दुलहिनी गावहु मंगलचार

हम घर आए राजा राम भरतार।। 1।।"

कबीर ग्रन्थावली – सम्पादक, माता प्रसाद गुप्त, पृ0–140।

(23) "सन्तो भाई आई ग्यान की आँधी रे।

भ्रम की टाटी सबै उडानी, माया रहै न बाँधी ।। 6।।"

कबीर ग्रन्थावली – सम्पादक, माता प्रसाद गुप्त, पृ0–154।

(24) भक्ति काव्य और लोक जीवन – शिव कुमार मिश्र, पृ0–74।

(25) "जियन्त कन्त तुम हम्म गर लाई। मुझे कण्ठ नहिं छोड़हिं साँई।

औ जो गाँठि कन्त तुम जोरी। आदि अन्त लगि जाय न छोरी ।। 3 ।।

जायसी ग्रन्थावली – सम्पादक राजनाथ शर्मा, पृ0 – 805।

(पद्मावती नागमती सती खण्ड)

(26) "हीरामत तब कहा बुझाई। विधि कर लिखा मेटि नहि जाइ।

अज्ञा देउ देखौ फिर देसा। तोहि जोग वर मिलै नरेशा ।। 7।।

जायसी ग्रन्थावली – सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल, पृ0–21। (जन्म खण्ड)।

(27) "पत्रा काढ़ि गवन दिन देखहि, कौन दिवस दहुँ चाल।

दिसा सूल चक दोगिनी सौंह न चलिए काल।।8।। "जायसी ग्रन्थावली–सम्पादक प0 रामचन्द्र शुक्ल, (रत्न सेन विदाई खण्ड) पृ0–168।

(28) "भै छठी राति छठि सुरन भागी। रहस कूद सोरैनि बिहागी।।

भा विहान पंडित सब आये। काढ़ि पुराण जन्म अरथाए।।3।।

जायसी ग्रन्थावली – सम्पा0 – पं0 रामचन्द्र शुक्ल, (पद्मावती जन्म खण्ड) पृ0–19।

(29) "नवल बसंत नवल सब बारी। सेंदुर बुक्का होई धमारी।।

खिनहिं चलहिं खिन चाँचरि होई। नाच कूद भूला सब कोई ।।7।।"

"जायसी ग्रन्थावली" – सम्पादक– पं0 रामचन्द्र शुक्ल, बसंत खण्ड, पृ0–82।

(30) "खेलि फाग सेंदुर छिरकावा। चाँचरि खेलि आगि जन लावा ।। 13।।

"जायसी ग्रन्थावली" – सम्पादक– पं0 रामचन्द्र शुक्ल (गोरा + बादल शुद्ध खण्ड)

पृ0 – 291।

(31) "तपै लागि अब जेठ–असाढ़ी। मोहि पिउ बिनु छाजनि भइ गाढ़ी।।

तन तिनउर भा, झूटौ खरी। भइ बरखा, दुःख आगरि जरी ।। 16।।"

जायसी ग्रन्थावली – सम्पादक– राजनाथ शर्मा–पृ0–46। (नागमती वियोग खण्ड)

(32) "भक्ति काव्य और लोक जीवन" – शिव कुमार मिश्र, पृ0–74।

(33) "जन के दुःख उपजत किन काटत

X X X

पुनि पाछे अध सिंधु बढ़ति है, 'सूर' अवहि किन पारत।।10।।"

"विनयावली","सूर सागर"(प्रथम भाग),संकलनकर्ता, स्वामी श्री जयरामदेव जी महाराज,

पृ0–19।

(34) "कर्म रेखा मिटति नाहीं, जो विधि आनि ठई।।" ।। 93 ।।

भ्रमरगीत सार – सम्पादक– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल व विश्वनाथ प्रसाद, पृ0–85।

(35) "महरि जशोदा ढोटा जाओ घर–घर देति बधाई।।

X X X X

कंचन थार दूध दधि रोचत गावत चली बधाई।। 3।।"

सूर सागर (प्रथम भाग), पृ0 57–58।

(36) "गोवर्धन सिर तिलक बन्दियो, मेटि इन्द्र ठकुराय।

अन्नकूट ऐसो रचि राख्यो, गिरि की उपमा पाय।।

X X X X

सूर स्याम सो कहत ग्वाल, गिरि जेंवत काहे न आयं ।। 286।।"

सूर सागर (प्रथम भाग), पृ0 – 149।

(37) हिन्दी साहित्य कोश (भाग 1) – प्रधान सम्पादक – डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, पृ0–692।

(38) भ्रमरगीत सार – सम्पादक– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और विश्वनाथ प्रसाद, पद संख्या 25, 42, 45, 80।

(39) "आयो घोष बडो व्योपारी ।। 23।।"

भ्रमरगीत सार – सम्पादक– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ0–67।

(40) हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक पत्रिका) – सम्पादक ब्रजेश्वर वर्मा, (सूर विशेषांक) "सूर काव्य में लोक भावना" – डॉ0 भानुदेव शुक्ल का लेख।

(41) रामचरित मानस – गोस्वामी तुलसी दास, उत्तर काण्ड, 41वी चौपाई, पृ0–550।

(42) भक्तिकाव्य और लोक जीवन – शिव कुमार मिश्र, अध्याय – 7, पृ0 – 105।

(43) "सोचिउ विप्र जो वेद विहीना। तजि निज धर्म विषय लयलीना।

X X X X

सोचिउ शुद्र विप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ग्यान गुमानी।।172।।

रामचरित मानस (अयोध्या काण्ड) – तुलसी दास, पृ0–283।

(44) "वर्णाक्षय निज–निज धरम, निरत वेद पथ लोग।

चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।20।।"

रामचरित मानस (उत्तर काण्ड) – तुलसी दास, पृ0–540।

(45) प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि से दण्ड प्रनामू।

राम सखा रिषि बरबस भेंटा। जन्हु महि लुटत सनेह समेटा।।" ।।243।।

रामचरित मानस (अयोध्या काण्ड) – तुलसी दास, पृ0–316।

(46) हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (भाग–3) पृ0–76।

(47) "भक्तिकाव्य और लोक जीवन" – शिव कुमार मिश्र, पृ0–80।

(48) "हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" – डॉ0 रामकुमार वर्मा, पृ0 112–113।

(49) हिन्दी साहित्य का इतिहास" – सम्पादक, डॉ0 नगेन्द्र (उत्तर मध्यकाल) पृ0 298।

(50) "स्वेद–सलिलु रोमांच कुसु–गहि दुलही अरू नाथ।

दियौ हियौ संग हाथ कैं हथ लेयैं हीं हाथ।।" उद्धृत-'बिहारी रत्नाकर'।

(दो0 259, पृ0–121) – श्री जगन्नाथदास रत्नाकर।

(51) "बुरौ–बुराई जौ तजै तौ चितु खरौ डरातु।

ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि गनैं लोग उतपातु।। ।।584।।

बिहारी रत्नाकर – श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ0–272।

(52) "लौनें मुहुँ दीठि न लगै यौं कहि दीनौ ईठि।

दूनी व्हैं लागन लगी,, दियैं दिठौना, दीठि ।। 28।।"

बिहारी रत्नाकर – श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर, पृ0–20।

(53) "दियो जु पिय लखि चखनु मैं खेलत फाग–खियालु।

बाढत हूँ अति पीर सु न काढ़त बनतु गुलालु ।। 280।।"

बिहारी रत्नाकर – श्री जगननाथ दास 'रत्नाकर, पृ0–133।

(54) रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन – डॉ0 राम कुमार वर्मा, पृ0–220।

(55) आधुनिक भारतीय इतिहास – बी0एल0 ग्रोवर, यशपाल, पृ0–263।

(56) "रोओ ! सब मुँह बाय–बाय ! हय हय टिक्कस हाय–हाय।

रोज कचहरी धाय–धाय! अमलन के ढिग जाय–जाय।।"

प्रेमघन सर्वस्व (प्रथम भाग) – सम्पादक, श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, श्री दिनेश नारायण उपाध्याय, पृ0–185।

(57) भारतेन्दु ग्रन्थावली (पहला खण्ड) – सम्पादक– शिव प्रसाद मिश्र, पृ0–209।

(58) ''हरि हम बारह बरिस कै, अब ही बाला रे हरी।

पापी बेईमान !भला तैं कुकरम कवन – विचारे रामा।।''

प्रेमघन सर्वस्व (प्रथम भाग) – श्री प्रभाकरश्वेर प्रसाद उपाध्याय, श्री दिनेश नारायण उपाध्याय, पृ0–536।

(59) प्रेमघन सर्वस्व (प्रथम भाग) – सम्पादक श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय, श्री दिनेश नारायण उपाध्याय, पृ0 533–534।

(60) भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) – संपादक व संकलनकर्ता ब्रजरत्न दास, पृ0–396।

(61) ''विधि सों जब व्याह भयो दोउ को' मनि मण्डप मंगल चॉवर भे।

X X X X

हरिचंद महान अनन्द बढ़यौ दोउ मोद भरे जब भॉवर भे ।। 25।।

भारतेन्द्र ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) –संकलनकर्ता व सम्पादक–ब्रजरत्न दास, पृ0–777।

(62) इतिहास और आलोचक–दृष्टि–रामस्वरूप चतुर्वेदी,, पृ0 43–44।

(63) भारत भारती – मैथिली शरण गुप्त, पृ0–99।

(64) प्रिय प्रवास – अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' पृ0 – 254।

(65) ''सांसारिक सम्पत्ति पर सबका सम अधिकार हो।

वह खेती या शिल्प हो, विद्या या व्यापार हो।।

सुख–दुःख सम सबके लिए हो, इस नये समाज में।

सबका हाथ समान हो लगा तख्त में, ताज में।।''

'साम्यवाद' शीर्षक कविता–गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

प्रताप (पत्रिका), अप्रैल 1920, पृ0–8।

(66) छायापथ – डॉ0 जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव, डॉ0 रामदेव शुक्ल, पृ0–79।

(67) "वे नृशंस हैं वे जन के श्रम बल से पोषित,

दुहरे धनी जोंक जग के, भू जिनसे शोषित।" 'युगवाणी' (कविता संग्रह)–सुमित्रानन्दन पन्त, पृ0–3 ।

(68) "झोले से पुये निकाल लिए, बढ़ते कवियों के हाथ दिये,

देखा भी नहीं उधर फिर कर, जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर।

चिल्लाया किया दूर दानव, बोला मैं – "धन्य श्रेष्ठ मानव"।

"छाया तप" – सम्पादक प्रो0 डॉ0 सत्यनारायण त्रिपाठी, डॉ0 रामदेव शुक्ल, पृ0–25।

(69) ('बादल राग – 6' शीर्षक कविता)

राग विराग – सम्पादक राम विलास शर्मा, पृ0–55।

(70) "चुन–चुन ले रे कन–कन रे, जगती की सजग व्यथाएँ।"

आँसू – जयशंकर प्रसाद, पृ0–58।

(71) "जिये तो सदा उसी के लिए यही अभिमान रहे, यह हर्ष/

निछावर कर दे हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारत वर्ष।।"

"स्कन्दगुप्त" नाटक – जयशंकर प्रसाद, पृ0–157।

(72) "फूटे हैं आमों में बौर

X X X

आँखें हुई हैं गुलाल/गेरू के ढ़ेले फूटे हैं।

"फूटे हैं आमों में बौर" – शीर्षक कविता (निराला)

"राग विराग" – सम्पादक डॉ0 राम विलास शर्मा, पृ0–156।

(73) "अभिमन्यु – जैसे हो सकोगे तुम"। "भिक्षुक" (शीर्षक ,कविता)

छायातप – सम्पादक प्रो0 डॉ0 सत्यनारायण त्रिपाठी,, डॉ0 रामदेव शुक्ल, पृ0–20।

(74) काव्य–रश्मि–सम्पादक डॉ0 कन्हैया सिंह, डॉ अनन्त मिश्र, पृ0–22।

(75) आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – नामवर सिंह, पृ0–73।

(76) आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ0 बच्चन सिंह, पृ0–278।

(77) आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – डॉ0 नामवर सिंह, पृ0–76।

(78) "जब बाप मरा तब यह पाया/भूखे किसान के बेटे ने,/

घर का मलवा, टूटी खटिया,/कुछ हाथ भूमि, वह भी परती/"

"पैतृक सम्पत्ति" शीर्षक कविता।

"फूल नहीं रंग बोलते हैं" –कविता संग्रह– केदानाथ अग्रवाल पृ0–74।

79) "मिलों के मालिकों को/अर्थ के पैचाशिकों को/भूमि को हड़पे हुए धरणीधरों करो

X X X X सर्वहारा की नवोदित सभ्यता से जीतता हूँ।" "मोरचे पर"

शीर्षक कविता। 'फूल नहीं रंग बोलते हैं (कविता संग्रह)–केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–78।

30) "श्वानों को मिलता दूध–वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं।

माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर, जाड़े की रात बिताते हैं।।

"विपथगा" (शीर्षक कविता) हुँकार – रामधारी सिंह 'दिनकर', पृ0–83।

31) "तेरी रेशमी वह शब्द संस्कृति अंध

देती क्रोध मुझको, खूब जलता क्रोध

X X X

तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ।"

"पूँजीवादी समाज के प्रति" (शीर्षक कविता) – मुक्तिबोध।

उदधृत – तार सप्तक – सम्पादक अज्ञेय, पृ0–35।

2) तारसप्तक – सम्पादक अज्ञेय, नेमिचन्द ज़ैन का वक्तव्य पृ0–56।

(83) राजमहल वे,/जिनकी गहरी नीवों पर बलिदान हो गए

भूखे, नर—कंकाल, अस्थि—पंजर—से वे लाखें—मजूर।''

उद्धृत—तारसप्तक—सम्पा0अज्ञेय,।''कवि गाता है''शीर्षक कविता—नैमिचन्द जैन, पृ0—59—60।

(84) ''नव ज्वाल की भीषण प्रभा का लाल पावन रंग-तड़पता विद्रोह से अस्थिर सितारा।

आज पथ दर्शक वही है/चले आओ उसी आशा के सहारे ;।''

उद्धृत— तार सप्तक — सम्पा0 अज्ञेय।,''जिन्दगी की राह'' शीर्षक कविता, नैमिचन्द जैन, पृ0—70।

(85) उद्रधृत— तारसप्तक — सम्पा0 अज्ञेय। भारत भूषण अग्रवाल का वक्तव्य, पृ0—84।

(86) जब चीखा करती हैं क्षुधार्त नीचे मैदानों की बस्ती।

हाँ, मैंने अपनी ऑखों देखा है विभेद यह, यह विरोध·

जो साधारण घटना है अपनी पूँजीवादी प्रणाली की।''

उद्धृत— तारसप्तक — सम्पा0 अज्ञेय। ''मंसूरी के प्रति'' (शीर्षक कविता)। भारत भूषण अग्रवाल, पृ0—91।

(87) ''युग का, युग की भूखी,, कमजोर हड्डियों का, जिनका पानी

है उठा खौल घिर रहा विश्व पर घटाघोप बादल बनकर।''

उद्धृत—तार सप्तक—सम्पा0 अज्ञेय। ''अपने कवि से'' शीर्षक कविता — भारत भूषण अग्रवाल, पृ0—85।

(88) उद्धृत—तार सप्तक—सम्पा0 अज्ञेय।'' ''वह एक'' शीर्षक कविता-प्रभाकर माचवे, पृ0—202।

(89) उद्धृत–तारसप्तक–सम्पा0 अज्ञेय।"गैंहू की सोच" शीर्षक कविता- प्रभाकर माचवे, पृ0–120।

(90) "एकाकीपन के साथी हैं केवल क्षंगाल।"

उद्धृत– तारसप्तक – सम्पा0 अज्ञेय,"कवि" शीर्षक कविता–डा0 राम विलास शर्मा, पृ0–192।

(91) "बस भूख महामारी का आकुल क्रन्दन ।

X X X

पट गया अध–जली लाशों से कवि गुरू का प्रिय

यह हरा–भरा नन्दन वन।"

उद्धृत–तार सप्तक–सम्पा0 अज्ञेय,"गुरूदेव की पुण्य भूमि" शीर्षक कविता।

– डॉ0 राम विलास शर्मा, पृ0–201।

(92) "कुसंस्कृति भूमि ये किसान की,

X X X

बोना महातिक्त वहाॅ बीज असन्तोष का।

काटती है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।"

उद्धृत – तार सप्तक – सम्पादक अज्ञेय।" कार्यक्षेत्र" शीर्षक कविता।

डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0–232।

(93) उद्धृत – तार सप्तक–सम्पा0 अज्ञेय, 'मैं वहाँ हूँ" शीर्षक कविता – अज्ञेय, पृ0–247।

तृतीय अध्याय

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश :– कवियों के सृजनशील व्यक्तित्व में सहायक मुख्य प्रेरक–तत्व एवं उनका काव्य विषयक दृष्टिकोण[पृ0सं0 – 69 - 153

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेश :– भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था।

- स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में परिवर्तन के विविध आयाम।
- कवि चेतना का उदय : विविध सन्दर्भ।
- कवि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', गजानन माधव 'मुक्तिबोध', रघुवीर सहाय, गिरिजा कुमार माथुर और सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के सृजनशील व्यक्तित्व में सहायक मुख्य प्रेरक तत्व एवं उनका काव्य विषयक दृष्टिकोण।

किसी भी कवि की काव्य-सम्पदा का मूल्यांकन करते हुए सर्वप्रथम यह जानने की उत्सुकता होती है कि उसे 'सर्जनात्मक व्यक्तित्व' की प्रेरणा कहाँ से मिली। वे कौन सी ऐसी परिस्थितियाँ या तत्त्व होते हैं जो उसे काव्य-रचना को विवश करते है। परिवेश से निर्मित 'व्यक्तित्व' का विश्लेषण उसकी रचना के मूल्यांकन में अत्यन्त सहायक होता है। इसके बिना काव्य की मूल-संवेदना को पकड़ना असम्भव तो नहीं पर कठिन अवश्य है।

कवि समकालीन परिस्थितियों से प्रभावित तो होता ही है, साथ ही उसकी रचना में उसकी 'मूल प्रकृति' का भी विशेष महत्व होता है दूसरे शब्दों में कहे तो कवि एक ओर जहाँ समाज से प्रभावित होता है वही दूसरी ओर वह समाज को अपनी प्रतिभा की तूलिका से रँगता भी है। यह प्रतिभा उसे अपने पारिवारिक परिवेश से प्राप्त होती है। वस्तुतः तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ, राजनीतिक-विचारधारा आर्थिक स्थिति व कवि का नितान्त निजी पारिवारिक जीवन ये सभी तत्व कवि की कविता को प्रभावित करते हैं। कुशल कवि इन सभी परिस्थितियों के पुष्पों से रस लेकर समाज को मधुमय काव्यात्मक संदेश देता है।

स्वातन्त्र्योत्तर परिवेशः भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था-

प्राचीनकाल से लेकर आज तक के इतिहास मे यों तो मूल्यहीनता की स्थिति कई बार आयी और उसने समाज को अधःपतित भी किया। पर द्वितीय विश्व युद्ध व स्वातन्त्र्योत्तर भारत में मूल्यों का यह विखराव कुछ अधिक ही दिखाई पड़ा। इन मूल्यों के विखराव का एक प्रमुख कारण तत्कालीन समाज का विज्ञान और प्रविधि की ओर अधिक रूझान है विज्ञान और प्रविधि का इस्तेमाल विश्व युद्ध काल में जम कर किया गया। इससे विश्वशान्ति के प्रतिमान डगमगाये। यह डगमगाहट देश, समाज, परिवार, धर्म व संस्कृति सभी क्षेत्रों में दिखाई पड़ी। वैज्ञानिक चेतना से उत्पन्न बौद्धिकता हमारी

नैतिक एवं व्यावहारिक मान्यताएं बदल गयीं। विज्ञान धीरे-धीरे हमारी संस्कृति में समाहित होने लगा। इससे सभी सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक व आर्थिक मान्यताएं प्रभावित हुई। विज्ञान से बुद्धिवाद को इस हद तक बढ़ावा मिला कि 'बसुवैध कुटुम्बकम्' की भावना लुप्त होती गयी।

द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद भी युद्ध की मनोवृति प्रत्येक राष्ट्र में कम होने के स्थान पर बढ़ी। वे युद्ध की विभीषिकाओं से निबटने के लिए पहले से कहीं अधिक तैयारी में जुट गये। फलतः शीत युद्ध की स्थिति बनी रही। 'शीत-युद्ध' के बने रहने के कारण एक-दूसरे पर विश्वास की भावना में कमी आयी। मनुष्य ही मनुष्य के लिए खतरा बनता गया। इससे नैतिक शक्ति का ह्रास हुआ तथा कोमल भावनाओं का क्षरण हुआ। यह क्षरण मनुष्य में द्वन्द, संघर्ष, तनाव, कुण्ठा व अजीब का कसमसाहट पैदा करने लगा।

विश्व स्तर पर हो रहे इन वैज्ञानिक अथवा बौद्धिक परिवर्तनों के बीच १५ अगस्त सन् १९४७ का दिन, स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर संघर्षरत भारतीय जनता के समक्ष एक नया सबेरा लेकर आया। लेकिन उसके एक दिन पहले देश को 'विभाजन' का ग्रहण ग्रस चुका था। पाकिस्तान के जन्म से साथ ही देश में साम्प्रदायिक दंगे हुए। निर्दोष रक्त की धाराएं बही। लाखों लोग अपने ही देश में शरणार्थी हुए। शान्ति के लिए किये जाने वाले प्रयासों को सफलता नहीं मिल पा रही थी। शान्ति के प्रयास में जी जान से जुटे गाँधी की ३० जनवरी १९४८ को हत्या कर दी गयी। मानवता के इस पुजारी की हत्या देश के लिए बेहद शर्मनाक थी।

स्वतन्त्रता की दहलीज पर कदम रखते ही देश में पुनर्निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। शरणार्थियों को बसाने के लिए आवास, गरीबी, अशिक्षा आदि अनेक समस्याएँ देश में मुहँ खोले खड़ी थी। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही एक नये युग का शुभारम्भ हो रहा

था– नव–भारत की प्रथम आवश्यकता थी देश की पिछड़ी अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित व सुदृढ़ करना ताकि भारत विकास के पथ पर अग्रसर हो सके। भारतीय अर्थव्यवस्था की मूलाधार 'कृषि' अत्यन्त पिछड़ी हुई थी। कृषकों पर सामन्तवादियों का अधिकार बना हुआ था। फलतः श्रमजीवी वर्ग की स्थिति निम्न व दयनीय बनी हुई थी।

स्वतन्त्र भारत की सरकार ने देश–हित को ध्यान में रखकर अपनी आर्थिक योजनाएँ बनाई व उसे पूरा करने के लिए विदेशी पूँजी को आमन्त्रित किया। आरम्भ के कुछ वर्षों में विनियोग कुछ कम हुआ, पर जैसे–जैसे विश्वास बढ़ता गया, विदेशी पूँजीपतियों ने अपनी अधिक पूँजी भारतीय उद्योगों में लगाई। विदेशी पूँजी के सन्दर्भ में सरकारी दृष्टिकोण था कि यह आपसी लाभप्रद शर्तों पर है। विदेशी पूँजीपतियों को लाभ अपने देश ले जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। अतः आजादी के बाद भी देश से धन बाहर जाता रहा। बहुत सी विदेशी कम्पनियों ने लाभ को दृष्टि में रखकर भारतीय कम्पनी के रूप में ही अपना पंजीकरण करवाया। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भारत के महत्व को ध्यान में रखकर अमेरिका ने भी भारत में रूचि लेना आरम्भ किया। उसने भारत की आर्थिक स्थिति में सुधार के लिए काफी धन देकर भारतीय अर्थव्यवस्था में अपना मजबूत स्थान बनाने का प्रयत्न किया।

विदेशी पूँजीनिवेश का एक दुष्परिणाम तो यह हुआ कि उसने भारत को आत्म–निर्भर बनाने के स्थान पर 'पर–निर्भर' बना दिया। और दूसरा दुष्परिणाम देश में पूँजीवादी मनोवृत्ति के प्रसार के रूप में दिखाई पड़ा। देशी उद्योगपति जो अब तक स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग ले रहे थे, स्वातन्त्र्योत्तर परिस्थितियों में अपने हितों को प्रमुखता देने लगे। फलतः उससे सरकारी नीतियाँ भी प्रभावित हुई। यह देश की आम जनता के लिए अहितकर सिद्ध हुआ। व्यक्तिगत हितों को प्रमुखता देने की मनोवृत्ति ने राष्ट्रीय सम्मान को ठेस पहुँचाई। इससे सामाजिकता की भावना में भी बदलाव दिखाई पड़ा।

सरकार ने कृषि-सुधार की ओर ध्यान दिया। कानून बनाकर भूमि को राज्य की सम्पत्ति बनाया व लगान निश्चित कर दी। तथा वसूली का अधिकार राज्य-सरकार को मिला। इससे जमींदारी-व्यवस्था को आघात जरूर लगा, पर वह पूर्णतः नष्ट नहीं हुई। गाँवों में जमीदारों की मनमानी चलती रही, क्योंकि उनके पास जमींदारी उन्मूलन के बाद भी बहुत बड़ा क्षेत्र जोत के लिए रहा। किसानों के पास इतना पैसा नहीं था कि वे इच्छित भूमि का मूल्य चुकाकर उसे खरीद पाते। जमींदारों की जबरदस्ती कृषक-वर्ग में असन्तोष उत्पन्न कर रही थी। सरकार धीरे-धीरे नियमों में संशोधन करती रही, पर विभिन्न सुधारों के बाद भी सामान्य कृषक सुखी नही था।

पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप देश में उद्योगों का विकास हुआ, पर बहुत से क्षेत्रों में आत्म-निर्भरता आने के बाद भी विविध समस्याएँ बनी रही। समाजवादी समाज की स्थापना का लक्ष्य अभी दूर था। एकाधिकार को सीमित करने के लिए सरकार प्रयत्नशील थी। इसी के तहत बैकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। कुछ लघु उद्योगों का भी विकास हुआ। पर विकास के साथ-साथ मँहगाई भी बढ़ रही थी, काला धन बढ़ रहा था व शोषण की मनोवृति भी बढ़ रही थी। अभी समाजवाद आकाश-कुसुम बना हुआ था।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत निरन्तर भौतिक प्रगति करता हुआ समाज व अर्थव्यस्था को तेजी से प्रभावित कर रहा था। यान्त्रिक अविष्कारों ने उद्योगों के क्षेत्र में हमारे उत्पादन को तो बढ़ाया, पर कुटीर उद्योगों के लिए अनेक जटिलताएँ उत्पन्न कीं। उद्योगों की वृद्धि के साथ-साथ पूंजी व साख की मात्रा में वृद्धि की आवश्यकता महसूस हुई। साथ ही पूंजी व श्रम की समस्या भी जटिल होने लगी। औद्योगीकरण के फलस्वरूप आवास, शिक्षा व स्वास्थ्य सम्बन्धी माँग भी बढ़ने लगी, क्योंकि इससे गाँव से शहर जाकर मजदूरी व नौकरी करने की प्रवृति को बढ़ावा मिला।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में कृषि-शिक्षा, तकनीकी शिक्षा व उच्चस्तरीय चिकित्सीय शिक्षा की ओर काफी ध्यान दिया गया। कृषि-शिक्षा को एक प्रमुख राष्ट्रीय मामला समझा गया । अतः कृषि-कालेजों की संख्या में वृद्धि की गयी। तकनीकी संस्थान व कालेज भी बढ़े। दूसरी, तीसरी पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान देश मे कोई आठ कृषि-विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी। छात्रवृत्तियां देकर मेधावी छात्रों को आकृष्ट किया गया। पर जनसंख्या में तीव्र वृद्धि होने के कारण उपलब्धियाँ कम ही दिखाई दी, और शिक्षा का स्तर लगातार गिरता गया। छात्रों की संख्या अधिक होने के कारण उनकी योग्यता व बेहतर स्तर का सही मूल्यांकन न हो सका। फलतः उचित प्रेरणा के अभाव से उत्पन्न निराशा के कारण उनकी योग्यता मे निखार न आ सका। १९६० से १९७० के बीच विश्वविद्यालयों की डिग्री का मूल्य अचानक इतना गिर गया कि कई दीक्षान्त समारोहों मे यह बात सुनने को मिली-'डिग्रियाँ नही नौकरियाँ चाहिए।' बेराजगारी की चिन्ता के कारण छात्रों में उच्च अध्ययन के प्रति रूचि कम हुई। अध्यापकों के अध्ययन और अध्यापन पर भी इसका प्रभाव पड़ा। उनके और छात्रों के बीच मानसिक असहयोग का माहौल बनता गया। इसका देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भविष्य पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।

स्वाधीनता प्राप्ति के साथ ही सामाजिक समस्याओं को एक नये दृष्टिकोण से देखा गया। सामाजिक बुराई 'अस्पृश्यता' (छूआछूत) को तुरन्त समाप्त करने के प्रयत्न किये गये। भारतीय संविधान के अनुच्छेद १७ में अस्पृश्यता खत्म करने के लिए व्यवस्था की गयी। अस्पृश्यता के आधार पर किसी को अयोग्य मान लेना कानून के अन्तर्गत दण्डनीय अपराध माना गया। संविधान के अनुच्छेद १५(२) के अनुसार धर्म जाति-पाँति, जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव किये बिना सभी नागरिकों को सभी स्थानों पर कुओं, तालाबों व सड़कों का उपयोग किये जाने का अधिकार दिया गया। सामाजिक बुराइयों को दूर करने

के लिए बाद में भी अन्य अनेक कानून बने। और उनसे कुछ हद तक लाभ भी हुआ। पर इन सामाजिक बुराइयों को जड़ से समाप्त न किया जा सका।

भारतीय लोकतन्त्र आकार व जनसंख्या की दृष्टि से दुनियाँ का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है। साथ ही, यहाँ की जनता को अन्य लोकतान्त्रिक देशों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता मिली हुई है। भारतीय लोकतन्त्र में सभी वयस्कों को, चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हों, मतदान का समान अधिकार मिला हुआ है। जनता द्वारा चुनी हुई सरकार में जनमत के आदर की भावना मिली हुई है। यहाँ सत्ता विकेन्द्रित है। राष्ट्र की आवश्यकता व जनता की भावनाओं का आदर करते हुए भारतीय संविधान रचा गया है। लोकतन्त्र के महत्वपूर्ण पहलुओं की जड़े जन-जन में दृढ़ता के साथ समाई हुई हैं।

हमारे संविधान में यह स्पष्ट व्यवस्था है कि संसद में जिसे बहुमत प्राप्त होगा वही अन्य सभी दलों की सहायता से देश में शासन करेगा। किन्तु बहुत सारे राजनीतिक दलों के अस्तित्व में आने से लोकतन्त्र के व्यावहारिक पक्ष पर बुरा असर पड़ा। इससे शासन में अस्थिरता आयी, क्योंकि एक दल के अकेले बहुमत प्राप्त करने में असमर्थ होने या उसे अन्य दलों की सहायता से सरकारें बनानी पड़ती थी। वैचारिक मतभेद होने के कारण ऐसी सरकारों की स्थिरता अनिश्चित थी। स्वयं पार्टी में फूट व दल-बदल प्रणाली भी शासन की अस्थिरता के लिए उत्तरदायी बनती थी। १६६६ में ऐतिहासिक कांग्रेस पार्टी में विघटन ने इसी प्रकार की अस्थिरता को जन्म दिया।

भारतीय लोकतन्त्र का भविष्य राजनीतिक व अन्य संवैधानिक व्यवस्था की अपेक्षा सामाजिक व आर्थिक समानता पर अधिक निर्भर था। अतः स्वतन्त्रता के बाद संविधान निर्माताओं ने कुछ आर्थिक लक्ष्य रखे। ये लक्ष्य इस सोच के तहत बनाये गये थे कि राज्य अपनी आर्थिक सीमाओं के अन्दर रहकर इन्हें प्राप्त कर सके। ये इस प्रकार हैं - (१) सबको काम व शिक्षा

दिलाना (२) बेराजगारी, विकलांगता, बीमारी, बुढ़ापा आदि से ग्रस्त लोगों तथा अन्य जरूरत मन्द लोगों के लिए सरकारी सहायता जुटाना आदि।

आजाद भारत के संविधान से देशवासियों को यह आशा थी कि वह जनता के संकटों को दूर करेगा। विभिन्न समस्याओं का सन्तोषजनक हल अवश्य ही निकलेगा। समाजवाद की स्थापना का संकल्प पूरा होगा। संविधान में बनाये गये कानून, सिद्धान्त व नीतियाँ आम आदमी के हित को ध्यान में रखकर ही बनायी गयी थीं। पर आजादी के बाद की यथार्थ वास्तविकता तो कुछ और ही थी-

"सन् ४७ में जिस अर्थनीति, विदेश-नीति, राजनीति और नौकरशाही तन्त्र को स्वीकार किया गया उसका तार्किक अन्त वही होना था, जिससे आज देश गुजर रहा है। देशी विदेशी लूट, आर्थिक मँहगाई की मार, उत्पादन सम्बन्धों का पिछड़ापन, नौकरशाही का आतंक तरह-तरह के भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, जाति-पाँति आदि कितनी ही समस्याओं ने हमारे समाज में जीवन को संकटपूर्ण बना दिया है।"[1]

स्वतन्त्रता के पहले तक तो राष्ट्र-हित, जन-हित प्रमुख था पर अब स्वहित साधना अधिक बलवती हुई। जातीयता, प्रान्तीयता, भाई-भतीजावाद, घूसखोरी, अनैतिकता आदि का ही बोलबाला हो गया। ईमानदार व्यक्ति इस वातावरण में घुटन महसूस कर रहा था। स्वार्थी व घूसखोर व्यक्ति देश के सर्वेसर्वा बनकर जनता के शोषण में रत थे। हड़तालों, आन्दोलनों, तालाबन्दी का दौर थमा नही था। इससे जन-जीवन त्रस्त था। त्याग के प्रतिरूप गाँधी के समान दूसरा युग-पुरूष पैदा नहीं हुआ, जो समग्र जन-सामान्य को साथ लेकर चल सके। फलतः जन-जन के बीच खाई बढ़ती रही।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-कविता में परिवर्तन के विविध आयाम-

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 'आम-जनता की आशा आकांक्षाओं की पूर्ति' के सन्दर्भ में कुछ कवियों का दृष्टिकोण प्रारम्भ में सकारात्मक था। उन्हें लग रहा था कि 'अब'

पहले से भिन्न परिस्थितियों में आम-आदमी को उसका हक अवश्य मिलेगा। पर सत्ता की प्रारम्भिक नीतियों व कार्यो से उनकी आशा निराशा में परिवर्तित होती गयी। उनका मन नवीन स्पन्दनों को सुनने के लिए बेचैन था, पर जब स्वातन्त्र्य-पूर्व युग की पुनरावृत्ति होती उन्हें दिखाई दी (स्वतन्त्रता के बाद भी विशिष्ट वर्ग बने रहे और पीड़ित जन की विपन्नता में कोई कमी न आयी) तो ऐसी स्थिति में कवियों का आक्रोश स्वाभाविक था। यह विषम परिस्थिति साहित्यकारों के सामने चुनौती बन कर उभरी। उन्होंने इस विषम परिस्थिति के लिए जिम्मेदार सत्तासीनों के पूँजीवादी-शोषक चरित्र को अपनी लेखनी के माध्यम से उजागर करने व जनता की आवाज को समाज के हर वर्ग तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया।

आजादी के बाद कवियों का एक वर्ग ऐसा भी दिखाई पड़ता है, जिन्हें सत्ता पक्ष से पूरा-पूरा सहयोग मिल रहा था। ये कवि उस समय व्यक्तिगत सुख-दुःख, निराशा, कुण्ठा से मुक्त कविताएं लिख रहे थे। उनका मानना था कि आजादी मिल गयी है तो सबकी आकांक्षाएँ अवश्य ही पूरी होगी। धीरे धीरे ही सब कुछ व्यवस्थित हो पायेगा। शीघ्रता पूर्ण सब कुछ पा लेने की आशा व्यर्थ है। अतः कुछ वर्ष तक सत्ता के विरूद्ध संघर्ष की आवश्यकता नहीं है। यह प्रवृति लेखकों के एक बड़े तबके में देखी गयी। समय बीतता गया, पर आम आदमी की स्थिति मे परिवर्तन न होते देख कवियों का यह वर्ग भी व्यक्तिगत दुःख-दर्द का आँचल छोड़कर आम-आदमी के दुःख-दर्द में शामिल हुआ और सत्तासीनों के खिलाफ अपनी लेखनी के माध्यम से जमकर प्रहार किये। इन प्रवृत्तियों के साथ ही स्वातन्त्र्योत्तर कुछ कवि रोमांटिक अन्दाज में अपनी रागात्मक, रंगीन भावनाओं को शिल्प के सौन्दर्य से सजाकर उसका चित्रात्मक विधान कर रहे थे।

स्वतन्त्रता के बाद नगरों के आडम्बर-युक्त, कृत्रिम-जीवन ने जनमानस को अपनी ओर तीव्रता से आकृष्ट किया पर कुछ समयोपरान्त औद्योगीकरण व नगरीय जीवन-बोध

के आकर्षण से उपजी अनेक समस्याओं ने जन मानस के साथ-साथ कवियों को भी गाँव की ओर आकृष्ट किया। उन्हे ग्रमीण जीवन व सुषमा के बीच वह सहजता दिखी, जो शहरी कृत्रिमता से कोसों दूर थी । फलतः कवियों ने गाँव की प्रकृति, वहाँ के जीवन की उन्मुक्तता, सरलता, सहजता को जीवन-आदर्श के रूप में अपनाने की प्रेरणा देते हुए अपनी लेखनी में प्रमुख स्थान दिया।

वस्तुतः आजादी के बाद की परिस्थितियों को लेकर कवियों के अलग अलग दृष्टिकोण के कारण उनकी कविताओं में विविध काव्य-प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। आजादी के बाद की कविता में दिखाई पड़ने वाले कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन इस प्रकार है-

(१) स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता उस तत्कालीन यथार्थ जीवन से संजीवनी प्राप्त कर रही थी, जो साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, जातिवाद, भाई-भतीजावाद से आक्रान्त था। सत्ता की दुर्नीतियों व पूँजीवादी मनोवृत्ति का सीधा प्रभाव आम जनता की बदहाली से जुड़ा हुआ था। अतः शासन के पूँजीवाद समर्थक व जन-विरोधी चरित्र का पर्दाफाश करना इन कवियों का प्रमुख लक्ष्य था।

(२) स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में जीवन के प्रति आस्था दिखाई पड़ती है। उसने जीवन को 'जीवन' की तरह देखा, 'वर्ग', 'व्यक्ति' या 'समाज' में बाँटकर नहीं। जीवन के एक-एक क्षण की सच्चाई कवि की अनुभूति का विषय बनी है। यह अनुभूति उनकी कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्त होकर सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का निर्वाह अत्यन्त कुशलता से करती है।

(३) स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता झंझावातों के झेलने की शक्ति प्रदान करती है। इसका नायक कोई राजकुमार नहीं, वरन् वह आम आदमी है जो सत्ता व व्यवस्था की दुर्नीतियों से सबसे अधिक पीड़ित है। इस आम-आदमी की जीवनेच्छा को सुदृढ़ करना व उसमें आत्म-विश्वास जागृत करना इन कवियों के कथ्य का एक महत्वपूर्ण पहलू है।

(४) यह सत्य है कि स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता में निराशा, कुण्ठा, हताशा व मरण धर्मिता दिखाई पड़ती है, लेकिन इसका कारण 'मात्र व्यक्तिगत दुःख-दर्द' ही नही है। आम-जनता का पुराने जड़-मूल्यों से चिपके रहना व कवियों द्वारा उन्हें न बदल पाने से उत्पन्न दर्द भी उनमें निराशा उत्पन्न करता है। पर यह निराशा स्थायी नही रहती। अन्ततः कवि आशावादी दृष्टिकोण के साथ नये परिवेश में नये व सार्थक मूल्यों की स्थापना के प्रति आश्वस्त दिखाई पड़ते हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कविता की एक प्रमुख विशेषता 'लोक के प्रति उनकी निष्ठा' है। उसका सहज रूझान लोक जीवन व उसकी संवेदनाओं की ओर है । सामान्य-जन के प्रति उसका लगाव आजादी-पूर्व के काव्य-सन्दर्भो से भिन्न है। आजादी के पूर्व की कविता में तत्कालीन परिवेशानुरूप आन्दोलन का स्वर प्रमुख है, पर स्वाातन्त्र्योत्तर कविता में व्यक्त लोक जीवन विविध सहजानुभूतियों व संवेदनाओं से भरा है। गाँव का सहज प्राकृतिक रूप, वहाँ की मिट्टी की सोंधी महक ने कवियों को विशेष रूप से प्रभावित किया।

कवि चेतना का उदय : विविध सन्दर्भ

स्वातन्त्र्योत्तर कवियों में जिन प्रमुख कवियों की कृतियों मे 'लोक संवेदना' का अध्ययन किया गया है, वे कवि लोक जीवन व संवेदना के विविध पहलुओं से गहराई से जुड़े हुए है। नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री धूमिल, मुक्तिबोध व गिरिजा कुमार माथुर का जीवन ग्रामीण धरती के कणों से प्रारम्भ हुआ है। इस कवियों ने अपने जीवन में विषम परिस्थितियों के झंझावतों को झेलते हुए अपनी प्रतिभा की दीपशिखा को सुरक्षित रखा है। कवि नागार्जुन, त्रिलोचन, धूमिल व मुक्ति बोध का बचपन अभाव की अग्नि में पला, यौवन कांटो के पथ पर चलते-चलते छलनी हुआ और जीवन का उत्तरार्ध उत्तम भविष्य के सूर्योदय की प्रतीक्षा में ओस कण की तरह चमकता हुआ भले ही

लुढ़क गया हो किन्तु उन्होनें कभी आशा न ही छोड़ी। शोषित-पीड़ित जनों के दुःख-दर्द में अपने दुःख की अनुभूति करते हुए उन्होनें इनके प्रति संवेदना ही व्यक्त नही की वरन् इनकी निम्नतम स्थिति के जिम्मेदार शासक व शोषक वर्ग को आवरणहीन करने का भरसक प्रयास अपनी लेखनी के माध्यम से किया। नागार्जुन धूमिल और मुक्तिबोध तो हनुमान की भाँति लंका-दहन को तत्पर रहते हैं। केदारनाथ अग्रवाल और गिरिजाकुमार माथुर भी इनसे पीछे रहने वाले नहीं है। इनकी कविता के हाथ में न बुझने वाली अद्‌भुत चिन्गारी हैं। त्रिलोचन की 'धरती' तो हृदय को हिला देने की क्षमता रखती है। अज्ञेय की रचनाएँ शोषितों को 'बावरा अहेरी' जिसके लिए कुछ भी अबध्य नही है, से सुरक्षा प्रदान करने के लिए संघर्ष की ओर चलने की प्रेरणा देती है। मुक्तिबोध अँधेरे में पड़े हुए दलितों-शोषितों के हाथ में न बुझने वाली मशाल देकर उन्हें सचेत करते है कि चाँद (पूँजीपति) की चाँदनी के छलावे कभी मत आना क्योंकि उसका मुँह सदा ही टेढ़ा रहता है। रघुवीर सहाय शासन की दुर्नीतियों से इतना क्षुब्ध थे कि उन्होनें शोषितों-पीड़ितों व दलितों के अस्तित्व की सुरक्षा के लिए "आम हत्या के विरूद्ध" होकर अपनी लेखनी को अत्यन्त प्रभावकारी व जीवन्त रूप प्रदान किया।

इन कवियों की रचनाओं का प्रेरक तत्त्व न केवल उनका अपना भोगा हुआ जीवन मात्र है वरन् समाज में पशुओं से भी बदतर जीवन जीने वाले किन्तु सबको अन्न-पानी, रहने के लिए महल, तन ढंकने के लिए वस्त्र देने वालों के प्रति-अमिट प्यार है। कवि के निजी पारिवारिक जीवन व विषम परिवेशिक स्थितियों ने ही मिलकर उनकी "काव्य-दृष्टि" का निर्माण किया । उनकी यह "काव्य-दृष्टि" उनके सृजनशील व्यक्तित्व का आइना है, जो जन-जन की संवेदनाओं से लबालब भरी हुई है, जिसे व्यक्तित्व के भली भाति विश्लेषण के द्वारा ही समझा जा सकता है।

नागार्जुन के सृजनशील व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक मुख्य प्रेरक तत्व तथा उनकी काव्य विषयक दृष्टि :-

कलाकार के सामाजिक-दायित्व के प्रति सजग कवि नागार्जुन अपनी कविताओं से सर्वत्र जीवन व जगत् की विसंगतियों व विद्रपताओं से जूझते व उनके प्रति आक्रोश व्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं। जब हम तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक परिवेश में व्याप्त जड़ता व इनके बीच पिसते आम जन की व्यथा के प्रत्यक्ष साझीदार बनकर देखते हैं तो उनका यह संघर्ष या आक्रोश कहीं निरर्थक प्रतीत नहीं होता। नागार्जुन का बचपन इन विसंगतियों के बीच गरीबी की मार झेलते शोषित-पीड़ित जनों के साथ ही व्यतीत हुआ है। उन्हीं के शब्दों में "..... मेरे पिता मिथिला के एक साधारण गरीब किसान थे। पढ़े-लिखे वे कुछ थे नहीं। मुझे पढ़ाना चाहते थे। .... मुझे प्राइमरी स्कूल में डाला गया, पर मेरी पढ़ाई वहाँ न हो सकी। गरीबी के कारण गाड़ी आगे नहीं बढ़ी।"[2] अपनी शिक्षा व साहित्य-लेखन की चर्चा करते हुए आगे वे कहते हैं "उस समय संस्कृत-पाठशालाएं हुआ करती थी। मुझे ऐसी ही पाठशाला में दाखिल करा दिया गया। वहीं मैंने संस्कृत पढ़नी आरम्भ की। उन्हीं दिनों में संस्कृत में श्लोक लिखने लगा .... मेरा मन तो शब्दों के खेल में ही लगता था। मैं श्लोक ही गढ़ा करता था।"[3] उनके काव्य-गुरू थे – अनिरूद्ध मिश्र और पं० सीताराम, जिनके सहयोग से उन्होंने भाषा व छन्द सम्बन्धी ज्ञान अर्जित किया। जब उनके विद्धान् चाचा ने नागार्जुन के श्लोक लिखने की बात पिता से कही, तो उन्हें कुछ अच्छा न लगा, क्योंकि वे कुछ और ही आशा अपने पुत्र से करते थे। पर नागार्जुन ने अपने पिता की उम्मीदों की परवाह कभी नहीं की, क्योंकि बचपन में ही माँ पर किये गये अत्याचारों से क्षुब्ध नागार्जुन कभी दिल

से उनसे आत्मीय सम्बन्ध नहीं बना सके। माँ के प्रति पिता के इस दुर्व्यवहार का उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिसे वह कभी भुला न सके और जिसकी मुखर अभिव्यक्ति उन्होनें अपने उपन्यास "रतिनाथ की चाची" में की।

चार-वर्ष की उम्र में ही मातृ-विहीन हो जाने वाले नागार्जुन को जो चीज पिता से विरासत के रूप में प्राप्त हुई, वह है- उनका भ्रमणशील स्वभाव व गृहस्थ जीवन के प्रति उपेक्षा। पिता के समान ही भ्रमणशील होने के कारण वे भी आपका नियमित स्त्रोत न बना सके और गृहस्थ जीवन की देख-रेख में विफल रहे। इस बात से यह अनुमान लगाना ठीक नहीं कि वे पारिवारिक-दायित्व से बिलकुल ही बेखबर रहे। नागार्जुन पिता के कृत्यों से असन्तुष्ट हो घर से भाग तो जाते हैं पर अपने गृहस्थ जीवन को वह कभी भुला नहीं पाते। घुमक्कड़ी करते वक्त भी उन्हें अपने परिवार का ध्यान रहता है, तभी तो वे कह सके है कि "वहाँ से (प्रकाशकों से रायल्टी का) पैसा वसूले तो दो बोरा धान डलवा आएँ गाँव में, फिर निश्चिन्त निकल जाए घुमक्कड़ी पर।"[4] उन्होनें एक गृहस्थ-व्यक्ति की भाँति घर की देखभाल कभी नहीं की, इस बात को वे स्वयं स्वीकारते है। "हमने नौकरी की ही नहीं तब स्थायी गृहस्थी कैसे होती। ....गाँव जाते रहते हैं लेकिन एक पल जो वह लगातार निरन्तर गृह-जीवन होता है, वह हमारा हुआ नहीं।"[5] उनकी पत्नी अपराजिता देवी को उनसे कोई शिकायत नहीं। वे कहती है "........जिसे अपनी चिन्ता नहीं, ऐसे आदमी से क्या शिकायत करें।"[6] पिता की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी गाँव की जमीन से खाने लायक कमा लेती थी, अतः उन्हें कमाने की महती आवश्यकता कभी प्रतीत नहीं हुई। पत्नी का परिवारिक दायित्व को भली-भाँति संभालना उन्हें इससे मुक्त रखने में सहायक हुआ।

पारिवारिक 'बंधन' को स्वीकार न करने वाले कवि नागार्जुन के स्वभाव का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि वे जहाँ कहीं भी रहते हैं उनसे नितान्त आत्मीय सम्बन्ध बना

लेते हैं। बच्चों, बड़ों व बूढ़ों के साथ उनके जैसा ही व्यवहार उनके स्वभाव की सहजता का परिचायक है। उनकी तुनक-मिजाजी भी उन पर ही व्यक्त होती है जिसे वे आत्मीय मानते है। जिसे पसन्द नहीं करते, उसे कभी मुँह नहीं लगाते। इस सन्दर्भ में वे स्वयं कहते हैं- "जिससे हम मिलना चाहे उसके लिए हम अति सुलभ है और जिससे न मिलना चाहे, उसके लिए दुर्लभ।"[7] नागार्जुन से मिलने वाला हर वह व्यक्ति जो उनके तुनक-मिजाजी वाले रूप को भली-भाँति जानता है, उनके सहज व्यवहार, रहन-सहन व जीने के ढंग से अवश्य ही प्रभावित होता है। "खद्दर की मोटी पोशाक, मोटादाना पानी और न टूटने वाला सजीव संघर्ष"[8]-यह नागार्जुन के व्यक्तित्व का वह रूप है जो उन्हें जन-जन में प्रसिद्धि दिलाये हुए है। यह फक्कड़ और घुमक्कड़ कवि जन-जन के दिलों में उनका ही प्रतिरूप बनकर जीना चाहता है। यही जन उन्हें एक स्थान पर टिक कर विश्राम करने से रोकता है और वे ऐसे जन की पीड़ा को दूर करने के लिए सतत् चलते रहते हैं।

धार्मिक-कट्टरता, जातिगत-भेदभाव व छुआछूत की भावना तनिक भी उनके मन में नहीं है। अतः भ्रमण के दौरान उन्हें खान-पान व इससे उत्पन्न अन्य कठिनाईयों का सामना कभी नहीं करना पड़ा और बड़ी सहजता से इनका भ्रमण कार्य चलता हैं। यायावर जीवन के दौरान ही उन्होनें अनुभव किया कि साधारण जनों की अज्ञानता व अशिक्षा के कारण ही जाति व धर्म उनकी समस्याओं का मूल कारण बना हुआ है, जिससे सामाजिक विषमता बढ़ती है व इसके फलस्वरूप जन-जन में स्वस्थ भारतीय-दृष्टि नहीं पनपने पाती। उन्हीं के शब्दों में "इतिहास साक्षी है कि हमारे समाज में वर्णवाद, जातिवाद, सम्प्रदाय और वर्ग की गन्दी नालियाँ बराबर बहती रही हैं। इसी पृथकत्व की भावनाओं ने अखिल-देशीय-भावना को उभरने से रोका है। ब्राह्मण-अब्राह्मण, सवर्ण अछूत जैसे पचड़ों ने ही एक सेहतमन्द व्यापक भारतीय-दृष्टि को पनपने नहीं दिया।"[9]

अतः उन्होनें जन-जन में व्याप्त इन जाति व धर्मगत रूढ़ियों व आडम्बरों की कटु आलोचना की। ब्राह्मण होकर भी उन्होंनें कभी ब्राह्मणत्व का रौब न झाड़ा। भिक्षु इसलिए बनना पड़ा कि संस्कृत के अध्यापन के दौरान उनके शिष्यों को अपने गुरू से उच्च आसन पर बैठकर पढ़ने में असुविधा होती थी, क्योंकि बौद्ध नियमों के अन्तर्गत बौद्ध-भिक्षु ही गुरू के उच्च-आसन का अधिकारी था। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म और जाति उनकी दृष्टि में कभी महत्वपूर्ण नहीं रहे। वे अपनी जाति के उच्चवर्ग से जुड़ने की अपेक्षा सदैव अपने से निम्न माने जाने वाले लोगों से घुलमिल कर रहे। इसलिए अपनी कविताओं में उन्होनें सर्वत्र ऊँच-नीच की भावना का विरोध किया।

जन-जन की एकता का सपना संजोये कवि नागार्जुन ने अपने भ्रमणशील जीवन में विविध अनुभवो से गहन साक्षात्कार किया । सन् १६३४ से १६४१ के बीच विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए उन्होनें अनेक कार्य किये। आठ-दस महीनों तक पंजाब में रहकर स्वामी केशवानन्द की "दीपक" नामक मासिक-पत्रिका का सम्पादन किया।[10] वहाँ से स्वामी केशवानन्द के आर्शीवाद के साथ दक्षिण की ओर गये। सन् १६३६ के अन्त में श्रीलंका गये, जहाँ उन्होंनें मूल बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए 'पालि' सीखी तथा बौद्ध-भिक्षुओं को संस्कृत का ज्ञान कराया।[11] इसी कार्य के चलते वे बौद्ध-भिक्षु बने थे। लंका-प्रवास के समय ही समाजवादी अध्यापक-बन्धुओं से परिचय बढ़ा तभी मार्क्स, लेनिन स्टालिन की कृतियों को पढ़ने का अवसर मिला। सन् १६३८ में लंका से वापिस आने पर अपने राजनैतिक गुरू विख्यात किसान नेता स्वामी सहजानन्द के सम्पर्क में आने पर ही इन्होंने प्रगतिशीलता[12] का पहला पाठ पढ़ा । स्वामी जी ने उनसे कहा "क्या करोगे पुरातत्त्व का, पुरालेख का, नये तत्त्व से जूझो, नये लेख को बाँचो ।" इस कथन ने उनके जीवन में आशातीत परिवर्तन कर दिया और वे वर्तमान समस्याओं से मुँह मोड़कर अतीत की ओर न जा सके। १६३८ में पुरातत्त्व की जानकारी के लिए तिब्बत यात्रा पर

जाने के निर्मित से भारत लौट आये, पर बद्ली हुई मनोवृत्ति के कारण तिब्बत न जाकर भारत में ही किसान-आन्दोलन के नेतृत्वकर्त्ता स्वामी सहजानन्द के सहयोगी हुए और उनके जेल जाने पर उन्होनें स्वयं आन्दोलन का नेतृत्व किया, जिसके कारण उन्हें भी जेल-यात्रा करनी पड़ी।[13]

इस भ्रमणशील जीवन काल में विविध कार्यो को करते हुए नागार्जुन दलित-पीड़ित जन की ओर सर्वाधिक आकर्षित हुए। उनके हाथों में मजबूती से लेखनी पकड़ाने वाला यह दुःखी-पीड़ित जन ही है, जिनकी अन्तहीन पीड़ा उनकी लेखनी को विश्राम नहीं करने देतीं। वे पीड़ित-जनों के बीच में रहकर उनके हृदय की व्यथाओं मे समाविष्ट रहे। अपनी कविताओं में व्यक्त किये गये जीवन के कटु अनुभवों को उन्होंनें पग-पग पर भोगा है। गरीबों की व्यथा का भुक्त भोगी यह कवि तत्कालीन यथार्थ से मुँह मोड़कर कविता के स्वप्निल-आकाश में विचरण करता कहीं भी नजर नहीं आता। सच कहा जाय तो, शोषित-पीड़ित-दलित जन-जीवन के साथ अपने को विलीन कर देने वाले कवि नागार्जुन की पहचान ही दुःख संवलित मानवता की पीड़ा का साकार रूप है। नगरों में रहते हुए भी वे कभी सीमान्त बस्तियों में अभावों में साँस लेने वाले दुःखार्त जनों को विस्मृत न कर सके। उन्ही के शब्दों में "जब कभी मैं ग्रामांचलों के किनारे-किनारे बसी हुए झुग्गियों की दुनियाँ में जाता हूँ, तो सुविधा प्राप्त वर्गो द्वारा परिचालित राजनीति के प्रति मेरा रोम-रोम नफरत में सुलग उठता है।"[14] इन झुग्गियों में बसे लोगों का पीड़ादायी जीवन ही उन्हें इस स्थिति के जिम्मेदार व्यक्तियों, राजनीतिज्ञों, व पूँजीपतियों पर कटु प्रहार करने को विवश करता है और वे कह उठते है कि इन सामाजिक-विषमताओं व विद्रूपताओं के बीच वे कैसे प्रेम और शान्ति की कविता लिखें। अपने जैसे कोटि-कोटि जनों की दयनीय स्थिति ही उनसे आक्रोश भरी व्यंग्यपूर्ण कविताओं की अग्निमयी सृष्टि कराती है।[15]

देश में बढ़ती पूंजीवादी मनोवृति व राजनीतिज्ञों का इन वैभवशाली शक्तियों से गठजोड़ उन्हें असह्य है, क्योंकि इसका सीधा प्रभाव आम-जनता पर पड़ता है। आम जनता के हित में बनने वाली नीतियों का मात्र पन्नों पर ही सुशोभित होना कवि में सत्ता के प्रति आक्रोश उत्पन्न करता है। इन स्थितियों में कवि नागार्जुन प्रश्न करते हैं कि क्या यह स्थितियाँ लेखक की चिन्ता के विषय नही ?[16] कवि नागार्जुन अपने को हर उस व्यक्ति के साथ खड़ा करते है, जो इस विषमता को मिटाने में कृतसंकल्प है। उनकी लेखनी एक ऐसे समाज के सृजन की पक्षधर है, जहाँ पीड़ित-जन जागरूक होकर अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ सके। इस अर्थ में काव्य में सार्थक पक्षधरता या प्रतिबद्धता को वे अनुचित नही मानते। अपनी एक कविता में वे कहते हैं-

"प्रतिबद्ध हूँ, जी हाँ प्रतिबद्ध हूँ
बहुजन समाज की अनुपल प्रगति के निमित्त
संकुचित-स्वार्थ की आपा-धापी के निषेधार्थ
अविवेकी भीड़ की भेड़िया-धसान के खिलाफ
अन्ध बधिर व्यक्तियों को सही राह बतलाने के लिए।"[17]

नागार्जुन अपने साहित्य में ही नहीं वरन् जीवन में भी पीड़ित जन की संवेदना से गहरे स्तर पर जुड़े हुए है। इनके हित कुछ कर सकने की आशा के साथ ही उन्होनें मार्क्सवाद को व्यावहारिक स्तर पर अपनाया, क्योंकि मार्क्सवादी-सिद्धान्त शोषित-पीड़ित जन को दुःख से मुक्ति के प्रमुख लक्ष्य के लेकर ही अस्तित्व में आया था। इसी शोषित-पीड़ित वर्ग की चिन्ता को केन्द्र में रखते हुए वे मार्क्सवादी विचारधारा के अलावा गाँधीवादी, सुभाषवादी, समाजवादी, आदि विचारधारा वाले संगठनों के साथ जुड़े, पर अपने स्पष्टवादी मुखर स्वभाव के कारण उन्होंने किसी सिद्धान्तहीन संगठन से समझौता नहीं किया। वे कहते है- "हम संगठन के विरूद्ध नहीं है, लेकिन संगठन के साथ होने का

मतलब अगर यह लगाया जाता हो कि हम अपने विवेक के शत्रु हो जाय तो हमे स्वीकार नहीं। हम सर्वहारा के साथ है अपनी राजनीति में, अपने साहित्य में किन्तु हमें इस विषय में किसी की लगायी कोई कैद मंजूर नहीं है।"[18] स्पष्ट है कि उनका कवि किसी भी राजनीतिक पार्टी से सम्बद्ध होकर नही वरन् तत्कालीन राजनीति से प्रभावित शोषितों के पक्ष में काव्य सृजन करता है। अब अगर कोई पार्टी या खेमा गरीबों, पीड़ितो व शोषितों के लिए कुछ करना चाहता है तो लेखक का उससे मदद लेना अनुचित नहीं।[19]

पर तानाशाही राजनीतिक शक्तियों के वे खिलाफ हैं। इनसे सर्वहारा वर्ग की मुक्ति हेतु संगठित जन-संघर्ष के लिए जनमत तैयार करने को कवि अपने प्रमुख दायित्वों में से एक मानते है। उन्हीं के शब्दों में "शोषण और तानाशाह शक्तियों के खिलाफ जनमत तैयार करना मेरा पहला काम हो जाता है। संघर्ष के लिए जो प्रतीक मुखरित होते है, उन्हें उभारता हूँ ताकि रग रग में वह माहौल पैदा हो जाए।"[20]

नागार्जुन को युवा-पीढ़ी का वही कवि पसन्द है, जिसकी रचना में मौजूदा संघर्ष मुखर हो।[21] अपनी ही कुण्ठा, घुटन को लेकर आत्म केन्द्रित रहने वाला कवि उनकी दृष्टि में निरर्थक काव्य-रचना करता है, क्योकि कविता की सार्थकता तो तभी है जब कवि उसमें अपनी व्यथा व उल्लास का साधारणीकरण का सके।[22] कविता की रञ्जकता को वे अस्वीकार नहीं करते, पर वे अच्छी तरह जानते है कि देश में "शिक्षा का अनुपात कभी इतना नहीं होगा कि सबके सब कालिदास के 'मेघदूत' का आनन्द ले सकें। इसलिए हमारे युग के कवि को मोटे मुद्दों को लेकर भी कविता लिखनी होगी।"[23] इसी क्रम में आगे वे कहते है कि "मेरे लिए भूख अभी तो स्थायी भाव है। जब तक यह है, तब-तक मुँह कैसे फेरा जा सकता है इस ओर से ।"[24] स्पष्ट है कि देश में व्याप्त भूख और इससे जुड़ी समस्याएँ कवि को मनोरंजन का साहित्य लिखने से रोकती हैं। उनके लेखन-परिवार में खेतिहर, मजदूर, मेहनतकश, ठेला खींचने वाले, लारी चलाने वाले, भिखारी, बूढ़े व बच्चे

शामिल है न कि आराम करने की ऊब से बेचैन लोग।[25] कविता रचते समय यही जन उनके सामने रहते हैं। इन्ही की पीड़ा व अन्य जीवनानुभव इन्हीं के बीच प्रचलित व शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते है। परिस्थितियाँ चाहे कैसी भी हो, उनकी कविताओं में व जीवन में भी साधारण जन से उनकी निकटता कभी कम नहीं होती। यह निकटता ही कवि को इनके हित के लिए सक्रिय योगदान करने को सदैव तत्पर रखती है। अन्य लेखकों से भी कवि यही अपेक्षा करते हुए कहते हैं "मैं सक्रिय हूँ। अन्य लेखक भी सिर्फ हाथ सेंकने के लिए ही न खड़े हों, बल्कि इस विशाल देश के करोड़ों शोषित-पीड़ित इन्सानों की जिन्दगी को बेहतर बनाने और एक नये मानवीय, शोषणविहीन समाज की रचना में अपनी सक्रिय साझेदारी निभाएँ।"[26]

अन्ततः कहा जा सकता है कि जन-जन के दुःखों से सदैव उद्वेलित रहने वाले नागार्जुन के व्यक्तित्व ने उनके कृतित्व को वह रूप प्रदान किया, जिसमें जन-जीवन के प्रति गहरी आस्था, तथा मानव को सही मंजिल तक पहुँचाने के लिए सुव्यवस्थित सोपान दिखाई पड़ता है।

केदारनाथ अग्रवाल के सृजनशील व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक मुख्य प्रेरक तत्व तथा उनकी काव्य विषयक दृष्टि -

कवि केदारनाथ अग्रवाल पेशे से वकील रहे हैं। इस पेशे में लोग गलत-सही किसी भी तरह से मुकदमें जीतकर दौलत इकट्ठी करते हैं, पर कवि केदारनाथ जी ने अपने ईमान को गिरवी रखकर कभी मुकदमा नहीं लड़ा। ईमानदारी की कमाई पर ही वे सदैव गुजर-बसर करते रहे हैं। सरकारी वकील हो जाने पर भी छप्पर के मकान में रहने वाले कवि केदार ने कभी पक्के मकान या कोठी में रहने का स्वप्न नहीं देखा, न अपने रहन-सहन में कोई परिवर्तन

छोड़ा, क्योकि दिखावटी जिन्दगी उन्हे कतई पसन्द नहीं थी। उन्हीं के शब्दों में "वकील हो गया पेट भरने के लिए। तो पेट भरने के लिए अब भी, बस खाने भर को मिल जाय तो कोई जरूरत नही किसी चीज की, न कपड़े की, न कोई।"[27] वकालत ने उनके जीवन व व्यक्तित्व पर काफी गहरा असर छोड़ा है। वे इस बात को सहर्ष स्वीकार करते है कि वकालत ने ही उन्हें सच्चा आदमी बनाया और दूसरे लोगों को भी समझने व परखने की दृष्टि दी। अपने कवि रूप को संफल बनाने में वे वकालत के योगदान को स्वीकार करते हुए स्वयं कहते है कि अगर वे वकील न होते तो असफल कवि होते क्योकि उनकी कविताओं में दिखाई पड़ने वाली सत्य की पकड़ उन्हे कचहरी से ही मिली।[28] कविता के वे इस अर्थ मे शुक्रगुजार है कि उसने ही उन्हे मार्क्सवादी दृष्टिकोण जानने के लिए प्रेरित किया जिससे से भाववादी संसार से निकलकर तत्कालीन यथार्थ जगत् की स्थिति पर गहराई से विचार कर सके। उन्ही के शब्दों मे "कविता से अगर प्रेम न होता तो न मैं मार्क्सवाद पढ़ पाता, न मुझे कोई रूचि होती। कवितई के सिलसिले में धीरे-धीरे उससे सम्पर्क हो गया।"[29] अतः कहा जा सकता है कि वकालत और मार्क्सवाद ने उनके रचना कर्म को सँवारकर उसे सार्थक व सच्ची (या सही) पहचान दीं।

ऐसे कृतज्ञ व ईमानदार-व्यक्तित्व के धनी कवि केदारनाथ अग्रवाल का जन्म कमासिन (जिला बाँदा) के एक ऐसे परिवार में हुआ था, जहाँ सम्पन्नता के बावजूद रहन-सहन, खान-पान व पहनावा-ओढ़ावा आदि सभी कुछ साधारण ढंग का था। उनके गाँव के अधिकांश परिवार गरीब थे। गरीबों को मुफ्त दवा देने वाले उनके पिता के मन में इनके प्रति कोई भेदभाव नही था। इसीलिए बालक केदार को उनके गरीब बच्चों के साथ खेलने की मनाही न थी। वे उनके घर भी आते-जाते थे। अतः संवेदना के स्तर पर वे बचपन से ही गरीबों की मर्मस्पर्शी व्यथा से अन्तरंग रूप में परिचित व प्रभावित रहे हैं। बचपन मे अपने गाँव कमासिन में देखे गये भूख के भयावह दृश्य को वे आज तक

नहीं भुला पाये हैं – “ जब गाँव के भूखे लोग इनकी बाबा के गोदाम से पुराने मछुवे को पाकर कृत-कृत्य हो गये थे और बाबा की जय-जयकार करने लगे थे।”[30] इसी तरह रायबरेली में देखा गया गरीबी व भूख का साक्षात् रूप अक्सर उनकी आँखों के आगे तैर जाता है।[31] इस भयावह गरीबी व भूख का “उनके बाल-मन पर ऐसा अमिट प्रभाव पड़ा कि बाद को जब उनका कवि प्रकट हुआ तब यह दुःख दर्द और संघर्ष, हाड़तोड़ मेहनत, अमीरी की ओढ़ी हुई ठसक की तुलना में गरीबी की सहजता, निर्मलता आदि उनकी कविता में हजार-हजार कंठों में फूट पड़ी।”[32]

गरीबों से हिल मिल कर रहने वाले बालक केदार की शिक्षा की शुरूआत कमासीन के ग्रामीण माहौल में ही एक सामान्य पाठशाला से होती है, जहाँ वह साधारण विद्यार्थी की भाँति "काठ की पाटी को कालिख से रंगते, घुट्टे से घोटकर चमकाते, बोरके की गीली खड़िया से, सेंठे की कलम से लिखते, ऊबने पर धूल में गोल दायरा बनाकर उसमें मक्खी मारकर रखते, धूप सरक जाने का इन्तजार करते और छुट्टी होने पर ‘आठ पाँच तेरा भइ छुट्टी की बेरा’ चिल्लाते, पाटी बोरका बस्ता लटकाये शकल को कालिख से कलूटी बनाये घर भाग जाते।”[33] कमासिन मे कक्षा तीन तक पढ़ने के बाद उनके पिता आगे पढ़ने के लिए उन्हें रायबरेली भेज देते हैं। माता पिता से दूर रहने पर उन्हें अपने सभी कार्य अपने हाथों से करने की आदत पड़ गयी थी जो आज तक नही छूटी। रायबरेली में कक्षा छह तक पढ़ने के बाद अपने पिता के साथ रहते हुए क्रमशः कटनी और जबलपुर से उन्होने कक्षा सात व आठ पास किया। उसके बाद सन् १९२७ में केदार जी अपने पिता के साथ इलाहाबाद आ गये[34] और फिर वही रहकर बी० ए० तक पढ़ाई की। तत्पश्चात् १९३८ में कानपुर से “लॉ” की डिग्री लेकर बाँदा लौटे और वही वकालत करते हुए स्थायी रूप में रहने लगे। कवि केदारनाथ अग्रवाल ने ये विभिन्न शैक्षिक डिग्रियाँ

अवश्य प्राप्त की पर उनकी इस तरह की रटन्तु विद्या में कभी रूचि न रहीं । उन्हीं के शब्दों में "मुझे याद नहीं होता था । किताबों से रूचि नहीं थी – कोर्स बुक से ।"[35]

उनके पिता श्री हनुमान प्रसाद कला-प्रेमी व्यक्ति थे । साहित्य व संगीत में उनकी विशेष रूचि थी । कवि केदार के शब्दों में- "ये बड़े बुद्धिमान और इनकी स्मरण शक्ति बहुत अच्छी थी । घर में रहकर हमारे पिता ने संस्कृत पढ़ी । फारसी भी जानते थे। कविता लिखते थे ।"[36] ऐसे पिता की सन्तान केदार जी को बचपन से साहित्यिक वातावरण मिला। पिता के साथ जब वह कटनी में रहकर पढ़ाई कर रहे थे, तो वहाँ का साहित्यिक माहौल केदार जी को कविता की ओर प्रवृत करने में सहायक बना। जबलपुर में होने वाली साहित्य-चर्चाओं व समस्या पूर्ति सम्बन्धी गोष्ठियों में केदार जी अपने पिता के साथ अवश्य जाते थे, जिससे उनका साहित्य के प्रति रूझान स्पष्ट होता है। पिता के सान्निध्य से धीरे-धीरे उनका काव्य के प्रति लगाव बढ़ता गया और वे इसके प्रति अधिक सक्रिय होते गये।

इलाहाबाद के साहित्यिक समाज ने केदार जी को कविता के प्रति गम्भीर बनाया। वहाँ "रसाल जी द्वारा स्थापित 'रसिक-मंड़ल' में कवित्त-सवैया और समस्या-पूर्ति वाले ब्रजभाषा के कवि आते थे। केदार जी इन गोष्ठियों के असर से ब्रजभाषा की ओर झुके।.......सरस्वती के माध्यम से यहाँ खड़ी-बोली काव्य से भी केदार जी का परिचय स्थापित हुआ।"[37] पर ब्रजभाषा के परिवेश के कारण केदार जी ने भी प्रारम्भ में कवित्त सवैया ही लिखे, जो 'सेवा' व कालेज मैगजीन में छपे भी।[38]

इन्टर में पढ़ते हुए अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध" के "प्रिय प्रवास" व सुमित्रानन्दन पन्त जी के "पल्लव" कविता संग्रह से विशेष रूप से प्रभावित केदार जी धीरे-धीरे खड़ी बोली की ओर प्रवृत हुए। इसी समय उन्होने पहली बार पन्त व निराला जी को देखा। निराला जी का प्रथम दर्शन उन्हें आकृष्ट न कर सका, पर बाद की मुलाकातों

में निराला ने उन पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। निराला जी के यहाँ ही उनका डा० राम-विलास शर्मा से परिचय हुआ। जिनके सान्निध्य ने ही उन्हे मार्क्स के चिन्तन से अवगत कराया। बी० ए० करते हुए उनका नरेन्द्र शर्मा व शमशेर जी से परिचय हुआ। ये सभी कवि उस समय नये रचनाकारों में गिने जाते थे। इसी समय केदारजी ने 'बालेन्दु' नाम से गीत लिखें, जो "माधुरी" पत्रिका व कभी-कभी "सरस्वती" मे छपे भी थे।[39]

कानपुर से "ला" करते हुए केदार जी मजदूरों के जीवन से निकट से परिचित हुए। यहीं रहते हुए बालकृष्ण बलदुआ जी के प्रगतिशील विचारों ने उन्हे अत्यधिक प्रभावित किया। इनके बीच हुई साहित्यिक बहसों ने केदार जी को तत्कालीन यथार्थ की ओर गहराई से सोचने पर विवश किया। उन्हीं के शब्दों में "कानपुर का विशेष प्रभाव पड़ा। वहाँ के मजदूर वर्ग का जीवन देख-सुन और समझ सका।. राजनीति भी कुछ कुछ आन्दोलित करने लगी ....। वकील होते-होते तक मैं मार्क्सवाद के जीवन-दर्शन से अपनी मानसिकता बनाने लगा।"[40]इससे पूर्व वे भाववादी संस्कारों से युक्त थे, वे ऐसी ही कविता लिखते थे। उन्हीं के शब्दों में-"पहले मेरे संस्कार भाववादी थे। दुनिया अपने अस्तित्व मे मायावी लगती थी। वह मोहती थी। ....उसी मोह से मेरी मानसिकता बनती थी। मेरा इन्द्रिय-बोध मुझे उसी ओर ले जाता था । मैं भाववादी कविताएँ लिखता था।"[41]आम आदमी के जीवन जीने के संघर्ष को निकट से देखने व समझने के बाद धीरे-धीरे कवि की मनस्थितिः में परिवर्तन हुआ और वे यह सोचने पर विवश हुए कि आखिर इस स्थिति का जिम्मेदार कौन है ? उनका ध्यान सर्वप्रथम तत्कालीन व्यवस्था पर गया, जहाँ "लोकतन्त्र" (जनता का शासन) के नाम पर लोगों का शोषण किया जा रहा था। मार्क्सवाद के जीवन-दर्शन से अपनी मानसिकता बनाने वाले कवि केदार को ऐसे वर्ग-विभाजित समाज की जीवन पद्धति अरूचिकर लगने लगी तथा श्रम व समाजवाद के

सिद्धान्त प्रिय लगने लगे।[42] सच्चे लोकतन्त्र की कामना करने वाले कवि केदार व्यवस्था के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते है कि "ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जो समता, न्यायप्रियता और समान अवसर देने की क्षमता रखती हो और आदमी को इसी संसार में द्वन्द्व से मुक्त करने के लिए प्रतिबद्ध हो। तभी सच्चा लोकतन्त्र होगा।"[43] उनके अनुसार इस प्रकार से सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना होने से मानवीय धरातल पर सभी मनुष्य एक दूसरे को प्रेम की दृष्टि से देखेंगे, क्षेत्रीयता व प्रान्तीयता मनुष्यों के बीच अभेद्य-दुर्ग बनकर नहीं खड़े होंगे, पूँजीवाद का सर्प अनायास ही शोषितों को नहीं डस सकेगा और न्यायालय में अन्याय का तांडव नहीं हो सकेगा।[44] ऐसे शोषण विहीन, समतामूलक समाज की कामना करने वाले कवि केदार अपनी रचनाओं में ऐसे ही समाज की रचना में प्रयासरत दिखाई पड़ते है। उनका यह प्रयास उनकी कविताओं में कहीं पूंजीवादी व्यवस्था पर व्यंग्य पूर्ण प्रहार के रूप में देखा जा सकता है, (क्योंकि यही पूँजीवादी व्यवस्था सामाजिक असमानता का मूल-कारण है) व कहीं शोषितों, पीड़ितों व गरीबों के पक्ष में उनके अधिकार व न्याय की लड़ाई के रूप में देखा जा सकता है।

कवि केदारनाथ अग्रवाल का दृष्टिकोण रचना के प्रति अत्यन्त व्यापक है। कवि और काव्य असंख्य हैं, किन्तु कवि की सम्पूर्ण कृतियाँ काव्यत्व को प्राप्त नहीं होती। उनकी दृष्टि में वही काव्य काव्य है जो मनुष्य को विवेकशील बनाये, उसके कृत्रिम चरित्र का उजागर कर, उसमें व्याप्त कलुषता को समाप्त कर उसके बाहर व भीतर के कार्य और चिन्तन को समान ज्योति प्रदान कर सके। सत्-असत् का वैज्ञानिक दृष्टि से परीक्षण तथा समग्र जीवन का दर्पण बनकर उपस्थित होने वाला साहित्य ही एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़कर समाज को विखराव की मानसिकता से दूर कर सकता है। जैसा कि उन्होनें स्वयं कहा "आदमी ऐसा कृतित्व दो, जो उसे नेक आदमी बनाये- उसको उसका

असली चेहरा दिखाये.........और हो सके तो उसके भीतर बाहर को जीवन्त, जागरूक और ज्योतित करे।"[45]

कवि केदारनाथ अग्रवाल कविता को केवल कला-प्रदर्शन नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मात्र कलात्मकता के लिए किया गया सृजन समाज व राष्ट्र को वह सन्देश नही दे पायेगा, जिसे पाकर पाठक के हृदय का अन्धकार विचलित हो जाय और वह निजत्व को पहचान कर समाज के मौलिक निर्माण में सहायक बन सके। यद्यपि कविता की कलात्मकता भावुक के मन का रंजन करने में समर्थ होती है,पर मात्र मनोरंजकता ही कविता की आत्मा नही, वरन् उसमें पाठक की दृष्टि को नूतन दीपदान देकर उसे अवसाद, अज्ञान व अंधकार से मुक्त करने व सच्चे मित्र की भाँति पग-पग पर साथ देने का भाव भी होना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में- "कविता जहाँ पहुँचे वहाँ दृष्टि का दीपदान दे- आलोक और आँच से अवसाद, अंधकार, अज्ञान का नाश करे और सच्चे-समर्थ मित्र और बंधु अथवा सहकर्मी की तरह पग-पग पर साथ दे।"[46]अन्यत्र वे कहते है कि कविता मात्र विचारों का प्रचार नही करती। वह मनुष्य की बनाई एक ऐसी सृष्टि है जिसमें सौन्दर्य बोध व अर्थवत्ता दोनों जरूरी है ताकि वह दूसरों के लिए हितकारी हो सके।

कवि केदारनाथ अग्रवाल वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री व समाजशास्त्री के समकक्ष ही कवि का स्थान निर्धारित करते हुए कहते है कि जिस तरह से ये विशेषज्ञ समाज में समस्याओं का समाधान अपने ढंग से अपने कार्यक्षेत्र में रहकर ढूढ़ते है उसी तरह कवि भी। उनके अनुसार जो कवि ऐसा नहीं करते और आत्म चिन्तन में ही लीन रहते है, वह अपने को समाज से कटा हुआ व अजनबी महसूस करते हैं।[47] शब्दों के इन्द्रजाल के माध्यम से श्रम व भुलावे मे डुबाये रखने वाली कविता, अतीन्द्रिय लोक की सैर कराने वाली कविता मौलिक भले ही लगे, पर वह आत्मीय-प्रवंचना के अलावा और

कुछ नहीं दे सकती।[48] कवि केदारनाथ अग्रवाल भारतीय जीवन दर्शन के मोक्ष पक्ष से वितृष्ण है। उनके अनुसार जो मुक्तिकामी व्यक्ति संसार से विरक्त रहकर परमपद प्राप्त करने के लिए साधना करता रहता है वह इस संसार के द्वन्द्वमय प्राणियों को संघर्ष करने की प्रेरणा नहीं दे सकता, क्योकिं वह द्वन्द्व अर्थात् सुख दुःखों को लोगों की नियति मानकर उसको सहन करने का उपदेश देता है। वह स्वयं तो महापुरूष कहलाने लगता है जबकि संसार के अन्य प्राणी निरन्तर वही वही दुःख द्वन्द्व झेलते हुए तड़पते व टूटते रहते है।[49] इसलिए कवि केदार इस मोक्षगामी जीवन-दर्शन को शोषित-पीड़ित जनों की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते हुए वैज्ञानिक जीवन-दर्शन 'ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' से अपनी जीवन-दृष्टि का विकास करने की बात कहते है, जो व्यक्ति को यथास्थिति में न रखकर कष्ट के मूल कारणों की खोज कर उससे मुक्ति के उपाय बताता है। उनके अनुसार 'ऐतिहासिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' पढ़ने से ही उनकी आँखे खुली, जिससे वे यह जान सके कि मानव जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए।[50] इस वैज्ञानिक जीवन दर्शन से उत्पन्न समझ ने ही उनकी कविताओं को शोषित-पीड़ित जनता के दुःख दर्द से सदैव जोड़े रखा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवि केदारनाथ अग्रवाल के अनुसार कविता का उद्देश्य न तो कलात्मक-प्रदर्शन मात्र है, न उपदेश व विचारों का प्रचार करना और न ही किसी अलौकिक जगत की सैर कराना वरन् उनकी दृष्टि में वही कविता श्रेयश्कर है जो मनुष्य के आत्मतत्व को विकसित कर एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़ने में सहयोग कर सके, उसे वंचना के पंक से निकालकर स्वस्थ-जीवन जीने की प्रेरणा दे सके, नूतन समाज की स्थापना करने की क्षमता का विकास कर सके, जन-जन के लिए ऐसा निर्मल दर्पण बन सके जिसमें वह अपने कृत्रिम रूप को देखकर उससे मुक्त होने के लिए

विवेक दृष्टि प्राप्त कर सके और इन सभी सामाजिक दायित्वों का वहन करते हुए वह सामाजिक जीवन में सुरूचिपूर्ण सौन्दर्य स्थापित कर सके।[51]

कवि को पूरा विश्वास है कि उनकी कविता पढ़ी जाने पर लोगों की मानसिकता को बदलकर स्वस्थ समाज के निर्माण में अवश्य सहायक बनेगी। इस कार्य में देर हो सकती है क्योंकि जब तक जनता अनपढ़ रहेगी, तब तक कवि का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता है।[52]

कवि त्रिलोचन शास्त्री के सृजनशील व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक मुख्य प्रेरक तत्व तथा उनकी काव्य-विषयक दृष्टि-

कवि त्रिलोचन का जन्म जिला सुल्तानपुर (अवधांचल) के अन्तर्गत आने वाले गाँव कटघरापट्टी चिरानी पट्टी में हुआ था। बचपन में ही मजबूरी-वश उन्हें अपना गाँव छोड़ना पड़ा, पर उनका मन उसे आज भी नहीं छोड़ सका क्योंकि रक्त-सम्बन्ध इतनी आसानी से छुड़ाये नहीं छूटते। गाँव को याद करते हुए वे कहते है "जहाँ धूल उड़ती हो, कोई रूख भी कहीं/नहीं दिखाई पड़ता हो वह स्थान तुम्हारा।"[53]

आज भी उनकी कविताओं में अवधांचल की मिट्टी की यादें अपनी समूची महक के साथ नवीन आभा बिखेरती हुई दिखलाई पड़ती है।[54] कवि त्रिलोचन सिर्फ ग्रामीण जन-जीवन के मस्ती भरे सौन्दर्य का ही बखान नहीं करते, वरन् वहाँ व्याप्त भुखमरी व पिछड़ेपन की यादें भी उनकी कवि-संवेदना को प्रभावित करती हैं और वे कह उठते है कि- "उस जनपद का कवि हूँ जो भूखा-दूखा है/ नंगा है, अनजान है/ ....कब सूखा उसके जीवन का सोता, इतिहास ही बता सकता है।"[55] इन अभावों व पिछड़ेपन ने कभी उन्हें अत्यन्त खीझ से भर यह कहने को मजबूर किया था कि "अगर जन्म लेने में मै लाचार न होता/ मुझे चिरानी पट्टी से कुछ प्यार न होता।"[56] लेकिन बाद में उन्होनें स्वीकार किया कि उनके मन में पहले जो असन्तोष था अपने गाँव को लेकर, वह अब

नहीं है।[57] शायद इसकी वजह यह है कि कर्म में आस्था रखने वाले कवि को यह विश्वास है कि वह कभी न कभी अपने श्रम के बल से अपने गाँव को इस विकट-यथार्थ से उबार लेगा।

ऐसे गाँव में रहने वाले कवि त्रिलोचन का अपना जीवन भी अत्यन्त गरीबी में व्यतीत हुआ, जिसे कवि ने स्वयं अनेक सॉनेटो के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। सॉनेट में उनके ये आत्म-प्रसंग स्मृतियों के रूप हैं, जो बचपन से लेकर युवा-मन की विविध अनुभूतियों को संजोये हुए हैं। दर व दर की ठोकरें खाने के बाद भी कर्म से विमुख न होने वाले कवि त्रिलोचन को कभी भूखे रहकर भी वक्त काटना पड़ा है।[58] जीविकोपार्जन के लिए उन्होनें कभी रिक्शा भी चलाया है।[59] सुखद आश्चर्य तो तब होता है जब उनकी यह पीड़ा पराजय की नहीं, वरन् आस्था व विश्वास की मजबूत डोर के सहारे उन्हें जीवन-पथ पर सक्रिय रखती है। वे इस बात को स्वीकार करते है आघातों व उत्पातों ने उनके जीवन को उर्वर बनाकर उसे विकसित करने में सहयोग किया।[60] इन आघातों से उत्पन्न पीड़ा ने ही उन्हें जन-जन के दुःखों को समझने की दृष्टि दी, जिससे उनके जीवनानुभव जन-जन के जीवनानुभवों सें इतने घुल मिल गये कि उनकी आत्म-परक कविताएँ भी जनपरक लगती हैं। सच तो यह है कि अपने दुःखों से अधिक उन्हें दूसरों के दुःखों ने विचलित किया, तभी तो वे यह कह सके- "दुःख से दबे हुए मानव आ आ, मैं ले लूँ / तेरा सब दुःख, तू होकर सिर ताने / आसमान में, इस दुनियाँ को अपनी माने ।"[61]

दूसरों के दुःखों को स्वयं ओढ़ लेने वाले कवि त्रिलोचन को आँसू बहाने वाले लोग पसन्द नहीं । वे कहते हैं- "यह भी कोई तुक है- कहीं फूल मुरझाया / और आपकी आँखे भर आयी x x x / कोई पूछे- आँसू गिरा-गिराकर पाया । क्या आपने, मिला भी कुछ दम और दिलासा / कहीं किसी को ।"[62] वे चाहते हैं कि अपने दुःखों पर

आँसू गिराने की बजाय आँसू के मूल-कारणों की खोज कर उसे समाप्त करने के निमित्त जन-जन को कर्मठ हो जाना चाहिए।

बचपन से ही जीवन की विषमताओं को देखने व भोगने वाले कवि त्रिलोचन ने अपनी किशोरावस्था व युवावस्था में अनेक संघर्षो को झेलते हुए किसी तरह एम.ए. पूर्वार्द्ध (अंग्रेजी) तक की शिक्षा प्राप्त की। पर्याप्त शिक्षा प्राप्त इस नौजवान को नौकरियाँ तो मिली, मगर कोई भी स्थायी नहीं थी। आजीविका के लिए वे कभी 'आज', 'जनवार्ता', 'समाज', 'प्रदीप', 'चित्ररेखा', 'हंस' आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े,[63] तो कभी विभिन्न कोशो के निर्माण में सहायक हुए।[64] स्कूल में अध्यापन-कार्य भी किया[65] तथा ट्यूशन भी पढ़ाया।[66] १६८० ई० में जब उनके काव्य-संग्रह "ताप के ताये हुए दिन" पर "साहित्य अकादमी" पुरस्कार मिला,[67] तब कहीं जाकर वे हिन्दी-साहित्य जगत् में अपनी अलग पहचान बना सके। इसके बाद भी उनकी नौकरियाँ बदलती रही, पर सम्मान के साथ नये-नये पदों पर उनकी नियुक्तियाँ की गयी।[68] इन कार्यो को करते हुए उनका अभावपूर्ण जीवन भले ही इतिहास का विषय बन चुका हो, क्योंकि अब उनकी आर्थिक-स्थिति बेहतर है मगर मन से आज भी वे अपने-आप को दुःखी पाते हैं। इसका कारण यह है कि अपने को पीड़ित-जनों के दुःख से कभी अलग न कर सके।

कवि त्रिलोचन अपने को उन्हीं लोगों के बीच का व्यक्ति समझते हैं, जो दिखावटी जिन्दगी से दूर रहते हैं। अपने संकोची-स्वभाव, विश्वसनीय-आचरण व सादगीपूर्ण (पर अस्त-व्यस्त) रहन-सहन से भारतीय किसान-जीवन को साकार करता यह कवि अपने इस रूप के कारण शर्म महसूस नहीं करता। उन्हें तो अपने इस रूप व ऐसे ही लोगों के बीच रहने से आनन्दानुभूति होती है। तथाकथित आधुनिकों को सम्बोधित अपने एक सॉनेट में उन्होनें स्वयं अपने इस रूप की पुष्टि की- "मेरे गंदे/कपड़ों से तुमको नफरत है। तो फिर बन्दे/बड़े बनो तुम, मुझको अपनी दुनिया में रस/मिलता है, तुम गाड़ी-घोड़ो

का सुख लूटो।"[69] आज भी उनसे मिलने वाले उनके सरल स्वभाव से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। महावीर अग्रवाल अपने एक लेख में उनके साथ गुजारे हुए क्षणों को याद करते हुए उनके स्वभाव की आत्मीयता व सहजता से अत्यन्त प्रभावित हो कहते है-"(पान की) दुकान वाले से बातें करने का त्रिलोचन जी का सहज व आत्मीय अंदाज देखकर मैं मुग्ध हो गया। ठेलेवाले से उन्हें बतियाते हुए देखकर कोई सोच भी नहीं सकता कि समकालीन हिन्दी कविता संसार के चार महारथियों में से एक त्रिलोचन शास्त्री यही है।"[70] विद्वता व गम्भीरता के बावजूद जन-जन से आत्मीय सम्बन्ध बना लेने वाले इस व्यक्तित्व के समकक्ष दूसरा कोई नहीं है। जेठ की कड़कड़ाती धूप में नंगे पैर चलने वाला[71] क्या कवि त्रिलोचन के अलावा और कोई हो सकता है

कवि त्रिलोचन का स्वावलम्बी-व्यक्तित्व सिर्फ अपने कर्म पर अडिग आस्था व विश्वास का सम्बल लेकर अपनी मंजिल तय करता हुआ आगे बढ़ता गया। कठिन से कठिन दौर में भी उन्होनें किसी के सहारे को स्वीकार नहीं किया। अपनी ओर सहानुभूति से उठते हुए हाथों को रोकते हुए अपने एक सॉनेट में वे कहते हैं- "नहीं चाहिए, नहीं चाहिए मुझे सहारा/मेरे हाथों में पैरों मे इतना बल है,/स्वयं खोज लूँगा किस-किस डाली में फल है/उसे बाँट दूँगा जो नंगा, भूखा, हारा/दुर्बल दिखलायी देगा।"[72] कर्म पर अटूट विश्वास रखने वाले इस कवि का मानना है कि खून-पसीना एक करने से कुछ न कुछ तो मिलेगा ही। अतः व्यक्ति को हिम्मत नहीं हारनी चाहिए। बार-बार उभर कर आने उनका वाला यह कर्मठ-व्यक्तित्व उनकी कविताओं की परिणति निराशान्धकार में नहीं होने देता।

कवि त्रिलोचन अपनी अन्तर्रात्मा की आवाज को ही अपनी कविताओं में व्यक्त करते हैं। इस सन्दर्भ में उनका कहना है कि "किसी विचारधारा का समर्थन करने के लिए अगर आप कविता लिखें तो याद रखियें आप कवि कम हैं, उस विचारधारा के

अनुवर्ती हैं, भले ही वह विचारधारा आपकी बुद्धि को स्वीकार्य हो गयी हो। इसीलिए जब लोगों ने अपने को प्रतिबद्ध कहना शुरू किया तो मैंने कहा कि प्रतिबद्धता जो है मेरे वे विचार हैं जो मेरे अन्दर हैं, उनके लिए किसी घोषणा की जरूरत नही हैं।"[73] कविता में किसी विचारधारा का अनुसरण न करने वाले कवि त्रिलोचन का पूँजीपतियों व आम जनता के प्रति जो दृष्टिकोण है वह उन्हें साम्यावादी विचारधारा से स्वतः जोड़ता है। वे माओं की प्रशंसा करते हुए उन्हें सच्चा जन-नायक कहते है क्योकि उनके ईमानदारीपूर्ण प्रयासों के कारण ही चीन की जनता का जीवन जीने-योग्य बन सका।[74]

विचारों से साम्यवादी मगर आचरण से विपरीत कार्य कर परस्पर विरोधी व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति उनकी दृष्टि में तुच्छ है, जो साम्यवाद के पथ को गंदा करते हैं।[75] उनके अनुसार "अच्छे विचारों से/अच्छाई नहीं आती/अच्छे आचार ही/अच्छाई लाते हैं।"[76] उनकी कथनी व करनी में कोई भेद नहीं है और ऐसे ही लोगों को वे पसन्द करते हैं। आज गाँधी की प्रशंसा करने वाले तो लाखों लोग मिल जाते है, मगर उनके कार्यो को आगे बढ़ाने वाला कोई ईमानदार नहीं दिखाई पड़ता। कवि त्रिलोचन ऐसे लोगों का अस़ली चेहरा उनके सामने रखते हुए कहते है "गाँधी के आदमी आदमी वे कैसे थे/....
....वे वैसे थे, कहते हुए समय खोते हैं। अपना और दूसरों का, विधवाओं जैसे .।"[77]

माओ व महात्मा गाँधी की प्रशंसा करने वाले कवि त्रिलोचन को हिन्दी-साहित्य -जगत के दो महारथियों - महाकवि तुलसीदास व महाकवि निराला ने विशेष रूप से प्रभावित किया। बचपन से ही पिता के मुख से 'रामचरितमानस का पाठ सुनने वाले बालक त्रिलोचन पर तुलसी की रचनाओं का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उन्हें अपना काव्य-गुरू मान बैठे। उन्हीं के शब्दों में "उनकी कविताएँ बिना उनकी उपस्थिति के मेरे मन पर इस कदर छाई कि मेरा काव्य गुरू अगर कोई है तो अनुपस्थित तुलसीदास है।"[78] अपनी कविता में भी उन्होंने स्वीकार किया कि मेरी सजग चेतना में तुलसी रमे हुए हैं।[79] इसी

तरह महाकवि निराला के प्रभाव को भी वे स्वीकार करते है।[80] निराला आज भी प्रासंगिक बने हुए है। उनके अनुसार इसका कारण उनकी कविताओं में व्याप्त वह ताजगी है जो उन्हें श्रमरत-मानव के साथ आत्मीयता पूर्ण सम्बन्ध बनाने से मिली। उन्हीं के शब्दों में "(वह) श्रम करने वाले, तीर्थयात्री, नंगे-पैर चलने वाले- इन लोगों के साथ जमीन पर बैठकर बात करते थे तो ऐसा आदमी निरन्तर ताजा होता जाएगा। निराला में आखिरी समय तक ताजगी है। यही ताजगी अगर बनी रहे तो आप कवि रह सकते है।"[81]

संवेदना के स्तर पर तुलसी व निराला से प्रभावित कवि त्रिलोचन की कविताएँ मात्र कलात्मक सृजन नहीं, वरन् जीवन से जुड़ी हैं। जीवन से उनका यह जुड़ाव उन्हें इसी जगत् के यथार्थ से जोड़े रखता है। अलौकिक जगत् की बातवे नहीं करते। उनकी दृष्टि में वही कवि और कविता महत्वपूर्ण है जो शोषित-पीड़ितजनों को आकृष्ट कर सके। अपने एक सानेट में वे स्पष्ट रूप से कहते है कि "उनके लिए नहीं लिखता मैं, जो पढ़-सुनकर/कहेंगे कि यह लोकोत्तर रचना आई है" और न ही उनके लिए जो "अपनी देख अवज्ञा/कहेंगे कि यह कूड़ा है, बिलकुल कूड़ा है/नही अगाध ज्ञान के जल में कवि बूड़ा है।" आगे की पंक्तियों में वे कहते है कि अपनी कविताओं में "इन्हें नहीं मैं उन्हें बुलाता हूँ। जो घूम रहे हैं व्याकुल प्यासे प्यासे।" सॉनेट की अन्तिम दो पंक्तियों में कवि त्रिलोचन अपने मन्तव्य को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि " मेरे स्वर मन में सोए विश्वास जगाएँ/सुस्ताए हैं जो पग उनको राह लगाएं।"[82] उनकी लेखनी से निकले हुए शब्द जन-जन में आशा व विश्वास का संचार करने के साथ ही जरूरत पड़ने पर संघर्ष के लिए भी तैयार करते हैं। जब कर्म के द्वारा व्यक्ति अपने अधिकारों को न प्राप्त कर पा रहा हो तो कवि के अनुसार उसे संघर्ष के लिए भी तैयार रहना चाहिए। वे कहते है-"दुःख अभाव अवसाद अभी है तो होने दो,/ अरूण सूर्य को आ-आकर प्रकाश बोने दो/ कभी न कभी लहर के ऊपर कमल खिलेगा......।"[83]

वे देश को विदेशी शासन से मुक्त देखकर चैन की साँस नहीं लेते, वरन् स्वतन्त्र-भारत में शोषकों से आक्रान्त जन-जन की मुक्ति के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे हैं। उनका देश-प्रेम महज दिखावा नहीं वरन् सच्चे अर्थो में जन-जन की खुशहाली से जुड़ा है। उनके अनुसार यह तभी सम्भव हो सकता है जब समाज पर विसंगतियों व विषमताओं की जमी हुइ गर्द को पूरी तरह झाड़ न दिया जाय।[84] यह कार्य वही कवि कर सकता है जिसके मन में व्यवस्था के प्रति 'असन्तोष' हो। कवि त्रिलोचन यह मानते है कि "महत्वपूर्ण रचनाओं का निर्माण असन्तोष के कारण होता है। और यह असन्तोष सामाजिक मानदण्ड और जीवन की विषमताओं के कारण पैदा होता है।"[85] ऐसे "रचनाकार समाज में उठने वाली हर आवाज को सुनते है और अपनी रचनाओं में संतुलन सहित शब्द-बद्ध करते है। ये लोग नर-नारी संबंध, जातिगत स्थिति, आर्थिक द्वन्द्व आदि का अनुभव के आधार पर निरूपण करते हैं। निरूपण की यह पद्धति बहुधा पुराने आदर्शो से भिन्न हो जाती है।"[86] अतः परम्परा के पक्षधरों द्वारा इनका विरोध शुरू हो जाता है। कवि त्रिलोचन के अनुसार ऐसे रचनाकारों में यदि 'सामाजिक सत्य के प्रति आग्रह और अपनी रचना के प्रति आत्म-विश्वास हो' तो वह इन अनन्त विरोधों से आसानी से उबर सकता है।[87] इस अर्थ में स्वयं उनकी कविताएँ सार्थक भूमिका का निर्वाह करती हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता कि कवि त्रिलोचन का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनकी कविताओं में सतत् प्रवाहित है। वे अत्यन्त ईमानदारी के साथ यह स्वीकार करते है कि अगर मैंने पीड़ितों का जीवन न जिया होता तो शायद मेरी कविताओं में जन-जन की पीड़ा का यह स्वर न आ पाता।[88] उनके इस अभावपूर्ण जीवन ने उनकी काव्य-दृष्टि को सार्थक बनाया और उनसे यह कहलवाया कि "धन की उतनी नही मुझे जन की परवा

है। जितनी.........।"[89] वे अपनी कविताओं में इसी जन की देख-रेख में सर्वत्र संलग्न दिखाई पड़ते है।

धूमिल के सृजनशील व्यक्तित्व व काव्य दृष्टि पर पारिवारिक व पारिवेशिक प्रभाव-

सन् १९६० के बाद की हिन्दी कविता में धूमिल सर्वाधिक चर्चित कवि रहे हैं। इसका मुख्य कारण है- उनका काव्यगत रचनात्मक संघर्ष और उस संघर्ष की प्रक्रिया में आम-आदमी की संवेदनात्मक अभिव्यक्ति। कविता में आदमियत के लिए निरन्तर संघर्षरत कवि धूमिल अपनी पारिवारिक जिन्दगी में भी सदैव संघर्ष से साक्षात्कार करते रहे। परिवार ही उनकी वह पाठशाला है , जहाँ से उन्होनें अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष की शिक्षा प्राप्त की।

सुदामा प्रसाद पाण्डेय के पारिवारिक नाम से अभिहित 'धूमिल' का जन्म वाराणसी जनपद के अर्न्तगत आने वाले गाँव 'खेवली' में हुआ। उनका पारिवारिक जीवन सदैव आर्थिक तंगी से ग्रस्त रहा। संयुक्त परिवार में सबसे बड़े बेटे[90] होने के कारण उन पर पारिवारिक जिम्मेदारियाँ बहुत थी। उन्होंने इन जिम्मेदारियों से कभी मुँह नहीं मोड़ा। जीविका की तलाश में ही वे गाँव को छोड़कर शहर आये। घर की चाहरदीवारी से बाहर आने पर धूमिल को जो कटु अनुभव प्राप्त हुए, उसने उनके मन को हिलाकर रख दिया। नौकरी की तलाश में वे कलकत्ता गये, जहाँ उन्हें काफी भटकने के बाद अपने गाँव के व्यक्ति की सहायता से लोहा ढोने का काम मिला। कुछ समय बाद उन्हे अपने सहपाठी की मदद से एक व्यापारिक संस्थान में 'पासिंग अफसर' की नौकरी मिल गयी। अस्वस्थ होने के कारण डेढ़ वर्ष बाद ही उन्हे यह नौकरी छोड़नी पड़ी। तदुपरांत उन्होनें १९५२ में बनारस से विद्युत में डिप्लोमा प्राप्त किया। उसी वर्ष 'विद्युत अनुदेशक' के पद पर उनकी नियुक्ति हुई।[91] कुछ समय बाद पदोन्नति भी मिली। पर यह काम भी उन्हें खुशी

न दे सका। अपने जीवन के अन्तिम समय में वे अपनी नौकरी से लम्बी छुट्टी पर चले गये। कारण था- उनका संगठन बनाकर अपने विभाग के अधिकारियों के भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करना व इससे रूष्ट होकर अधिकारियों द्वारा उनका स्थानान्तरण करवाना। यह अन्तिम स्थानान्तरण उनके जीवन का भी स्थानान्तरण बन गया। 'ब्रेन ट्यूमर' की बीमारी ने १० फरवरी १९७५ को उन्हें हमारे बीच से उठा लिया।[92]

जीविका के लिए इन विभिन्न कार्यो को करते हुए उन्हें 'व्यवस्था की बदनीयती' का गहरा अहसास हुआ, जिसने उन्हें अत्यन्त बैचेन कर दिया। यही बेचैनी उनकी कविताओं में उन्हें व्यवस्था के विरूद्ध कारगर कारवाई के लिए मजबूर करती है।

धूमिल अपनी कविताओं के द्वारा इस विरोध को किस हद तक कारगर बना सके, कहना मुश्किल है, पर यह सच है कि पारिवारिक व बाह्य पारिस्थितिक संघर्ष ने इन संवेदनशील कवि व्यक्तित्व को जो रूप दिया वह उनके कृतित्व में सतत् मुखर है। यह संघर्षरत चेतना जीवन-पर्यन्त उनके साथ रही, तभी तो वह ब्रेन-ट्यूमर की मर्मांतक पीड़ा को सह सके ।

धूमिल सदैव अपने परिवेश के प्रति जागरूक रहे हैं। बाह्य परिवेश ने धूमिल को सदैव निराश किया। लेकिन वे इस निराशा अन्धकार के बीच भी रोशनी की तलाश के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। धूमिल हर उस व्यक्ति के साथ थे, जो अन्धकार के बीच प्रकाश को खोजने में संलग्न था। उन्होनें भली-भाँति यह जान लिया था कि कोरी प्रतिक्रिया से कुछ होने वाला नहीं, वरन् इन विसंगतियों व विषमताओं को दूर करने के लिए संघर्ष की जरूरत है। वे अपनी कविताओं के द्वारा ऐसा जनमत तैयार करना चाहते थे जो संघर्ष या क्रान्ति के द्वारा व्यवस्था में बुनियादी परिवर्तन ला सके। यह काम जनता के भरपूर सहयोग के बिना असम्भव था। अतः कवि धूमिल जनता का आह्वान कर उनमें अटूट विश्वास का संचार करते हैं।[93]

धूमिल की इस संघर्ष-प्रियता ने उन्हें सदैव रचनात्मकता से जोड़े रखा। गाँव में या शहर में रहकर नौकरी करते हुए सदैव उनकी दृष्टि अपने आस पास के सन्दर्भो पर गहरी नजर रखती थी। "धूमिल का परिवेश उसे कोच रहा था, उसकी राजनीतिक समझ उसे विवश कर रही थी कि जन-जीवन के पक्ष में वह उनका विरोध करे, जो उसका शोषण कर रहे थे और शाब्दिक कुहासे में अपनी क्रूर हरकतों को छिपाने में सफल हो रहे हैं।"[94]

प्रायः धूमिल पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनकी कविता निजी जिन्दगी के गहरे अभावों से उद्भूत है। यह सच है कि कवि का निजी पारिवारिक जीवन उसके कवि मन को प्रभावित करता है लेकिन कवि की यह निजता भी अन्ततः समाज की ही देन है। आज हमारा निजी पारिवारिक जीवन जैसा भी है क्या उसके निर्माण मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से समाज का योगदान नही ? तो यह कवि का नितान्त निजी जीवन कैसे हो सकता है ? रही बात किसी भी सामाजिक या परिवेशिक सोच से कवि मे वैयक्तिक लगाव की तो "सिद्धान्तः या व्यवहारतः भी, किसी सोच या समझ से जब तक वैयक्तिक लगाव नहीं होता, उसकी अनुभूति में वह हिस्सेदारी नहीं आ पाती जो संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के लिए जरूरी है। हिस्सेदारी आ भी जाय तो उसमे वह गहराई नही आ पाती जो निजी दशा के योग से आती है।"[95]

कवि का निजी पारिवारिक जीवन परिवेश से जुड़ने के बाद ही कवि की संवेदना बनकर अभिव्यक्ति का विषय बनता है। अतः परोक्ष रूप में ही सही, कवि धूमिल का वैयक्तिक जीवन व बाह्य परिवेश मिलकर ही काव्य-यात्रा का उत्स बिन्दु बनते हैं।

धूमिल के समय मे कविता विभिन्न मुखौटो के कारण अपना वास्तविक रूप जो कविता को सार्थकता प्रदान करता है, खोती जा रही थी। वह अकेलेपन अजनबीपन, निराशा, कुंठा, मृत्युबोध जैसी विभिन्न व्याधियों से ग्रस्त होती जा रही थी जहाँ व्यक्ति के

अहं के विस्फोट के अलावा कुछ और नहीं सुनाई पड़ता था। इस आत्मरति ग्रस्त माहौल में धूमिल ने कविता को समसामायिक हालातों से संधर्ष करते हुए एक नयी रचनात्मक ऊर्जा प्रदान की। कवि होने के नाते वे अपनी जिम्मेदारियों को भली-भाँति जानते थे। कविता के सामाजिक पक्ष के प्रति वे सदैव सजग रहे। कलात्मक खुरदुरेपन में भी वे सार्थक कविता के पक्षधर थे। वे कविता मे ऐसे कलात्मक सौन्दर्यशास्त्र के खिलाफ थे, जो जीवन की वास्तविकताओं से कटा हुआ हो।

जीवन यथार्थ के प्रति गहरा लगाव रखने वाले कवि धूमिल को 'प्रतिबद्ध कवि' कहा गया, जिसे वह अनुचित नहीं मानते। उन्होनें अपनी काव्य विषयक प्रतिबद्धता को कुछेक कविताओं में स्वीकार किया, पर उसे ठीक से न समझने वाले आलोचकों द्वारा कहा जाता है कि धूमिल जीवन-मूल्यो को सीमित दृष्टि से देखते हैं।

साहित्य समीक्षा में प्रतिबद्धता से सम्बन्धित बहस जीवन मूल्यों पर ही आकर टिकती है जो किसी भी विधा के लिए उपयुक्त है। समकालीन विसंगतियों से जूझते हुए कवि धूमिल अपनी कविताओं के जरिए हस्तक्षेप के पक्षधर है । हस्तक्षेप की यह प्रतिबद्धता परिवेश की महज प्रतिक्रिया नही है। जीवन मूल्यों को स्थिर मानने वाले आलोचक ही धूमिल को प्रतिक्रियावादी मानते है। गतिशील जीवन मूल्यों के नट कसने पर धूमिल की कविता की असलियत खुलने लगती है। परम्परागत मूल्यों को परिस्थिति-सापेक्ष न होने पर भी ढोते रखना उनकी फितरत के अनुरूप नही है। ऐसे जड़ मूल्यों पर तीखे प्रहार उनकी काव्यगत मूल्यवत्ता को गहराई से रूपायित करते है। अतः धूमिल परिवेश के प्रति प्रतिबद्ध होते हुए भी जीवन मूल्यों से विरत नहीं है। "समकालीन परिवेश में रचनाकारों का यथार्थ के प्रति गहरा लगाव उन्हें जीवन मूल्यों से सर्वथा विरत नहीं करता, बल्कि यथार्थ की वास्तविक संगति में जीवन मूल्यों को पुनर्विश्लेषित एवं संश्लेषित कर उनकी पुनर्प्रतिष्ठा के लिए प्रेरणा स्त्रोत बनता है।"[96]

कवि धूमिल का काव्यगत मूल उद्देश्य आम आदमी की पीड़ा को सुषुप्तावस्था में न पहुँचाकर उन्हें सचेष्ट करना है ताकि वह अपने को सक्रिय रखते हुए अपने ऊपर होने वाले हर जुल्म के खिलाफ आवाज उठा सके। कवि धूमिल यथार्थ को नये रूप में देखने -समझने की दृष्टि देते है, जीवन मूल्यों को साकार रूप लेते हुए देखना चाहते है न कि जड़वत् जीवन मूल्यों को ढोते रहने में विश्वास करते हैं।

साठोत्तरी कविता के लिए यह कहा जाता है कि वह परिवेश केदबाव से आकान्त है। अतः परिवेश की महज प्रतिक्रिया होना काव्यात्मकता के उपयुक्त नही। इससे कार्य की सर्जनशीलता क्षरित हुई। साठोत्तरी कविता के बहुचर्चित कवि धूमिल के सन्दर्भ में ही ये बातें अधिक कहीं गयी है। धूमिल अपनी कविताओं में परिवेश के प्रति तीखी प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते है। पर ये प्रतिक्रियाएं किसी भी तरह उन्हें काव्यगत मूल उद्देश्य से विरत नही करती । उनकी इन प्रतिक्रियाओं की मोटी परत के नीचे मानवीय संवेदना का गहरा स्त्रोत प्रवाहित होता है। इस मानवीय सरोकार को न पकड़ पाने वाला आलोचक ही उनकी कविता को मात्र पारिवेशिक प्रतिक्रिया समझता है। धूमिल ने अपनी कविताओं में समय सापेक्ष यथार्थ को अत्यन्त गहराई मे जाकर पकड़ा। वे परिवेश के प्रति सदैव सजग रहे है। "धूमिल की कविता आजादी के बाद होश सम्भालने वाले एक संवेदनशील नौजवान की अपने देश और समाज और उसमें आदमी की विसंगतिपूर्ण हालत को समझने पहचानने की कोशिश जाहिर करती है।"[97]

किसी भी रचनाकार के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी रचना-प्रकिया सम्बन्धी मतों को स्पष्ट करें, पर हिन्दी में रचनाकार और समीक्षक दोनो की भूमिका एक ही व्यक्ति द्वारा निभाये जाने की पुरानी परम्परा है। रीतिकालीन कवि, आचार्य व आधुनिक कालीन कवि, नाटककार व कहानीकारों द्वारा

काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र कहानी विधा की चर्चा सामान्य बात है।

छायावादी कवियों द्वारा अपनी कविताओं की लम्बी-लम्बी समीक्षायें उल्लेखनीय है। इसी परम्परा से जुड़ते हुए कवि धूमिल ने भी अपनी कविताओं से सम्बन्धित वक्तव्य दिये है। उनके वक्तव्य[98] उनकी कविताओं को समझने में सहायक सिद्ध होते है तथा कविता की शक्ति व सीमाओं का ज्ञान कराते हैं। कवि कर्म की सार्थकता व उपादेयता पर सदैव उनकी दृष्टि रही है।

धूमिल कविता रचते समय अपने वक्तव्यों द्वारा शास्त्र पर एक नयी दृष्टि से विचार करते हैं। उन्हें मालूम था कि उनकी कविता परम्परागत प्रतिमानों के आधार पर कसने पर खरी नहीं उतरेगी। धूमिल कविता से एक महत्वपूर्ण दायित्व की माँग करते है और अपनी कविताओं द्वारा उस माँग को पूरा करते है। अतः उनका कथ्य कविता की समझ से जुड़ा हुआ है।

कविता का दायित्व कवि की इन पंक्तियों में-

(1) " कविता हत्या नहीं करती

.........खून की रपट के कानूनी

मसलों पर पड़ताल करती है

ताकि न्याय कायम हो।"[99]

(2) " कविता विनाश (मृत्यु) के विरूद्ध सतत संघर्ष का नाम है।

'कविता मारती नही

जान बचाने की कोशिश में

पहल करती है।"[100]

'कवि' शीर्षक कविता में धूमिल कहते है कि उनकी कविता उस आम आदमी को जागृत करने में सहायक है जो अपने खिलाफ होने वाले हर कार्य को जानते हुए भी साहस की कमी से प्रतिरोध नहीं कर पाती।[101]

उनके अनुसार कविता ऐसी भाषिक अभिव्यक्ति होनी चाहिए जो इन्सान को इन्सानियत का पाठ पढ़ा सके –

"कविता

भाषा में

आदमी होने की तमीज है।"[102]

उनके अनुसार कविता वैचारिक स्तर पर क्रान्ति का माहौल पैदा करती है –

"कविता शब्दों पर शान चढ़ाने का काम .... करती है।"[103]

कविता सिर्फ कला नहीं है –

"कविता सिर्फ शब्दों की विसात नहीं

वाणी की आँख है।"[104]

धूमिल की कविता को उसकी रचनात्मक-प्रक्रिया की राह से गुजरकर ही भली-भाँति समझा जा सकता है। साहित्य के प्रति उनकी आसक्ति बचपन से ही थी। प्रारम्भ (१९५७-५८ से ६३ तक गीतों की दुनिया उन्हें प्रिय थी) में वे गीत लिखा करते थे। इन गीतों को लिखने का कारण वह स्वयं बताते हुए कहते हैं – "प्रारम्भ में किशोर मित्रों के बीच विशिष्ट होने की तीव्र इच्छा ने, स्कूलों में पुरस्कारों के सम्मोहन ने, परिवार के लोगों में अपने प्रति उत्पन्न हुए गर्व ने अक्सर मुझसे लिखवाया है। तब मैं चीजों के प्रति नहीं, अपने पद्यों के प्रति सचेष्ट था।"[105] पर समसामयिक जीवन की कटुता ने उनके गीतों को व्यंग्य युक्त कविता में बदल दिया। विभिन्न संघर्षमयी परिस्थितियों में उनके कवि रूप का विकास हुआ। वे मनोरंजन या समय काटने या फिर रोजी-रोटी के लिए, कविता नहीं लिखते थे वरन् शोषित वर्ग के हित में वैचारिक क्रान्ति का निर्माण करने के निमित्त कविता की सायास रचना करते थे। "धूमिल की वास्तविक शक्ति कविता को उपयोगी और सार्थक बनाने में व्यतीत होती है। वे कविता का मूल्य बढ़ाने के लिए सदैव परेशान रहे। जीवन की तमाम छोटी-बड़ी घटनाओं से प्रेरणा लेते रहे और उनके माध्यम से कविता

को बुनते रहे।"[106] उनका कविता बुनने का तरीका काफी अलग था "वह पहले किसी कविता के विषय को लेकर कई दिन औरों से बहस करता और खुद भी सोचता रहता। उस विषय पर जो भी सूझता, उसमें से जो लिखने योग्य होता उसे लिख लेता और फिर उसे तरतीब देकर कविता की रचना कर डालता था।"[107] वे कविता को जिन्दगी की जरूरतों के अनुरूप शब्दों में ढालना चाहते थे। जिस समय नये कवि कविता के स्वायत्त संसार की वकालत करते हुए कविता विधा की सलामती के लिए चिन्तित दिखाई पड़ते थे उस समय धूमिल का यह कहना था-

"कविता में जाने से पहले/मैं आपसे ही पूछता हूँ/
जब इससे न चोली बन सकती है। न चोंगा;
तब आपें कहो-/इस ससुरी कविता को
जंगल से जनता तक/ढ़ोने से क्या होगा ?"[108]

वे कविता को ऐसी उपलब्धि मानते थे जो सीधे लोक कल्याण से जुड़ी हो।

गजानन माधव व मुक्तिबोध के सृजनशील व्यक्तित्व व काव्य दृष्टि पर पारिवारिक व पारिवेशिक प्रभाव-

गजानन माधव 'मुक्तिबोध' एक ऐसे व्यक्तित्व का नाम है जो अपने जीवन में विभिन्न आघातों को झेलते हुए ही रचनाकार की प्रतिभा से समृद्ध हुए। इस संघर्ष की शुरूआत उनके पारिवारिक जीवन से होती है, जिनके लिए वे सामान्य आवश्यक वस्तुएँ भी सहजता से न जुटा सके। इसी धरातल पर वे पीड़ित-शोषित जन-समुदाय से जुड़ते हैं। उनकी आत्मा का प्रतिरूप यह पीड़ित जन सर्वत्र उनकी कविताओं में दिखाई पड़ता है। अभावों से उत्पन्न पीड़ा कवि को दुखी अवश्य करती है,[109] पर इन अभावों ने उन्हें कभी पथ-भ्रष्ट नहीं किया। विभिन्न प्रकार की ठोकरें खाने के बाद भी उन्होंने सच्चा व ईमानदार मनुष्य बने रहना ही उचित समझा। औरों की भाँति अगर वे भी गलत रास्ते

के द्वारा अपनी व पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति में जुटे होते, तो शायद शान-शौकत से जीवन व्यतीत कर सकते थे, पर यह उनके अन्दर के सच्चे इंसान को कत्तई मंजूर नही था। मुक्तिबोध जीवन-संघर्ष में कभी-कभी टूटते हैं, निराश होते है, पर उस श्रमशील गर्भवती नारी की आत्मा जो—"सब अभावों को सहकर कष्टों को लातमार निराशाएँ ठुकराकर/किसी ध्रुव-लक्ष्य पर/खिंचती सी जाती है/"[110]- उनमें अभावों से लड़ने की शक्ति पैदा करती है, और वे कह उठते हैं- "जीवित रह सकता हूँ मै भी तो वैसे ही"।[111]

मुक्तिबोध के स्वभाव में उनके थानेदार व बाद में इन्स्पेक्टर हुए पिता की झलक मिलती है। उनके पिता "पूजापाठी, न्यायनिष्ठ, मगर बहुत दबंग और निर्भीक; ड्यूटी के कठोरता से पाबन्द राजभक्त। खासी धाक। रिश्वत नहीं ली, न पैसा जमा किया। फाकेमस्ती के जीवन में कुछ यही आन, मूक-हठ सी, हम गजानन मुक्तिबोध के व्यक्तित्व में भी देखते है।"[112] उनके पिता उन्हे वकील बनाना चाहते थे, ताकि वह "बड़े-बड़े मुकदमे हाथ में ले, खूब कमाये और सामाजिक प्रतिष्ठा में उनसे भी ऊपर उठे।"[113] मगर "वह कमाना चाहता था ज्ञान-धन नहीं, खोज रहा था- सम्मानों की रूढ़ियाँ नहीं, नयी दृष्टि और अनुभव नये युग के अनुभव और काव्य की विलक्षण अनुभूतियाँ ।"[114]

उन्हें अपने इन्स्पेक्टर पिता से आर्थिक-सम्पन्नता तो नही मिली, पर अर्थाभाव भी न रहा था। पिता की सरकारी नौकरी से निवृति के पश्चात् उनके गृहस्थ जीवन में छायी आर्थिक विपन्नता ने उन्हें जीवन-पर्यन्त न छोड़ा। ऐसा नही है कि उन्होनें अपने प्रयास में कोई कोताही बरती हो, पर स्वभावगत सच्चाई व खरेपन के कारण वे सफल न हो सके।

जीविकोपार्जन की तलाश में जुटे मुक्तिबोध ने १६३८ में इन्दौर से बी० ए० करने के बाद उज्जैन के मार्डन स्कूल में अध्यापन-कार्य किया। १६४० में 'शारदा शिक्षा सदन',

शुजालपुर में अध्यापन-कार्य के दौरान उन्होंने वहाँ रहकर जो कुछ भी अनुभव प्राप्त किया, उसका उनकी रचनात्मकता पर व्यापक प्रभाव रहा। इस शिक्षा-सदन में होने वाले विद्वतापूर्ण भाषणों व बहसों ने उनके चिन्तक व आलोचक को नयी दृष्टि दी। यों तो उन्होंने दॉस्तायवस्की, फ्लाबेअर, गोर्की, वर्ग सॉ, रसेल, मार्क्स, रवीन्द्रनाथ, गाँधी[115] आदि को भली-भाँति पढ़ा था पर इन साहित्यिक बहसों में उन्हें मार्क्स की दृष्टि को समझने का मौका मिला। तारसप्तक के वक्तव्य में शुजालपुर में बिताये गये १६४२ के दिनों में वे कहते हैं "यहाँ लगभग एक साल में मैंने पाँच साल का पुराना जड़त्व निकालने की सफल-असफल कोशिश की। इस उद्योग के लिए प्रेरणा, विवेक और शान्ति मैंने एक ऐसी जगह पायी, जिसे पहले मैं विरोधी शक्ति मानता था। .... क्रमशः मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ अधिक वैज्ञानिक अधिक मूर्त और अधिक तेजस्वी दृष्टिकोण मुझे प्राप्त हुआ।"[116]

कवि जीवन के आरम्भिक दिनों में मधुर स्मृतियों को संजायें गीत लिखा करते थे - वह परस्पर की मुदृल पहचान जैसे/अतल गर्भा भव्य धरती हृदय के निजकूल पर/ मृदु स्पर्श कर पहिचान करती, गूढ़तम उस विशद/दीर्घच्छाय श्यामलकाय बरगद वृक्ष की, जिसके तले आश्रित अनेकों प्राण, जिसके मूल पृथ्वी के हृदय में टहल आये।"[117]

लेकिन जीवन की कटु वास्तविकताओं ने उन्हें गीत लिखने से रोका। वे स्वयं एक कविता में कहते हैं -

'ये अकेले गीत/दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा/खत्म जो हो ही गयी आंकाक्षा/व्यक्ति में व्यक्तित्व के खण्डहर/गान कर उठते उसी के गीत/ये अकेले गीत, स्वर-लय हीन गीत/मौन से बेचैन, लोचन-हीन गीत।"[118]

कवि के पूर्व के काव्य-व्यक्तित्व के खण्डहर बनने व जीवन वास्तविकताओं के

साक्षात्कार से उत्पन्न नये व्यक्तित्व के निर्माण में मार्क्सवादी दृष्टि का महत्वपूर्ण योगदान है। "शारदा शिक्षा सदन" शुजालपुर की यह देन जीवन-पर्यन्त उनके साथ रही, जो उनकी कविताओं में शोषित-पीड़ित जन की संवेदना के रूप में देखी जा सकती है। सन् १९४२ के आन्दोलन में शारदा शिक्षा सदन का बन्द होना मुक्तिबोध के लिए कष्टदायी साबित हुआ। क्योंकि उसके बाद से उनकी पारिवारिक दायित्व पूर्ति को लेकर परेशानियों का लम्बा सिलसिला शुरू होता है जो उनकी मृत्यु तक चलता रहता है।

साहित्यिक अभिरूचि रखने वाले मुक्तिबोध ने पुनः उज्जैन जाकर वहाँ 'मध्यभारत प्रगतिशील लेखक संघ' की बुनियाद डाली व १९४४ के अन्त में इन्दौर में फासिस्ट विरोधी लेखक कॉन्फ्रेन्स का आयोजन किया, जिसकी अध्यक्षता महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन ने की। सन् १९४५ से वे उज्जैन से बनारस गये, जहाँ त्रिलोचन शास्त्री के साथ 'हंस' के सम्पादन में हाथ बटाने से लेकर डिस्पैचर तक का कार्य किया, पर वहाँ भी जम न सके। सन् १९४६-४७ में जबलपुर जाकर उन्होनें अध्यापन-कार्य किया, साथ ही दैनिक पत्र "जयहिन्द" में भी कार्य करते रहे।[119] जबलपुर की आबोहवा भी उन्हें बाँध न सकी, और वे नागपुर चले गये। यहाँ उन्होनें अत्यधिक आर्थिक अभावों को झेला। नागपुर का जीवन उनकी श्रेष्ठ मानी जाने वाली कविताओं को प्रेरणा स्त्रोत भी बना। नागपुर रेडियो में उन्होंने कुछ दिनों तक समाचार विभाग में सम्पादक की नौकरी की। भोपाल तबादला होने पर किसी कारण वश न जा सके, अतः नौकरी से हाथ धोना पड़ा। नागपुर से निकलने वाले सनसनी खेज साप्ताहिक "नया खून" ये उन्होनें कॉलम लिखे। यह पत्र भ्रष्टाचार का पर्दाफाश करने व मजदूरों का पक्षधर होने के कारण लोगों की नजरों में चढ़ा हुआ था। एस्प्रेस मिल के मजदूरों पर गोली चलते वक्त वे रिर्पोटर की हैसियत से घटनास्थल पर मौजूद थे। वहाँ खेली गयी खूनी-होली के वे प्रत्यक्षदर्शी थे, जिसकी अभिव्यक्ति उनकी "अन्धेरे में" कविता में हुई है।[120]

आर्थिक अभावों से मुक्ति के लिए सतत् प्रयासरत मुक्तिबोध ने अपने हितैषियों के कहने पर १९५४ ई० में एम० ए० किया। तत्पश्चात् उन्हें राजनाद गाँव में अध्यापन कार्य करने को मिल गया, जिससे उनकी आर्थिक-स्थिति कुछ सुधरी। मगर यह सुख देखने के लिए वे अधिक दिन तक जीवित न रह सके। मौत ने समय से पहले ही उन्हें धर दबोचा। अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व तारसप्तक के द्वितीय संस्करण के अपने वक्तव्य में उन्होनें कहा- "पिछले बीस वर्षों में न मालूम कितनी बातें घटित हुई। वे सबके सामने हैं। मेरी अपनी जिन्दगी जिन तंग-गलियों में चक्कर काटती रही, उसे देखते हुए यही मानना पड़ता है कि साधारण श्रेणी में रहने वाले हम लोगों का अस्तित्व-संघर्ष के प्रयासों में समाप्त होना है।"[121] कवि मुक्ति बोध का यह कथन उनके अपने जीवन की कुछ महत्वूपर्ण घटनाओं पर प्रकाश डालता है जिसे समझने से उनकी कविताओं में व्याप्त संघर्ष की मुखर अभिव्यक्ति को भली-भाति समझा जा सकता है।

अस्तित्व-संघर्ष के प्रयासों में ही समाप्त होने वाले मुक्तिबोध के इस वैयक्तिक जीवन ने उनमें उस सर्जक-व्यक्तित्व का निर्माण किया, जिसमें समाज व्यापकतर रूप में समाहित है। उन्होंने स्वयं कहा- "जीवन और परिवेश की विषमता की यह स्थिति आभ्यन्तर में भी दु:स्थिति उत्पन्न करती है, यह एक दारूण सत्य है। मैं कहूँ कि यह मेरा अपना भी सत्य है। ....किन्तु यह भी एक तथ्य है कि इस आत्मग्रसता के बावजूद और शायद उसको साथ लिए-लिए मेरा आत्म-संवर्द्धन समाज के व्यापकतर छोर छूने लगा।"[122] मुक्तिबोध की इस आत्म-स्वीकृति में, जिसमें उन्होंने आत्मग्रस्तता के साथ ही समाज के लिए व्यापकतर होने की बात स्वीकारी, उनके अपने व्यक्तित्व की सहज परिणति का सत्य छिपा हुआ है। अतः स्पष्ट है उनकी कविताओं में व्यक्त उनका आत्मसंघर्ष उन्हें कहीं भी समाज-विमुख नहीं करता, वरन् सामाजिक-बोध की गहनता व व्यापकता का हृदय-संवेद्य रूपांकन करता है।

'स्व' का विस्तार कर सामाजिक जीवन के साथ गहन सम्पृक्ति के माध्यम से ही जन-जन के भीतर अपनी पहुँच का एहसास किया जा सकता है। उनका आत्मसंघर्ष लोकपक्ष के साथ इस तरह मिला हुआ है कि उस पर संदेह भरी दृष्टि डालना उचित नही है। उन्होंने कहा भी है कि "....जिस मन की अन्तर्मुखता जन-मन की भावनाओं में भीगी हुई है, उसके क्षोभों और द्रोहों से सबल हुई है, पीड़ित मानवता का सर्वज्ञ वह हृदय जनता से छिटकर 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' और 'अहं' क काफे हाउस में योरोपीय और भारतीय संस्कृति की गप्प नहीं लगा सकता।"[123] मुक्तिबोध का यह कथन जहाँ एक ओर उनकी जन-संवेद्य दृष्टि को स्पष्ट करता है तो वही दूसरी ओर व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व (अहंवादी व्यक्ति) की हिमायत नहीं करता। वे एक ऐसे समाज के पक्षधर थे जहाँ "किसी को भी किसी का व्यक्ति-स्वातन्त्र्य खरीदने का अधिकार न हो, न बेचने का। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को रहन न रखा जाय, न कोई किसी को रहन रखने दे, किन्तु जो व्यक्ति स्वातन्त्र्य समाजवाद और जनतन्त्र के समन्वय में बाधक हो या इन दोनों में से किसी एक का भी उत्सर्ग करने के लिए उत्सुक हो, उस व्यक्ति-स्वाातन्त्र्य को पूरा समाज सार्वजनिक रूप से निन्दिति और तिरस्कृत करे।"[124] व्यक्ति की स्वतन्त्रता को वे उसी हद तक जरूरी समझते थें, जहाँ वह दूसरों के लिए पीड़ादायी न हो। कहने का तात्पर्य यंह है कि वे अहम्केन्द्रित व्यक्ति स्वातन्त्र्य के विरोधी थे। 'व्यक्ति की मुक्ति' के सन्दर्भ में उनका मानना था कि जब तक समाज में अन्याय है, विषमता है, तब तक उनका कवि व्यक्ति की मुक्ति की बात नहीं कर सकता-

"कभी अकेले में मुक्ति न मिलती
यदि वह है तो सब के ही साथ है।"[125]

निजी संवेदनात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली कविता उनकी दृष्टि में समाज के लिए अनुपयुक्त थी। उनकी सृजनात्मता मूलतः शोषित, उत्पीड़ित व दलित व्यक्तियों के व्यापक

सामाजिक हितों के प्रति प्रतिबद्ध रही है। इन उत्पीड़ित जनों की समस्याओं को दूर करने के लिए अगर वर्ग-संघर्ष या क्रान्ति का भी सहारा लेना पड़े तो वह मुक्तिबोध के अनुसार अनुचित नहीं। पीड़ित जन के प्रति उनकी यह संवेदनशील दृष्टि ही उन्हें मार्क्सवादी विचारधारा की ओर ले गयी, जो ऐसे जनो की पक्षधर है। विज्ञान व प्रौद्योगिकी के बढ़ते प्रभाव के कारण होने वाले व्यापक परिवर्तनों के देखते हुए मुक्तिबोध कभी मार्क्सवादी विचारधारा को सिद्धान्तवत् न अपना सके वल्कि उन्होंने उसे अपने विवेक व तर्क के बल पर भली-भाँति परख कर उसके जीवन्त-तत्वों को ही ग्रहण किया। दूसरे शब्दों में कहे तो, उन्होंने विश्वदृष्टि के धरातल पर मार्क्सवाद को नया रूप दिया, जो पूंजीवादी-यान्त्रिक सभ्यता से उत्पन्न परिवर्तनों को देखते हुए जरूरी था।

कला को रहस्यात्मक-जगत् की वस्तु न मानने वाले मुक्तिबोध मार्क्सवादी साहित्यकारों के इस विचार से सहमत थे कि कला का अध्ययन व विश्लेषण विश्व-चेतस हुए बिना या बाह्य-जगत् की विविधता को जाने बिना नहीं हो सकता । क्योंकि उनके अनुसार बाह्य-जगत का आभ्यन्तरीकरण ही कविता या कला के रूप में अभिव्यक्ति पाता है ।[126] दूसरे शब्दों में कहे तो बाह्य-जगत् में जो हम देखते सुनते हैं, जिन घटनाओं से प्रभावित या क्षुब्ध होते हैं, वही आन्तरिक अनुभव में ढलकर संवेदनात्मक रूप में कविता में उपस्थित होता है। अतः कहा जा सकता है कि कविता में समझने व उसका सही विश्लेषण करने में बाह्य जगत् का ज्ञान सहायक बनता है।

मुक्तिबोध जिस समय काव्य रचना कर रहे थे, उस समय का समाज कैसा था, उन्हीं के शब्दों में - "समाज भयानक रूप से विषमता ग्रस्त हो गया है। चारों ओर नैतिक ह्रास के दृश्य दिखाई दे रहे हैं। शोषण और उत्पीड़न पहले से बहुत बढ़ गया है। नोच, खसोट, अवसरवाद, भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। कल के मसीहा आज उत्पीड़क हो उठे है।"[127] इसका परिणाम यह हुआ कि "....सर्वत्र क्षोभ, कष्ट, अन्याय और उत्पीड़न के

दृश्य दिखाई दे रहे हैं। समाज के भीतर के विभिन्न वर्गो की खाइयॉ और भी चौड़ी हो गयी हैं। यहाँ तक कि मध्यवर्ग में भी श्रेणियाँ पैदा होकर अपनी परस्पर दूरी खतरनाक तरीके से गहरी और चौड़ी कर रही है । जनपद स्कूल के शिक्षक और यूनिवर्सिटी प्रोफेसर के बीच, गरीब जनता और खादीधारी नेता के बीच, क्लर्क और अफसर के बीच दूरियाँ और खाइयां मुँह फाड़े खड़ी हैं- किसान-मजदूर और पूंजीपति-जमींदार के बीच की दूरियों का तो क्या कहना !”[128]

ऐसे पतनशील समाज में एक कवि की क्या भूमिका होनी चाहिए, इस बात को लेकर वे बेहद सजग थे। उन्होनें अपने विविध लेखों में कई स्थानों पर समसामयिक समाज को देखते हुए कवि के दायित्व से सम्बन्धित महत्वपूर्ण बाते कहीं है। उन्हीं के अनुसार - “आज ऐसे कवि चरित्र की आवश्यकता है, जो मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन करते हुए सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षो से प्रेरणा और प्रकाश ग्रहण करे, तथा उसे और अधिक निखारकर कलात्मक रूप में उन्ही की चीज को उन्हें लौटा दे। .... अपने युग की विवक-चेतना को मूर्तिमान करने का यह कार्य जितना गंभीर और कठिन है उतना ही प्रेरणाप्रद है..।”[129] कवि मुक्बिोध अन्ततः कविता से चाहते क्या है ? स्वयं उन्ही के शब्दों में, उनके निज-प्रयोजन इस प्रकार है-
“घर में, परिवार में, समाज में मनुष्य को मानवोचित जीवन प्राप्त हो। आर्थिक तुला के आधार पर घर में, परिवार में, समाज में मनुष्यों के मूल्यों को न आंका जाय। .... आर्थिक उत्पीड़न और शोषण-मूलक यह जो भयानक पूँजीवादी समाज व्यवस्था है, वह हमेशा के लिए समाप्त हो। और उत्पादन और श्रम के समस्त माध्यमों तथा साधनों पर पूरे समाज का अधिकार हो।”[130] अपनी कविताओं में वे ऐसे ही समाज के सृजन में प्रयासरत रहे है। इस पूँजीवाद के चंगुल में फंसी गरीब, दलित जनता की मुक्ति अगर क्रान्ति के द्वारा सम्भव है तो मुक्तिबोध के अनुसार “कला को अपने औजार उठा लेना

चाहिए, शायद बारूद भी जरूरी है, जिससे कि चट्टानें तोड़ी जा सके और युग के उन स्पन्दनशील सप्राण भाव निर्झरों को मुक्त किया जा सके, कि जो उन चट्टानों के नीचे दबे हुए है।"[131] उत्पीड़ित जन की मुक्ति हेतु प्रतिबद्ध कवि ने कविता को जरूरत पड़ने पर हथियार के रूप में इस्तेमाल करने में संकोच न करने का कहा, क्योंकि तत्कालीन विषम परिस्थितियो में अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने वालों के प्रति सक्रिय सहानुभूति कवि के महत्वपूर्ण दायित्वों में से एक है। उनके अनुसार जब लेखक अपनी समझ को जीवन-जगत् के विविध अनुभवों से समृद्ध करेगा तभी सामाजिक वास्तविकता को भली-भाँति समझ कर समाज के उन व्यक्तियों के हित कुछ कर सकेगा, जो शोषित व पीड़ित है। लेखक की प्रतिबद्धता को वे अनुचित नहीं मानते। उनका कहना है कि परिवेश से कटकर लेखक नहीं रह सकता। जब आम-आदमी उत्पीड़न का शिकार हो रहा तो इस स्थिति में शोषण करने वाली शक्तियों से सचेत हो उत्पीड़ित जनता के प्रति 'सक्रिय' सहानुभूति अनुचित नहीं, वरन् परम आवश्यक है। "साधारण मनुष्य सल्तनत नहीं चाहता। मनुष्य की स्वाभाविक गरिमा के अनुरोधों के अनुसार वह जीवन चाहता है और उस जीवन की आवश्यकताएं पूरी जो जाने की स्थिति चाहता है।"[132] उनके अनुसार जहाँ व्यक्ति जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु तड़प रहा हो, वहाँ उनकी ओर ध्यान न देकर कविता में उस काव्य सौन्दर्य या कलात्मकता की चर्चा करना जो हमें तत्कालीन हासग्रस्त व्यवस्था से दूर किसी भऽजनोचित्त सौन्दर्याभिरूचि" या रहस्यमय लोक में सौंदर्य के दर्शन कराता है, कहाँ तक उपयुक्त है। इन तथाकथित सौन्दर्यवादियों को "जहाँ भी ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य की जीवन-दृष्टि उत्पीड़ित मानवता पक्ष ले रही है, वही नाक-भौं सिकोड़े जाने के चिहृन दिखाई दिये।"[133] ऐसा साहित्य उनकी दृष्टि से सौन्दर्य उत्पन्न नहीं करता। आगे वे कहते है - "ये सौन्दर्यवादी लोग यह भूल गये कि बंजर काले-स्याह पहाड़ में भी एक अजीब वीरान

भव्यता होती है......।"[134] इन सौन्दर्यवादी लेखकों के लिए कवि का कहना है कि उन्हे" अपनी सौन्दर्याभिरूचि के सेन्सर्स जरा ढीले करने होंगे, विषय-संकलन को स्वानुभूत विवेक के विश्व-चेतस हाथों में सौपना होगा.......।"[135] वे यह भी कहते है कि ऐसा नहीं है कि वे तत्कालीन विषम परिस्थितियों से प्रभावित ही नही होते। "आज की विषम सभ्यता के भयानक दृश्यों से उनका भी चित्त क्षुब्ध हो जाता है। फिर भी वे इन सब बातों के चित्रण की ओर ध्यान नहीं देते.....।"[136] इसका कारण उनकी दृष्टि में यह है कि उनकी मूल्य भावना या विवेकक्षीण है। और ऐसा इसलिए है क्योंकि "वे उच्च-मध्यवर्गीय, सम्पन्न, विलायती संस्कारों से युक्त सौन्दर्याभिरूचि के चक्कर में है।"[137] मानवता के भविष्य-निर्माण के संघर्ष से स्वयं को जोड़ने वाले मुक्तिबोध कवियों में विश्वदृष्टि का विकास आवश्यक मानते है। यह विश्वदृष्टि ही उनमें आभ्यन्तर आत्मिक शक्ति उत्पन्न कर उनके मनोबल को बढ़ायेगी ताकि वे अपनी पीड़ा ग्रस्त अगतिकता को दूर कर विश्व मानवता के साथ एकाकार हो सके।[138]

मुक्तिबोध यथार्थ -जगत् की वास्तविकता को फैंटेसी के माध्यम से अभिव्यक्ति देते है। यह उनकी अभिव्यक्ति की अपनी शैली है, जो उन्हें अन्य कवियों से अलग करती है। अपनी इसी शैली के कारण यथार्थ का प्रत्यक्ष रूप से सामना न करने के कारण उन पर पाठक को अलग तिलस्म की दुनिया की सैर कराने के आरोप लगे। जो व्यक्ति जीवन-पर्यन्त अभावों से जूझता रहा हो, वह फैंटेसी का सहारा लेकर तिलस्मी आकाश में कैसे विचरण कर सकता है ? मुक्तिबोध तत्कालीन भीषण यथार्थ से गहराई से जुड़े रहे है जिसे वह फैंटेसी की शैली में आकर्षक ढंग से अभिव्यक्त करते है जो कविता को प्रभावी बनाने के लिए उन्हें उपयुक्त लगी।

कल्पना शक्ति वास्तविक संसार से ही अनुभूति या वस्तु का चयन करती है। अतः कल्पना का यथार्थ से सम्बन्ध है। सृजन प्रक्रिया के दौरान किसी भी विषय को सबसे

पहले तो हमें कल्पना मे ही साकार करना पड़ता है, क्योंकि इसके बिना अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। अतः यथार्थ चित्रण के लिए भी कल्पना का सहारा तो लेना ही पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि कल्पना के बिना कला सम्भव ही नहीं। कल्पना की अधिकता कवि की अपनी विशेष शैली हो सकती है, जो मुक्ति बोध मे दिखलाई पड़ती है। उनकी यह कल्पना अवास्तविक या अलौकिक संसार से घटनाओं का चयन कर वास्तविक जीवन यथार्थ को मूर्त करती है, न कि किसी काल्पनिक लोक में विचरण कराती है।

मुक्तिबोध युग-बोध को अभिव्यक्ति देने के लिए अचानक ही फैंटेसी की ओर उन्मुख नहीं हुए वरन् इसकी पृष्ठभूमि उस समय ही बननी शुरू हो गयी जब वे अपने एक सहपाठी या मित्र शान्ताराम, जो रात में गश्त लगाता था-के साथ रात के सन्नाटे से उत्पन्न रहस्यमय वातावरण में घूमते थे। अंग्रेजी शासन के दौरान दिन-प्रतिदिन होने वाले सामंती-आतंक व अत्याचारों से उत्पन्न रोमांच ने भी उन के मन में गहरी पैठ की। पत्रकार जीवन व "उत्तरवर्ती जीवन में पढ़े गये जासूसी उपन्यासों व सांइस फिक्शन" ने उनकी कविताओं को फन्तासीय ताने बाने में बुनने में सहायता की। अवचेतन व स्वप्नपरक बिम्बों की सृष्टि में एडलर व युंग आदि विद्वानों की रचनाओं का भी योगदान है, जिसे उन्होंने भली-भाँति पढ़ा था।[139]

यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है कि कवि मुक्तिबोध फैंटेसी की शैली में अपनी बात क्यों कहते हैं। इस सन्दर्भ में उन्होनें स्वयं कहा कि "बहुत बार यह दुनिया जैसी दिखलाई पड़ती है, वैसी नहीं होती। उसके दिखलाई पड़ने वाले रूप और असली रूप में स्तब्ध कर देने वाला अन्तर्विरोध होता है। तथ्य यथार्थ को छिपा लेते हैं। ऐसी स्थिति में फैंटेसी के जरिये ही उसके असली रूप को दिखलाया जा सकता है।"[140] उनकी फैंटेसी निरूद्देश्य नहीं है। वे कहते है- "......फैंटेसी के भीतर वह मर्म- जिसमें एक उद्देश्य है, एक पीड़ा है, और एक दिशा है-अनेक जीवनानुभवों से समर्पित, संवर्धित और

पुष्ट होकर प्रकट होना चाहता है।"[141] कहा जा सकता है कि उन्होंने विषम सामाजिक परिस्थितियों से पीड़ित-व्यक्ति के कष्टों से जन-जन को गहराई से संवेदित कराने के लिए फैंटेसी जैसी आकर्षक शैली का सहारा लिया, न कि तत्कालीन यथार्थ से पलायन के लिए। कवि तो खोजी दृष्टि को लेकर साहस के साथ लालटेन के प्रकाश में दिखाई पड़ने वाले पथ में आगे बढ़ता जाता है। आगे उसे क्या-क्या मिलेगा, किन-किन घटनाओं से वह साक्षात्कार करेगा। यह सब उसे नहीं मालूम। बस वह आगे बढ़ता जाता है रास्ते मिलते जाते है और कवि उनमें से अपने पथ का अपने संवेदनात्मक उद्देश्यों के अनुरूप चुनाव करता जाता है। कवि का संवेदनात्मक उद्देश्य यह है कि इस पृथ्वी पर सभी मानव सुखी, सुन्दर व शोषणमुक्त हों-

"समस्या एक-

मेरे सभ्य नगरों और ग्रामों में

सभी मानव

सुखी, सुन्दर, व शोषण मुक्त

कब होंगे"[142]

परन्तु क्रूर शोषकों ने पीड़ितों के लिए दिन में भी एक ऐसे अँधेरे का सृजन किया है जिसमें दलित, पीड़ित और शोषित मानव जगत की गलियों में फटेहाल प्रतिपल घूमता रहता है।[143]

कवि रघुवीर सहाय के सृजनशील व्यक्तित्व में सहायक मुख्य बिन्दु व उनका काव्य विषयक दृष्टिकोण -

छोटी-मोटी जमींदारी वाले घराने में जन्म लेने वाले रघुवीर सहाय जीवन-पर्यन्त पीड़ितों के लिए कविता के माध्यम से संघर्ष करते रहे हैं । अपने साहित्य के अध्यापक पिता की साहित्यिक अभिरूचि को विरासत के रूप में प्राप्त कर इन्होंने उसे नये रूप में

प्रस्तुत किया । इनके पितामह श्री लक्ष्मी सहाय यद्यपि पुलिस सेवा में थे किन्तु सेवा निवृत्ति के पश्चात् वे आर्य समाज के विचारों को फैलाते रहे तथा निःशुल्क चिकित्सा के माध्यम से समाज सेवा का कार्य भी करते रहे ।[144] अपने पितामह और पिता के समाज सुधारक विचारों को रघुवीर सहाय ने अपनी रचनाओं के नूतन शिल्प से सँवारा और सजाया है । सत्रह साल की अवस्था में ही जिसकी कविता प्रकाश में आ गयी हो और अठारहवें साल की अवस्था में जिसकी कविता यह कहे कि- बोल कि तू कितना मानव बन पाया अब तक/प्रवासी सौर जगत का ? लौट रहा घर, हारा माँदा थका....[145]-वह कवि निश्चय ही मानवता-वादी कवित्व के वीज को द्योतित कर रहा है । प्रकृति के प्रारम्भ की अनजाने कहानी सुनाने वाले रघुवीर सहाय विश्व से निर्मोही होकर तथा विश्व की शुभकामना के लिए युग युगों का बटोही वनकर निर्माण पथ पर चलते रहे ।[146]

भारत को आजादी मिलने के कुछ माह पूर्व ही कवि रघुवीर सहाय ने लिखना आरम्भ किया। उस समय उनके लिखने का उद्‌देश्य उन्ही के शब्दों में- "एक बहुत बड़ा क्षितिज हो सकता है, जिसमें वह उद्‌देश्य फैला हुआ हो, केवल सुन्दर स्वर, छन्द, शब्द को पहचानना, उन्हीं को फिर से सृजित करना, यह भी एक उद्‌देश्य का हिस्सा था। कुछ ऐसी बाते हैं जो न्यायोचित और सत्य लगती है, उनको कहना भी उद्‌देश्य था। इस प्रकार उद्‌देश्य की एक पूरी परिधि हो सकती है।"[147] अन्त में अपने उद्‌देश्यों को समग्रतः स्पष्ट करते हुए वे कहते है कि "इस प्रकार भाषा तथा एक सामाजिक सत्य के लिए आग्रह और फिर वह आशा जो चारो तरफ व्याप्त थी- ये तीन चीजे,....कह सकते है कि लिखने को प्रेरित करती थी।"[148] वस्तुतः लेखन-कार्य तीनों तत्वों का समुदित रूप होता है। ये तीनों मिलकर एक कारण बनते हैं। इसमें प्रमुखता सामाजिक चेतना की है। क्योंकि सामाजिक स्वरूप ही कविता को सार्थक आयाम देता है।

आजादी के एक दिन पूर्व हुआ देश का विभाजन, तत्पश्चात् दंगे व गांधी की

हत्या- आदि घटनाएँ कवि के अन्तर्मन को दुःखी करती है, पर आजादी मिलने से प्राप्त 'उल्लास व आशा' में कवि तत्कालीन राजनीतिक व सामाजिक समस्याओं से बहुत ही सतही स्तर पर जुड़ पाता है क्योकि उसे विश्वास है कि धीरे-धीरे ही परिस्थितियाँ अनुकूल होगी। "नया वर्ष" शीर्षक कविता जो उन्होंने आजादी के छह माह बीतने के बाद लिखी थी, उसमें स्पष्ट कहा कि यह समय देश हित में और भी अच्छा हो सकता था, पर कवि निराश नहीं है। उनकी यह कविता आजादी के पूर्व देखे गये स्वप्नो को साकार करने के लिए जन-जन मे आशा, स्फूर्ति व उत्साह का संचार करती है- "नव आशा की स्फूर्ति चरण में/नव निश्चय की नई शक्ति, नव रक्त रगो में/दुहरा ले जी तोड़ परिश्रम की फिर शपथें।[149]

परन्तु सारे 'सपनों' के 'दर्पण' को चूर-चूर होते व 'आशा की बल्लरी' पर वज्राघात होते देख कवि के दृष्टिकोण में वदलाव आया और वे सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक से अधिक जागरूक होते गये। लेखक जब अपने दायित्व बोध को समझने लगता है, तब उसका दृष्टिकोण व्यापक होने लगता है। वह 'ईमानदारी' से जब प्रेम करने लगता है, तब वह जन-सामान्य से सच्चे अर्थो में प्यार करते लगता है। सच्चे कवि की कविता न बिकती है, न दूसरे के आदेशों के अनुसार कान पकड़ कर उठक-बैठक करती है, क्योंकि उसके लिए भाषा दूसरे की उधार ली हुई वस्तु नहीं रहती है-"बहुत दिन हुए तब मैने कहा था लिखूँगा नहीं। किसी के आदेश से/आज भी कहता हुँ। किन्तु आज पहले से कुछ और अधिक बार/बिना कहे रहता हूँ/क्योंकि आज भाषा ही मेरी एक मुश्किल ही नही रही/एक मुश्किल है जनता।"[150]

जन सामान्य से जिनका रिश्ता ईमानदारी का हो जाता है वह कवि न रोमाण्टिक परम्परा की धारा मे बहता है न बाहरी मूर्तियों को तोड़ने के लिए दिखावटी प्रयास करता है। वह तो जनता से हार्दिक लगाव की रक्षा के लिए अपनी कविता की सृष्टि की मूर्तियों

को बार-बार तोड़ता और बनाता रहता है।[151] इसके मूल में बस कवि की यही भावना रहती है कि उसका जनता के प्रति प्रेम वास्तविक धरातल पर बना रहे न कि प्रदर्शन मात्र हो।

जनता से ईमानदार सम्बन्ध बनाने वाले रघुवीर सहाय किसी भी दल से प्रतिबद्ध नहीं थे, फिर भी मार्क्सवाद पर उनकी आस्था थी जैसा कि उन्होनें स्वयं कहा- " कोशिश तो यही रही है कि सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक से अधिक जागरूक रहा जाए और वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझा जाय। शमशेर बहादुर का यह कहना मुझे बराबर याद रहेगा कि जिन्दगी में तीन चीजों की बड़ी जरूरत है: आक्सीजन, मार्क्सवाद और वह शक्ल, जो हम जनता में देखते है।"[152] मार्क्सवाद को अपरिहार्य मानने के बावजूद कविता के सन्दर्भ में उनका कहना है कि "मगर मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता।"[153] वस्तुतः मार्क्सवाद उनकी रगों में खून की भाँति समाहित था न कि दलीय प्रतिबद्धता में बँधकर बाहर से थोपा हुआ। उन्होंने अपनी सामाजिक समझ को बढ़ाने में अपने मार्क्सवादी मित्रों के प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहा कि "उन अभिज्ञान ने एक मौलिक मानवीय शक्ति दी है, जो आज तक मेरे काम आ रही है।"[154] इस मार्क्सवादी सामाजिक समझ ने ही उन्हे लोहिया के चिन्तन की ओर आकृष्ट किया। जिनसे वे अत्यन्त प्रभावित थे। वे स्वयं इस बात को स्वीकार करते हुए कहते है कि "मार्क्सवाद का अनुभव यदि मैंने प्रारम्भ में न पाया होता तो शायद लोहिया भी मेरे लिए अन्य समकालीन साहित्यिकों की भाँति सिर्फ एक विचारहीन पूजा की वस्तु बन जाते।"[155] लोहिया की विचारधारा ने रघुवीर सहाय को उस सामाजिक सच्चाई को जानने का अवसर दिया जिसके माध्यम से वे भारतीय समाज में व्याप्त मिथ्याचार, पाखण्डवाद, धोखाधड़ी, मक्कारी, बनावटी जीवन को ध्वस्त करने वाले विचारों को विस्तृत आयाम दे सके । वस्तुतः लोहिया की विचारधारा ने उनके लेखन को इतना प्रभावित नहीं किया

जितना उनके समझने के यन्त्र को ।[156]

सामाजिक विचारधाराओं के अन्न जल से पलने वाले रघुवीर सहाय ने कभी भी राजनीतिज्ञों के कुशासन से समझौता नहीं किया क्योंकि राजनेता लोग अपनी नीतिविहीन भ्रष्टाचारिता के द्वारा नहरों और कुओं की खुदाई का पैसा स्वयं खा जाते हैं और अकाल में मरते हुए मनुष्य को समझाते है कि वे ही उन्हें अन्न दे सकते है। वे लोग अपनी दास-वृत्ति नीतियों के कारण देश की शक्ति बढ़ाने में असमर्थ रहते हुए भी लोकतन्त्रीय बहुमत के सहारे लोकप्रिय शासक बने रहकर नैतिक-मूल्यों का उपहास करते हुए भौतिक सुखों की मदिरा में आंकठ डूबे रहते है।[157]

रघुवीर सहाय लेनिन के इस कथन "संसद एक गपशप की दुकान मात्र है जिसमें बातचीत तथा बहस के जरिए आम आदमी को बेवकूफ बनाया जाता है।"[158] को अपनी कविता में चित्रित करते हुए इस देश के भ्रष्ट नेताओं के काले-कारनामों को व्यंग्य के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं–संसद एक मन्दिर है जहाँ किसी को द्रोही कहा नही जा सकता/ ......दस मन्त्री बेइमान और कोई अपराध सिद्ध नही/काल रोग का फल है अकाल अनावष्टि का/यह भारत एक महागद्दा है प्रेम का।[159]

राजनीतिक कारणों से प्रभावित होकर रघुवीर सहाय ने अपने हृदय के भाव को कविता के रूप में अभिव्यक्त किया है। संवेदनशील कवि राजनीति के पाखण्डवादी अत्याचारों से कभी साँठ-गाँठ नही कर सकता है। रघुवीर सहाय राजनीति के उथल-पुथल में और उससे पैदा होने वाले रास्ते के विकास में बढ़-चढ़कर अपनी लेखनी के माध्यम से हिस्सा लेते है, किन्तु किसी को वे यह अधिकार नही देते कि कोई उनके काम की कैफियत माँगे।[160] समाज के प्रति उत्तरदायी कवि कभी भी राजनीतिक उथल-पुथल और उसके शोषण को अपनी बेवस आँखों से देखता नही रह सकता। वह अपनी कविता के माध्यम से उनके अत्याचारों पर रोक लगाने के लिए यथासम्भव प्रयास करता रहता

है। वे कवि जो "कविता के लिए कविता" में डूबे रहकर राजनीतिक हिस्सेदारी से अपने को मुक्त रखते हैं वे कवि भले हो सकते हैं किन्तु राष्ट्र और समाज की दृष्टि से नगण्य होते हैं। लेखक के लिए राजनीति से अलग रहना हर हालत में बेमानी और बेईमानी है। परन्तु राजनीतिक पार्टी का गुलाम हो जाना सिर्फ उसी हालत में बेईमानी है जब कवि यह हरकत समाज के नाम पर करते हैं।[161]

कवि रघुवीर सहाय राजनीति व रचनाकार के धर्म को अच्छी तरह समझते है। वे अपनी लेखनी को राजनैतिक बन्दिनी बनाना कभी नही चाहते।[162] शासक सदा बाध्य करता है कि कवि उसके साथ काम करे किन्तु कविता अकेले ही काम करना चाहती है। किसी की आज्ञा को वह स्वीकार नही करती- "वे हमेशा बाध्य करते हैं/ कि हम दूसरे के साथ काम करें/ जबकि कविता अकेले ही काम करने का तकाजा करती है।"[163] लेखक अन्याय के विरूद्ध कलम लेकर बैठा हुआ लिखता रहता है, वह दूसरों के शब्दों को नहीं लिखता है वरन् शब्दों को खोजता रहता है क्योंकि लेखक स्वच्छन्द है।[164]

रघुवीर सहाय इस सच को सदा स्वीकार करते हैं कि राजनीति एक अच्छे और सही अर्थ में एक रचनात्मक कर्म के रूप में अनिवार्य है और होना चाहिए।[165] वास्तविक लेखक वही है जो सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक दादागिरी के खिलाफ अपनी लेखनी उठाकर शोषित, दलित-पीड़ित दीन-हीन कृषक व मजदूरों के उत्थान के लिए अपनी आवाज को बुलन्द करता है। 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' कविता में कवि ने जिस निर्भीकता से देश के स्वरूप को प्रस्तुत किया है व्रह कवि-कर्म का उदात्त रूप है। रघुवीर सहाय की राजनीतिक दृष्टि के सार को सुरेश शर्मा के शब्दों में कहा जा सकता है- "... रघुवीर सहाय एक सही विचारधारा के साथ कवि के जुड़ाव को तो अनिवार्य मानते हैं लेकिन उस विचारधारा से नियन्त्रित दल के साथ अपना रिश्ता बराबर का रखना चाहते हैं। दल का आदेश या एक खास समय में दल की दृष्टि से ही यथार्थ को नहीं देखना

चाहते, बल्कि दल किसी स्थिति के सन्दर्भ मे जो दृष्टि बनाता है, वह बनाने में भी अपनी भूमिका निभाना चाहते है।"[166]

'भारतीय लोकतन्त्र' विश्व का सबसे बड़ा लोकतन्त्र है किन्तु इस लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में राजतन्त्र के सारे दोष समाहित हैं। रघुवीर सहाय महसूस करते है कि इस लोकतन्त्र में मानवीय संवेदनाएँ मर गयी हैं।[167] इस लोकतन्त्र में जनता के हितैषी कहे जाने वाले नेता-गण जनता के रक्त से अपने मौजमस्ती भरे जीवन को सींचते रहते हैं। इनका विरोध करने वाले भी अवसर आने पर उन्हीं जैसा आचरण करने लगते है। लेखक और कवि भी शासन को तो नहीं बदल पाते किन्तु वे अपने को ही बदलकर गर्वान्वित होते है।[168] ऐसी स्थिति में रघुवीर सहाय जैसे कवि अपने साहित्यिक हथियारों के माध्यम से हर मोर्चे पर सभी अत्याचारी सेनाओं से लडते रहते हैं। यही लड़ने की इच्छा और दूसरे इन्सान के लिए जिन्दा रहने की कामना ही उनसे संवदेनशील साहित्य का सृजन कराती है।[169]

रघुवीर सहाय अपने कायर मन को बराबर टूटने की प्रेरणा देते हैं।[170] कायरता से मुक्त मन ही समाज को सही रास्ता दिखा सकता हैं। "आत्म हत्या के विरूद्ध" कविता संग्रह रघुवीर सहाय के राजनैतिक व अराजनैतिक जीवन की सही तस्वीर को प्रस्तुत करता है। इस संग्रह में इनकी राजनैतिक चेतना निष्पक्ष चिन्तन के निर्मल स्वरूप को प्रस्तुत करती है।

वे तथाकथित श्रेष्ठ माने जाने वाले लोगों के साथ नहीं हो सकते (श्रेष्ठ लोगों मुझे माफ करो/ मैं तुम्हारे साथ आ नही सकता)[171] क्योंकि वे असहाय लोगों के दुःखों को सहते रहते है (खुश और असहाय/उनके बीच में रहता हूँ/उनका दुःख.....)[172]।आज समाज की जैसी स्थिति है, वैसी कभी नहीं रही है। बौद्धिक वर्ग जिनके मन में शासन से नफरत है- वह तटस्थ है। एक बौद्धिक वर्ग वह भी है जो शासन का गुणोगान करता हुआ,

अपनी तौंद को मोटी करता हुआ साहित्यिक होने का मिथ्या दम्भ भरता है। वस्तुतः आज देश में सामूहिक कायरता ने अपना स्थान विस्तृत कर लिया है। इसलिए शासन में भ्रष्टाचरण बढ़ता जा रहा है। लोगों का झुण्ड प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा मरता हुआ अपने में ही लीन शहरी सभ्यता की ओर बढ़ता जा रहा है- (रोज-रोज थोड़ा-थोड़ा मरते हुए लोगो का झुण्ड/तिल-तिल खिसकता है शहर की तरफ)।[173] रघुवीर सहाय भीड की निःसंगता या कायरता को देखकर दुःखी हो जाते हैं। उनकी सूक्ष्म-दृष्टि ने जब देखा कि लोकतन्त्र एक मजाक बनकर रह गया है और हर व्यक्ति एक दूसरे से नफरत कर रहा है तव उनकी लेखनी इस दुःखद सत्य का संवेदनापूर्ण चित्रण किये बिना न रह सकी।[174]

इस निरर्थक होती लोकतन्त्रीय व्यवस्था के बीच कवि रघुवीर सहाय अपने को न्याय व समानता के पक्ष में खड़ा करते है।[175] वह क्रान्ति का पुजारी व मसीहा बनना नहीं चाहते, न ही आत्मपीड़क भाव में लिप्त होकर लोगों से सहानुभूति चाहते है क्योंकि उनकी दृष्टि से ये रास्ते उसे अपने कर्तव्य से विमुख करने वाले हैं। वे अपनी कविता को 'समता की लड़ाई लड़ने का कारगर माध्यम' बनाना चाहते हैं।

तत्कालीन परिवेश में व्यक्ति के स्तर का निरन्तर गिरते जाना व मानवीय मूल्यों का दिखावटी रूप कवि रघुवीर सहाय की मूल-चिन्ता है। आज मनुष्य इस्तेमाल की वस्तु बनता जा रहा है। सर्वत्र बनावटी रागात्मकता दिखाई दे रही है, जिससे आत्मिक पतन होता जा रहा है। वे अपनी कविता के माध्यम से सच्चे रागात्मक सम्बन्धों की स्थापना करना चाहते है, भले ही इसके लिये संघर्ष को आधार बनाना पड़े। इस सन्दर्भ वे कहते है कि "....कवि का हर समय सार्थक अभिज्ञान यही है कि संघर्ष का आधार नए मानवीय रिश्ते की खोज होना चाहिए और यह खोज जारी न रहने पर वे परिणाम निकल सकते है, जिनको आज हम देख रहे हैं- इतिहास व परम्परा की विकृति के द्वारा एक बनावटी इतिहास का निर्माण और आने वाली पीढ़ी की प्रायोजित अशिक्षा।"[176] सच्चे रागात्मक

सम्बन्धों की खोज व स्थापना के लिए कवि का यह दायित्व है कि वह परम्परा से प्राप्त मानव-मूल्यों को सँजोकर रखे ताकि नयी पीढी उससे कुछ ग्रहण कर सके।

'कवि के दायित्व' के प्रति रघुवीर सहाय सदैव सजग रहे हैं। 'लखनऊ लेखक संघ' के परिपत्र में उन्होने लेखक के दायित्व से सम्बन्धित अनेक महत्वपूर्ण बाते कही है। उनके शब्दों में "सामाजिक विकास में समाज के अन्य सचेत अंगों की भाँति लेखक का भी दायित्व होता है..... आज हमारे समाज में त्रास व कुंठा का वातावरण है और सांस्कृतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ जन-चेतना के स्वस्थ विकास का प्रयत्न करे।"[177] युद्ध, शोषण, भय व आंतक- ये तत्व उनकी दृष्टि में जन-चेतना के विकास में बाधक बनते है। अतः इन्हें उत्पन्न करने वाली शक्तियों का विरोध करना लेखक के महत्वपूर्ण दायित्वों मे से एक है।[178] 'सामाजिक वास्तविकता' को कलात्मक सृजन का मूल स्त्रोत[179] मानने वाले रघुवीर सहाय का मानना है कि कोई भी रचना 'विनाश के विरूद्ध' होती है।[180] अतः कहा जा सकता है कि रघुवीर सहाय अपने रचनाकर्म के द्वारा "विनाश के विरूद्ध आवश्यक कार्यवाही ही करते हैं।" यह कार्य उनकी रचना को सार्थकता प्रदान करता है।

रघुवीर सहाय किसी भी तरह की प्रतिबद्धता से मुक्त हो व्यापक संसार के दृश्यों को अपनी कविता के दर्पण में प्रतिबिम्बित करते हैं। उनकी दृष्टि में कविता में प्रतिबद्धता अहंवाद को जन्म देती है, चाहे वह आम-आदमी के प्रति ही प्रतिबद्ध क्यों न हो। कवियों पर अहंवादी होने के आरोप लगाये जाने पर प्रतिक्रिया स्वरूप "लोग भूल गये है" कविता-संग्रह की भूमिका में उन्होंने कहा कि "वास्तव में अहं खुले आम जन-साधारण के बारे में लिखने का अहंकार करने वाले कवियों में भी हो सकता है, यह आज ही प्रकट होकर दिख रहा है।"[181] उन्होने जनवादी कवियों की श्रेणी में अपने को खड़ाकर एक ही पक्ष की कविता नहीं लिखी वरन् जीवन के विविध भावों व विषयों (प्रेम, करूणा, ईश्वर,

स्त्री समस्या, हिन्दी भाषा) को लेकर कविताएँ लिखी है। "लेखक स्वच्छन्द है"[182] की बात करने वाला कवि कभी भी प्रतिबद्ध होकर सृजन नहीं कर सकता।

अपने पिता से 'अनाहत जिजीविषा'(तुमने जो दी है अनाहत जिजीविषा)[183] प्राप्त करने वाले रघुवीर सहाय की जो लेखनी "आत्महत्या के विरूद्ध" उठी, वह आजीवन विनाश के विरूद्ध व न्याय व समानता के पक्ष में सर्जना के क्षणों को रेखांकित करती रही है। वे अपनी लेखनी को विनाशकारी शक्तियों के विरूद्ध ब्रज बनाकर प्रस्तुत करते हैं। उन्हें इसमें कितनी सफलता मिली, यह महत्वपूर्ण नही है, वरन् उनका प्रयास किस हद तक है, वह श्लाध्य है। उन्होंने ठीक ही कहा है- "जिस तरह रचनात्मकता और आजादी एक ही मानवीय आकांक्षा के पर्याय हैं उसी तरह समता की लड़ाई और कविता भी एक ही मानव के उत्कर्ष के पर्याय है।[184]

रघुवीर सहाय "कविता के नक्शे में एक चाल"[185] चलने वाले कवि नहीं हैं वरन् घुटनों के छिलने से प्राप्त सत्य का चित्रण करने वाले कवि हैं। वे जन सामान्य की पीड़ा को अपनी कविता के ओठों से पीने के लिए सदैव तत्पर रहे हैं[186] तथा सामाजिक-सांस्कृतिक व राजनीतिक पतन से मुक्ति के उपाय को अपनी कविताओं के माध्यम से ढूढ़ते हुए लोहिया के खोजी व्यक्तित्व को साकार रूप देते हैं।

गिरिजा कुमार माथुर के सृजनशील व्यक्तित्व व काव्य-दृष्टि पर पारिवारिक व पारिवेशिक प्रभाव-

मध्यप्रदेश के अशोक नगर में २२ अगस्त १९१९[187] को जब गिरिजा कुमार माथुर ने इस वसुन्धरा का स्पर्श किया तब किसी ने यह अनुमान नहीं किया होगा कि यह व्यक्ति स्वातन्त्र्योत्तर भारत में हिन्दी साहित्य जगत् का सशक्त हस्ताक्षर सिद्ध होगा। किसी भी व्यक्ति के निर्माण में पारिवारिक परिवेश का बहुत महत्व होता है। अध्ययनशील पिता के पुस्तकालय में सदग्रन्थों का उत्तमं संग्रह होने के कारण बालक गिरिजा कुमार माथुर भी

पिता के समान अध्ययन में रूचि लेने लगे। बारह वर्ष की अवस्था तक रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित "कविता कौमुदी" के अतिरिक्त अनेक कवियों का इन्होंने अध्ययन कर लिया था।[188] इस अध्ययन ने इनके कोमल मन में कविता का बीज बोया, जो आगे चलकर पल्लवित व पुष्पित ही नही हुआ वरन् अपने अद्वितीय सौरभ से सबका मन मोहने मे समर्थ हुआ। चौबीस घंटे अपने अध्यापक पिता की छाया में रहने के कारण इन्हें पिता के स्नेह के साथ-साथ ज्ञान भी मिलता रहा। अंग्रेजी में मिडिल की शिक्षा-समाप्ति के पश्चात् अपनी बहन के यहाँ झांसी मे जाकर इन्होंने हाईस्कूल व इन्टरमीडिएट की शिक्षा पूरी की।[189] यहीं पर इन्हें साहित्यिक वातावरण मिला। आयेदिन होने वाले कवि-सम्मेलनों में ब्रजभाषा के माधुर्य से प्रभावित होकर इनकी कवित्व शक्ति ब्रजभाषा में कवित्त व सवैये के रूप में प्रस्पुटित होने लगी, लेकिन सम्पूर्ण विश्व को आकर्षित कर लेने वाली छायावादी कविताओं ने गिरिजा कुमार माथुर को अपने रूप-माधुर्य से आकर्षित कर इनकी लेखनी को खड़ी-बोली में कविता लिखने को बाध्य कर दिया।[190] पन्त के "पल्लव" की स्निग्धता, जयशंकर प्रसाद के 'आँसू' की धारा, महादेवी की रचनाओं की वेदना तथा माँ का रूग्णावस्था से द्रवित इनकी कविताओं में छायावादी ढंग की वेदना को अभिव्यक्ति मिली लेकिन इनका यह रागात्मक लेखन अल्पकालिक रहा क्योंकि यथार्थवादी चिन्तक कल्पनाओं के उद्यान की सुषमा में अपने को बहुत दिनों तक विस्मृत नहीं कर सकता है। निराला की रचनाएँ – 'बादलराग' व 'जागों फिर एक बार' यदि किसी भावुक के स्वप्न-जाल को ध्वंस नहीं कर सकती है तो वह पाषाण-हृदय ही हो सकता है। गिरिजा कुमार माथुर की नींद को निराला, माखनलाल चतुर्वेदी आदि की क्रान्तिकारी रचनाओं ने इस प्रकार तोडा कि वे स्वप्न लोक से जागकर उठ खड़े हुए और शुभ कर्म करने के लिए कभी सोने का नाम न लेते हुए उपनिषद[191] के बताए हुए मार्ग-खड्ग-धार पर चलते गये। यही मार्ग उनके जीवन का ध्येय बन गया और वे यथार्थ

जगत् के अन्तस्तल में प्रवेश कर अपनी रचनाओं को नया रूप प्रदान करने लगे।

इस बीच वे १६३६ में बी० ए० करने के लिए ग्वालियर के विक्टोरिया कालेज गये, जहाँ इन्होंने अंग्रेजी, हिन्दी-साहित्य तथा इतिहास का गहरा अध्ययन किया। १६३८ में अंग्रेजी मे एम० ए० करने के लिए इन्होनें लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। यहीं पर इनका परिचय अंग्रेजी में पी-एच० डी० कर रहे रामविलास शर्मा ने निराला जी से करवाया। यह सम्पर्क शनैः शनैः घनिष्ठ रूप में परिवर्तित हो गया।[192]

सन् १६३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना ने साहित्य जगत् को एक नयी दिशा प्रदान की। प्रेमचन्द का 'गोदान', पन्त जी का काव्य-संग्रह 'युगान्त', निराला की 'राम की शक्ति पूजा' व 'हंस' तथा 'रूपाभ' पत्रिकाओं ने इस नये मंच को ऐसी शक्ति प्रदान की, जिसके कारण विविध आयामी प्रगतिशील लेखन का सशक्त रूप आरम्भ हो गया।

इसी समय गिरिजाकुमार माथुर का पहला संग्रह 'मंजीर' प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में तीन स्वर है- (१) छायावादी करूणा एवं वेदना के स्वर से सम्पृक्त कुछ कल्पनाशील गीत (२) ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में जीवन-यापन करने व इतिहास के प्रति लगााव होने के कारण इतिहास की गाथाओं में मिलने वाले शौर्य तथा त्याग को अभिव्यक्त करने वाली कविताएँ (३) विफल प्रेम से उत्पन्न अपार दुःख व वेदना की गूँज से परिपूर्ण हृदयस्पर्शी कविताएँ। 'मंजीर' संग्रह की कविताएँ वस्तुतः आत्माभिव्यक्ति की कविताएँ है। कवि माथुर इस प्रकार की कविताओं से मुक्ति के लिए स्वयं प्रयत्नशील थे क्योंकि वे जन-जन की वेदनाओं को अपनी कविताओं में संवेदना पूर्ण अभिव्यक्ति देना चाहते थे। शीघ्रतिशीघ्र फासिज्म शक्ति के विनाशक युद्ध की घटनाओं ने उन्हें यथार्थ के अरण्य में प्रवेश करा दिया, जिसके कारण उनकी रचनाओं में परिवर्तित मनो-सामाजिक चेतना का स्वर फूट पड़ा।[193]

कविता स्वयं प्रस्फुटित होती है लेकिन इसके स्वरूप को तत्कालीन परिस्थितियाँ ही अभिव्यक्त करती हैं। गिरिजा कुमार माथुर की कवित्व शक्ति को निराला की ओजपूर्ण कविताओं ने, जिसमें महाकाव्यात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ यथार्थवादी स्वर जन-जन में शक्ति और ऊर्जा का संचार करता था- नया रूप प्रदान किया।

इस यथार्थ चिन्तन के समुद्र में डूबकर रत्नों को ढूढ़ने की प्रेरणा उन्हें अकस्मात् नहीं मिली थी। वस्तुतः गिरिजा कुमार माथुर की परवरिश जिस अशोक नगर में हुयी थी वह उनके जन्म के समय मध्यभारत का एक पिछडा देहाती क्षेत्र था। पिछड़ेपन के कारण वहाँ की दुनियाँ उन्हें एक धुँधलके से भरी रात्रि की भाँति दिखाई पड़ती थी।[194] वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य- मालवा के अरूणिम पठार, विंध्याचल की ऐतिहासिक पहाड़ियाँ, काली मिट्ठी वाले साँवले खेत, ताल, विटप, खजूरों के झुरमुटों से आच्छादित भूमि तथा अल्हड़ नदियों की मनमोहनी क्रीड़ायें आदि ने बालक माथुर के हृदय को कवित्व शक्ति के माधुर्य से भर दिया था। वहाँ के पिछड़े जीवन की विषमताओं ने उन्हें यथार्थोन्मुखी बना दिया।

उस बस्ती की घोर अशिक्षा तथा उससे सहज जन्म लेने वाली रूढ़ियों, अन्धविश्वासों, रोगों के आक्रमण, सेठ-साहूकार मे अमानवीय-व्यवहार और अनेक प्रकार की सामाजिक कुरीतियों ने इन्हें कल्पना जगत् से निकालकर सत्यान्वेषी बनाया। इनके इस चिन्तन में आनुवंशिकता का भी बहुत बड़ा योगदान था। उनके पिता बाबू देवीचरण उर्दू, हिन्दी व अंग्रेजी के ज्ञाता होने के साथ-साथ इतिहास और प्राचीन श्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थों के कुशल अध्येता थे। वे अध्यापक ही नही वरन् कवित्त, सवैया, दोहे आदि छन्दों में सुन्दर कविता भी लिखते थे, जो संग्रह के रूप में प्रकाशित भी हुआ।[195] इनकी माँ भी विदुषी अध्यापिका थीं जिन्हें हिन्दी, संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी भाषा का अच्छा ज्ञान था। ऐसे माता-पिता के एकलौते पुत्र गिरिजा की पारिवारिक पृष्ठभूमि सदैव इनकी ज्ञान-वृद्धि में

सहायक बनी। इसी के परिणाम स्वरूप इन्होंने अपने जीवन में सर्वदा यथार्थ को पहचानने तथा आदर्श को अपनाने का सफल प्रयास किया।

गिरिजा कुमार माथुर ने अपने परिवार और ग्रामीण जीवन के सरल और स्नेहिल प्रीति की प्राप्ति के विषय में स्वयं कहा है "इकलौता होने के कारण सारे परिवार और बस्ती के लोग के लाड़-चाव, प्यार-दुलार का केन्द्र था। जो अपार प्रीति मुझे मिली, उसकी प्रतिमूर्ति मैं बनता चला गया। फलस्वरूप सहृदयता, आत्मीयता, घनिष्टता, कोमलता, मिठास, जिज्ञासा, अनायास यह मेरे व्यक्तित्व और स्वभाव के केन्द्र बने।" [196]

माँ का दुलारा होने के कारण गिरिजाकुमार माथुर को बचपन से अपनी माँ से 'अलिफ लैला', देवकीनन्दन खत्री के तिलस्मी उपन्यासों की कहानियाँ और अनेक कथाएँ सुनने को मिलती रही। माँ से ही इन्होने लाला भगवानदीन की 'वीरपञ्चरत्न' की ऐतिहासिक रचनाएँ सुनी, जिसके परिणास्वरूप ये ऐतिहासिक तथ्य को जानने के लिए सर्वदा गम्भीर रहे। यद्यपि अपने मामा से इन्हें संगीत का लालित्य प्राप्त हुआ था किन्तु उनकी माँ के तमाम दैहिक कष्ट, विषम-परिस्थितियों से किये गये संघर्ष ने इनके मन में एक प्रकार की निर्लिप्तता, निस्सङ्गता, संकल्पशीलता सहनशीलता और तितीक्षा को जन्म दिया जो आगे चलकर इनकी कविताओं के माध्यम से जन-जन के जीवन की सच्ची कहानी बनकर अभिव्यक्त हुई। [197]

जीवनगत विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के कारण इनकी कविताओं के कोमल तन्तु से भी आग की ज्वाला निकलती है तभी तो प्रभाकर श्रोत्रिय ने कहा है- "अपनी कोमलता और अभिजात्य के बावजूद माथुर जी में जुझारूपन था। यह उनके व्यक्तित्व में भी दिखता है और रचना में भी इसमें स्फुल्लिङ्ग है।" [198] वस्तुतः कविता की सार्थकता तभी सिद्ध होती है जब कवि अपने अनुभव की समस्त निधियों के बाँटता हुआ जन-सामान्य के नैराश्य को दूर करने के लिए प्रयासरत होता है।

आजीविका की तलाश ने भी उनकी कवित्व-शक्ति को यथार्थोन्मुखी बनाने में विशेष योगदान किया। जीविका की खोज मे जब वे दिल्ली गये तब उनका संताप चरमोत्कर्ष पर था, क्योंकि इसे प्राप्त करने के लिए उन्हे अनेक की सच्चाई से रूबरू होना पड़ा। प्रयत्नशील व्यक्ति की सहायता सौभाग्य करता ही है। एक कवि गोष्ठी के माध्यम से वे रेडियों के सम्पर्क में आयें और वे वहॉ अपनी शिक्षा-दीक्षा, कण्ठ-स्वर, भाषा का ज्ञान, संगीत, नाटक आदि का सुन्दर ज्ञान रखने के कारण अपना प्रोग्राम देने लग गये।इस प्रकार के कठिन संघर्ष ने अन्ततः १६४३ में उन्हें आकाशवाणी में नौकरी दिला दी[199] किन्तु उनके दुःखों की इतिश्री नहीं हुई थी। इन दिनों के कठोर व कटु अनुभवों ने "नाश और निर्माण" जैसे सार्थक काव्य का सृजन करने की प्रेरणा दी। इस संग्रह में उनकी जिन्दगी की कठोर वास्तविकता की टकराहट की मर्मस्पर्शी वह गूँज है, जो सहज रूप में जन-जन के हृदय में संवेदना उत्पन्न करती है।

इन्हीं संकटकालीन दिनों में उन्होंने मार्क्सवाद का गहन अध्ययन किया। उन्होंने इसके विषय में स्वयं कहा है- "मार्क्सवाद के अध्ययन से मेरी आँखे खुल गयी; मुझे स्पष्ट हुआ कि राजनीति की समझ के बिना यथार्थ की पहचान नहीं हो सकती है। सत्ता का स्वरूप, राजनीति, समाज का आर्थिक आधार, ठोस यथार्थ, वर्ग चेतना, इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रकिया, दमन और शोषण से मानवीय समता और स्वाधीनता का नया रास्ता मार्क्सवाद ने खोल दिया था। सामाजिक परिवर्तन के लिए मनुष्य समर्थ है यह नई दिशा थी जिसकी मुझे पहचान नहीं थी। लेकिन मेरी प्रेरणा-भूमि में लोक-जागरण की पुरानी क्रान्तिकारी परम्परा भी थी, जिसमें सामान्य जन की गरिमा और मुक्ति की अनन्य प्रतिष्ठा की गयी थी।"[200]

मार्क्सवाद ने कवि गिरिजा कुमार माथुर में स्फूर्तिदायक प्रेरणा का संचार किया। उन्होंने मार्क्सवाद के माध्यम से सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा द्वन्द्वात्मक आधार पर

इतिहास के विकास और परिवर्तन के सिद्धान्तों का अध्ययन किया व अपनी मानवीय संवेदनाओं के आधार पर उसे ग्रहण किया न कि महज सिद्धान्त रूप में। इस प्रकार उनके द्वारा प्राप्त की गयी नयी जीवन-दृष्टि उनकी कविताओं में नूतन मुक्ति के द्वार खोलती हुई उद्भासित होती है। वस्ततुः मार्क्सवाद के सिद्धान्त ने कवि कर्म को प्रभावित किया है। इसके परिणामस्वरूप उनकी रचनाओं ने गाँव व देहात की जनपदीय चेतना को आधुनिकता, अंतरिक्ष युगीन वैज्ञानिकता तथा नूतन-सृष्टि-कला के रंगों से रंग दिया है।[201]

उन्होंने मार्क्सवाद के विचारों को अपने अनुभव से नये रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रगतिशील कविता के विषय में स्वयं कहा है-" मानवीय संवेदना और सांस्कृतिक परम्परा को अलग करके कविता या प्रगतिशील कविता को नहीं देखा जा सकता है। कवि का दल या पक्ष पूरी सामान्य जनता होती है और कवि का लक्ष्य सत्य की पक्षधरता है। कविता मानवीय संवेदना का कलात्मक दस्तावेज होती है किन्तु इस द्वन्द्वात्मक वैचारिक टकराहट ने आधुनिक कविता को सृमद्ध किया, क्योंकि दोनो ही विरोधी दृष्टिकोण से कविता के मूल प्रश्नों की भरपूर व्याख्या सामने आ सकी है।"[202]

सन् १६५० से लेकर १६५६ तक गिरिजाकुमार माथुर न्यूयार्क, हालैण्ड आदि देशों में सूचनाधिकारी से रूप में रहे। १६५६ में आकाशवाणी प्रतिनिधि-मण्डल में रूस, चेकोस्लोवाकिया की यात्रा की व स्वीटजरलैण्ड में प्रवास किया।[203] विदेश भ्रमण के दौरान वे पूँजीवाद व मार्क्सवाद को नजदीक से देख सके। इन दिनों के यात्रिक अनुभवों ने उनके दृष्टिकोण को और यथार्थवादी बना दिया।

यथार्थ जीवन के प्रत्येक कोण को ठीक-ठीक समझने वाले गिरिजाकुमार माथुर राजनैतिक विडम्बना से उत्पन्न विषमताओं पर प्रहार करते हुए शोषित-पीड़ित जनों को नये समाज की संरचना के लिए उत्साहित करते हैं। कविता की यथार्थता कलात्मक प्रदर्शन में नहीं है वरन् मर्मभेदी कथ्यों से सृजन में है- इस तथ्य को स्वीकारते हुए उन्होंने

अपनी कविताओं के शब्द और अर्थ की साधना में जन-चेतना, गाँव-देहात के अभिप्राय, सांस्कृतिक परम्परा, प्रकृति सौन्दर्य, प्रेम, सामाजिक वास्तविकता, राजनीतिक इतिहास, आधुनिकता समय-काल आदि के सूक्ष्म अनुभव को मूर्तिमान किया।[204]

गिरिजा कुमार माथुर ने ग्रामीण धरातल से जुडे होने के कारण जन-सामान्य के जीवन को अपनी आँखों और अनुभव से पहचाना तथा गाँव-जनपद से लेकर आधुनिकता और वैज्ञानिकता के बीच एक व्यापक विश्व दृष्टि विकसित करने का प्रयास किया।[205]

किसी भी काल का सजग कवि अपने देश की राजनीतिक परिस्थितियों से विमुख होकर सार्वजनीन साहित्य सृजन नहीं कर सकता है। राजनैतिक प्रभाव कविता को प्रायः पंगु बनाने का प्रयास करता है। गिरिजा कुमार माथुर की कविताएँ न राजनीति से प्रभावित हैं न राजनीति से असम्पृक्त। राजनीतिक कसौटी न कविता की व्याख्या है, न राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति ही कविता की साधना है। परिवर्तनशील राजनैतिक मान्यताओं का लक्ष्य सत्ता अधिग्रहण रहता है जबकि कविता राजनीतिक यथार्थ के साथ-साथ मानवीय संवेदना, सांस्कृतिक परम्परा के वृहत्तर जीवन-मूल्यों से संबन्धित होती है। कविता किसी देश-काल की सीमा से आबद्ध नहीं होती है।[206]

वस्तुतः साहित्य के दर्पण में राजनीति भले ही प्रतिबिम्बित हो, किन्तु साहित्य कभी भी राजनीति का अनुयायी बनकर कालजयी नहीं हो सकता है। राजनैतिक पाखण्ड में मानवीय-संवेदनाओं की सतही व्याख्या की जाती है। उनके कृत्रिम सिद्धान्तों का मूल-मंत्र सत्ता अधिग्रहण है किन्तु साहित्य राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अन्तर्विरोधों के बीच अपना अस्तित्व बनाते हुए तथा मानवीय पक्षों के शाश्वत-मूल्यों को सशक्त रूप में प्रस्तुत करते हुए कवि और साहित्य की अस्मिता को सुरक्षित रखता है। लोक-जीवन की संवेदनाओं से अलग होकर न राजनीति जन-कल्याणकारी हो सकती है

न अर्थनीति ही और न साहित्य । इसलिए समकालीन साहित्य ने लोक-संवेदनाओं के पक्ष को प्रस्तुत करते हुए अन्याय व शोषण का विरोध किया।

गिरिजा कुमार माथुर ने साहित्य की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहा है- "जब साहित्य की भूमिका असाधारण मानवीय मूल्यों की है, तब वह किसी एक प्रवृति या पक्ष विशेष तक सीमित होकर या उसमें समाकर नहीं रह सकता। उसके लिए सभी प्रवृत्तियों और पक्षों के वे तत्त्व ग्राह्य होते है जिसका रास्ता मानवीयता, सामाजिक न्याय और जीवन भविष्य की आस्था से होकर जाता है ।"[207]

वस्तुतः जब कवि मानवीय मूल्यों- श्रद्धा, निष्ठा, आस्था, विनयशीलता, शील, प्रेम, जीवन-सम्मान, सामाजिक न्याय, अन्तःकरण की नैतिक स्वतन्त्रता को अपनी कविता का विषय बनाता है, तब उसका राजनीतिक चिन्तन मानवीय धरातल पर जन-जन के लिए वरदान बन जाता है। कविता की यही नैतिकता कवि को राजनीतिक दलदल में फँसने से उबार लेती है। कवि गिरिजा कुमार माथुर की लोक-संवेदना राजनीतिक चकाचौंध से मूर्च्छित नहीं हुई वरन् राजनीति के घिनौनेपन को दूर कर नयी दिशा प्रदान करने हेतु संघर्ष करती रही। साहित्येतर दबावों मे आकर कवि यदि स्वानुभव-साक्ष्य विहीन सत्य को स्वीकार करता है तो उसकी कविता मरी हुई पद्यात्मक रूप मात्र होती है। गिरिजा माथुर ने गैर ईमानदारी से कभी समझौता नहीं किया, वरन् साहित्येतर दबावों के सिर पर पैर रखकर मनुष्य को उसकी समस्त सामर्थ्य और विशेषताओं के सन्दर्भ में ही पहचानने का यत्न किया है।[208]

गिरिजा कुमार माथुर ने कभी भी प्रतिबद्ध कवि के रूप में अपनी कविता को एक साँचे में नहीं ढाला वरन् उनकी कविता उनके द्वारा साक्षात्कार-कृत सत्य को रेखांकित करती है। उनका यह कथन "श्रेष्ठ साहित्य पक्षधर नही होता, वह विभिन्न और प्रत्यक्षतः विरोधी दिखने वाले पक्ष या प्रवृत्तियों का समन्वय करता चलता है। आधारभूत मूल्यों और

तत्त्वों को समेटकर उसमें संतुलन स्थापित करता है।"[209] यह प्रमाणित करता है कि उनकी कविता न पक्षधर है न प्रतिबद्ध। जब कविता पक्षधर हो जाती है तो कवि की प्रतिभा दृष्टि और कलात्मक क्षमता संतुलन खोकर अपनी सार्थकता खो देती है। वस्तुतः कविता की सार्थकता आत्माभिव्यक्ति में भी नही है। उसकी सार्थकता तो सम्पूर्ण संसार के जन-जन के जीवन में संतुलन स्थापित करने में है। जब कविता प्रतिबद्ध हो जाती है तब वह राजनीतिक या कलात्मकता की अनुकृति मात्र रहती है। कवि जब स्वयं अनुभव का दृष्टा होता है तभी दूसरे के संतुलित सिद्धान्त या उद्भासित सत्य को सत्य मानता है और इस वास्तविकता को ऐसा कलात्मक आयाम देता है जो साधारण जनो के भी जीवन को सबके सामने प्रस्तुत कर प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः समाज में होने वाले अन्याय, शोषण का विरोध करता है।

आधुनिकता एवं प्राचीनता मात्र का चित्रण करना भी एक प्रकार की प्रतिबद्धता है। गिरिजा कुमार माथुर दोनों भूमिकाओं से पृथक हटकर दोनों को सन्तुलित कर अपनी कविताओं को मर्मस्पर्शी बना सके। उन्होनें स्वयं कहा है- "कवि कर्म की सार्थकता इसी में है कि उसकी रचना में कथ्य की मौलिकता, अनुभूति का ताप और अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता कितनी है, भले ही कविता नयी हो या पुरानी। और आधुनिकता इसी तथ्य पर निर्भर करती है कि कृतिकार में निरन्तर वर्तमान की सांस्कृतिक संवेदना कितनी है और मूल्यगत भविष्य के रूपाकारों की वह किस मात्रा में पूर्वाभिव्यंञ्जना कर सका है।"[210]

गिरिजा कुमार माथुर की रचना 'साक्षी रहे वर्तमान' प्रशासन तन्त्र और नौकरशाही से कवि की होने वाली टकराहट की मर्मस्पर्शी गूंज है।[211] इसलिए यह रचना अपना भोगा हुआ यथार्थ है। गिरिजा कुमार माथुर की रचनाओं में परम्परा के सांस्कृतिक मूल्यों का उत्स है। इन्होंने आधुनिकतम् जीवन मूल्यों को जन-परम्परा से जोड़कर उसके अनुकूल ढाल कर ही स्वीकार किया है । इनकी वैज्ञानिक दृष्टि ने भी कविता को प्रभावित

किया है। जीवन की समग्रता में गॉव, जनपद से लेकर आधुनिकता और वैज्ञानिकता के बीच एक उन्होंने व्यापक विश्व-दृष्टि विकसित की। गिरिजा कुमार माथुर सचमुच व्यापक दृष्टिकोण वाले कवि हैं। उनकी सृजनशीलता उनकी जिन्दगी की अनुभूतियों को कविता का रूप देती है। वे यह स्वीकार करते हैं कि "आम आदमी की जिन्दगी में दुःख है, अभाव है, संघर्ष है, संताप है। वह मेहनत करता है लेकिन उसकी जिन्दगी इतनी रूखी-सूखी नहीं है कि वह हर वक्त अपने दुःख और मजबूरी का रोना रोता रहे। उसके जीवन में दूसरे भी रंग है ममता भी है, प्रेम, उष्मा, उत्सव, उल्लास भी है। कवि इन सब को देखता है। वह सिर्फ दुःख-विडम्बना, संत्रास आदि को ही बार-बार दुहराकर मनुष्य के संकल्प को पस्त नहीं करता है। भरोसा, सामर्थ्य और विश्वास का स्वर भी फूंकता है। आम आदमी की जिन्दगी के दोनों ही पक्षों में भरपूर साझीदारी करता है।"[212]

विश्व दृष्टि रखने वाला कवि जीवन की विविध विषमताओं का चित्रण करके अपनी कविता को कालजयिनी बना देता है। कविता को जीवन के आलोक की वाणी मानने वाले गिरिजाकुमार माथुर मनुष्य की कालजयी आलोक यात्रा के प्रति अपनी कविता को समर्पित करते हैं।[213] गिरिजा कुमार माथुर अपनी कविता में आम-आदमी की संवेदनाओं को ही अभिव्यक्त नहीं करते वरन् इनकी कविता प्रकृति के सौन्दर्य पर होने वाले प्रहारों से पीड़ित होकर दूरगामिनी आह भरती हुई दिखाई पड़ती है। आधुनिक युग की प्रकृति के प्रति की गयी क्रूरता ने इनके मन को आहत किया है। इसलिए प्रकृति के कण-कण की व्यथा इनकी कविता को हठ्ात जन्म देती है। प्रकृति के ऊपर किये गये क्रूरतम आघात उन्हें अत्यन्त व्यथित कर देते है इसलिए वे जन-सामान्य की व्यथा से जितना व्यथित होते है उतना ही प्रकृति मनुष्यों से दी जाने वाली पीड़ा से बेचैन हो जाते हैं।[214] कवि में इस प्रकार के विचारों के जन्म का श्रेय उनके 'ग्राम्य जीवन' को हैं जिसकी मिट्टी में खेलकर ये बड़े हुए है और उसकी गंध की अनुभूति से आजीवन प्रमुदित होते रहे हैं। ग्रामीण

जीवन में होने वाले उत्सव की स्वाभाविकता में वे इतना रम गये थे कि उनकी स्मृतियों में बराबर डूबे रहते थे । दशहरे के आस-पास मकानों की कच्ची मिट्टी से मरम्मत करना, शरद पूनों पर कांसे की चमकदार थालियों में खीर भरकर चॉदनी रात में रख देना, करवॉ-चौथ पर स्त्रियों के द्वारा चावल और हल्दी पीसकर ऐपन बनाकर दीवाल पर करवा लगाना तथा देवी का चित्र बनाना, फिर दीपावली को उत्साहपूर्वक मनाना आदि तमाम उत्सव प्रक्रियायें आजीवन इनके रोम-रोम में बसी रही ।[215]

गिरिजा कुमार माथुर समकालीन कवियों के साथ रहते हुए भी उनसे पृथक अस्तित्व बनाये हुये सचमुच स्वामी कार्तिकेय की भॉति समकालीन कवियों के सेना-नायक हैं । उन्हें सभ्यता के ऊपरी ताम-झाम से घृणा है। उनकी दृष्टि में सुविधा से परिपूर्ण भड़कीला आकार वस्तुत: मनुष्य को अन्दर से खोखला बना देता है । इस बाह्याडम्बर से पूर्ण सभ्यतम प्रतीत होने वाले आकार में मानवीय संवेदना, भावना, मानवीय मूल्यों का कोई महत्व नहीं है । इन मूल्यों के अभाव ने ही आज मानव को निर्मम, क्रूर, कुटिल, शोषक और विश्वासघाती बना दिया है । यदि औद्योगिक क्रान्ति से होने वाली समृद्धि आदमी को अशान्त, बेचैन और प्रतिक्षण व्याकुल बनाकर उसकी शक्ति, मैत्री व विश्वास और भावनात्मक लगाव को छीन लेती है तो यह केवल दानवीय सुख-समृद्धि है जो कवि को किसी भी रूप में स्वीकार्य नहीं है । उनकी ऑखों में अतीत का संघर्षपूर्ण जीवन बराबर झॉका करता था जिसकी छाया में उन्हें मानवीय-मूल्यों का सुखद और शान्तिप्रद हृदयस्पर्शी रूप प्राप्त होता है ।

वस्तुतः गिरिजा कुमार माथुर अपने समय के कवियों में ऐसे सशक्त हस्ताक्षर हैं जिनकी रचनाओं के मानवीय-मूल्यों के प्रति किया जाने वाला संघर्ष, आज के भौतिकवाद के लिए एक ऐसी चुनौती है जिसे स्वीकार कर ही मार्क्सवाद की अवधारणा को चिरस्थायी बनाया जा सकता है ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गिरिजा कुमार माथुर ने अपने पैत्रिक दाय और ग्रामीण जीवन के तमाम सुख-दुःख के झंझावतों को मानवीय मूल्यों से जोड़कर एक नया रूप प्रदान किया है । उनकी कवित्व-शक्ति को उनके पिता ने जिस रूप में जगाया था उसके उत्स को उन्होंने मार्क्सवाद के अध्ययन से नया रूप प्रदान किया है । ये राजनीति के सेवक नहीं थे, वरन् मानवीय-मूल्यों की स्थापना के लिए प्रशासन व नौकरशाही से सतत् युद्ध करते रहे । इनकी अप्रतिबद्धता ने ही इनकी कविताओं को विश्व रूप प्रदान किया है ।

अज्ञेय के सृजनशील व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक मुख्य प्रेरक तत्व तथा उनकी काव्य विषयक दृष्टि -

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' के सृजनशील व्यक्तित्व का निर्माण जिन तत्वों के योग से हुआ, उसमें पिता व उनके मित्रों द्वारा प्राप्त संस्कार व सहयोग, उनका यायावरी जीवन, उनकी अध्ययन व चिन्तनशील प्रवृत्ति, पत्रकारिता से प्राप्त अनुभव व क्रान्तिकारी जीवन का महत्वपूर्ण स्थान है ।

अपने पुरातत्त्वज्ञ पिता के साथ रहने के कारण अज्ञेय का बचपन व युवावस्था काल अलग-अलग प्रान्तों में बीता । जिसका प्रभाव उनके बाद के यायावरी जीवन पर स्पष्ट देखा जा सकता है । परम्पराप्रेमी पिता की छत्रछाया में ही उनकी शिक्षा संस्कृत-अध्ययन से शुरू हुई । उन्होंने अंग्रेजी, हिन्दी व बंगला भाषा का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया । पिता के पुस्तकालय की अनेक प्रसिद्ध अंग्रेजी रचनाओं व हिन्दी के प्राचीन प्रसिद्ध रचनाकारों तथा इतिहास सम्बन्धी कृतियों के अध्ययन ने प्रारम्भ से ही उनके ज्ञान को समृद्ध किया ।

बंगला साहित्यकारों की राष्ट्रीयता की भावना व जालियाँवाला बाग हत्याकाण्ड ने अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति उनके मन में विद्रोह के भाव जागृत किये । लाहौर से बी० एस०

सी० करते हुए वे "हिन्दुस्तानी सोसलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी" नामक क्रान्तिकारी दल के सम्पर्क में आये[216] व धीरे-धीरे सम्बन्ध घनिष्ट होने पर वे उसमें (शामिल) भर्ती हुए । विभिन्न क्रान्तिकारी कार्यों के दौरान वे १६२६ से १६३६ तक कई बार लाहौर, अमृतसर, दिल्ली, डलहौजी आदि की जेलों में रहे । एकान्तवास की इस लम्बी अवधि में उन्होंने अध्ययन में रूचि होने के कारण छायावाद, मनोविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र व कानून की किताबें पढ़ी । सतत् अध्यवसाय व पारिवेशिक प्रभाव से उत्पन्न अन्तर्मंथन ने इस दौरान उनसे "चिन्ता" (कविता सं०), विपथगा (क० सं०) की अधिकांश कहानियाँ, शेखर; एक जीवनी (उपन्यास) आदि रचनाओं का सृजन कराया ।[217] इसी बीच उन्हें माँ सहित कुछेक प्रियजनों का वियोग सहना पड़ा, जिसने उनके जीवन के एकाकीपन को और बढ़ा दिया ।

जेल-यात्रा के कारण वे अपना अध्ययन पूरा न कर सके । अब शुरू हुई नौकरी की तलाश । प्रारम्भ में उन्होंने एक वर्ष "सैनिक" नामक पत्र के सम्पादक-मण्डल में कार्य किया । तत्पश्चात् किसान आन्दोलन (मेरठ) से जुड़े । इसी दौरान वे हिन्दी के अनेक प्रसिद्धि प्राप्त लेखकों- चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, हरिकृष्ण प्रेमी, राम विलास शर्मा, प्रकाशचन्द गुप्त, भारत भूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे व नेमिचन्द्र जैन आदि से परिचित हुए । इन साहित्यकारों के निकट सम्पर्क ने उनकी राजनीतिक दृष्टि में परिवर्तन किया । परिणाम स्वरूप गांधी के प्रति उनकी श्रद्धा अधिक हो गयी ।[218] बनारसी दास चतुर्वेदी के आग्रह पर उन्होंने कलकत्ता में "विशाल भारत" के सम्पादक मण्डल में रहकर कार्य किया। कलकत्ता जैसे महानगर की यान्त्रिक जिन्दगी ने जहाँ एक ओर नागरिक जीवन की हृदय शून्यता से उनका परिचय कराया, वहीं दूसरी ओर सुधीन्द्र दत्त, बुद्धदेव बसु, हजारी प्रसाद द्विवेदी, बलराज साहनी व पुलिनसेन जैसे विद्वानों से परिचय उनके लिए लाभकारी सिद्ध हुआ । इन दौरान उन्होंने स्वानुभव के द्वारा पत्रकारिता के आदर्श व व्यावहारिक पक्ष के बीच के अन्तर को पहचाना । कलकत्ता के विविध अनुभवों ने उन्हें जीवन-यथार्थ का बोध अत्यंत

निकट से करवाया ।[219]

कुछ दिनों तक उन्होंने 'आल इण्डिया रेडियों' में नौकरी की । १६४१ के आसपास मेरठ में हेमवती जी के सहयोग से "हिन्दी साहित्य परिषद" की स्थापना की,[220] जिसका उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान है । इन विभिन्न कार्यों को करते हुए भी देश की राजनीति से वे अपने को अलग न रख सके । १६४२ के आन्दोलन को अनुपयोगी मानकर उन्होंने उसी साल दिल्ली में एक 'अखिल भारतीय फासिस्ट-विरोधी सम्मेलन' का आयोजन किया । यह सम्मेलन आपसी एकता कायम न रख सका, उसमें दलबन्दी होने लगी और अज्ञेय अपने फासिस्ट विरोध के बावजूद देश की सुरक्षा की दृष्टि से युद्ध को अनिवार्य मानकर १६४३ में सेना में भर्ती तो हो गये पर शीघ्र ही युद्ध के यथार्थ से ऊबकर १६४६ में सेना से मुक्त हुए ।[221]

१६४६ में गुरूदासपुर में पिता का देहान्त हो गया । उनके पिता उन्हें संस्कृति के वाहक के रूप में देखना चाहते थे । इस बात को उन्होंने सदैव याद रखा । पिता की मृत्यु के बाद वे गम्भीर रूप से साहित्य सृजन में जुटे । उन्होंने 'हिन्दी साहित्य परिषद' (मेरठ) से पुनः जुड़कर उसे साहित्य की नयी धारा का केन्द्र बनाया । शीघ्र ही इलाहाबाद आकर वहाँ से (मार्च १६४७) "प्रतीक" नामक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। अनेक नये लेखक "प्रतीक" के माध्यम से उभरे । प्रसिद्ध होते हुए भी उनकी पत्रिका "प्रतीक" को अनेक आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । "प्रतीक" के लिए अज्ञेय ने रेडियों में नौकरी की, पर इन प्रयत्नों के बाद भी प्रतीक १६५२ तक ही प्रकाशित हुई ।[222] इस दौरान (१६४७ से १६५०) उनकी "हरी घास पर क्षण भर" व "शरणार्थी" प्रकाशित हुई । "प्रतीक" बन्द होने के बाद दो-तीन वर्ष तक वे यायावरी में लगे रहे । भारत के विविध कला क्षेत्रों के भ्रमण ने अज्ञेय के संस्कृति के प्रति स्नेह को बढ़ाया । दक्षिण की रमणीय प्रकृति ने भी इन्हें आकृष्ट किया । इस दौरान उनकी

"बाबरा अहेरी", "नदी के द्वीप" (उप०), "दूसरा सप्तक", "अरे यायावर रहेगा याद", "जयदोल" आदि कृतियों का प्रकाशन हुआ ।[223]

अब शुरू होता है उनकी विदेश यात्राओं का सिलसिला, जो करीब २०-२५ वर्षों तक चला । इस दौरान उनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखा । वो यह कि विभिन्न देशों की संस्कृतियों से भली-भाँति परिचित अज्ञेय ने अपनी संस्कृति को सूक्ष्मता से ग्रहण किया व काव्य रचना के दौरान उसे संजोया । यूनेस्को के निमन्त्रण पर अप्रैल १९५५ में वे पहली बार पश्चिम यूरोप गये । पश्चिम यूरोप की इस यात्रा से प्राप्त अनुभव उनकी "इन्द्रधनुष रौंदे हुए थे", "अपने अपने अजनबी" (उपन्यास) "एक बूँद सहसा उछली", रचनाओं का प्रेरणा स्रोत बना ।[224] एक वर्ष बाद उन्होंने जापान व फिलीपीन की यात्रा की । जापान में वे अनेक प्रतिष्ठित साहित्यकारों से मिले । 'जापान की तकनीकी प्रगति ने जापानियों को परम्परा से विच्छिन्न नहीं किया'- इस बात से वे बेहद प्रभावित हुए थे ।[225]

फिलीपीन में उन्होंने सांस्कृतिक अस्मिता की प्रतीक राष्ट्रीय भाषा तगालोग की उपेक्षा को देखते हुए वहाँ के बुद्धिजीवियों को तगालोग आन्दोलन शुरू करने की प्रेरणा दी ताकि देश की सांस्कृतिक धरोहर की मूल पूँजी को बचाया जा सके ।

१९५८ से १९६० तक भारत में ही कुछ महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये, जिनमें उनकी वैचारिक गम्भीरता व बौद्धिक प्रखरता के दर्शन होते हैं । अप्रैल १९६० में वे पुनः यूनेस्को के निमन्त्रण पर यूरोप गये । जहाँ उन्होंने मसीही संस्कृति के आध्यात्मिक पहलू का ज्ञान प्राप्त किया । सितम्बर १९६१ में अमेरिका (कैलीफोर्निया) भारतीय संस्कृति व साहित्य के अध्यापक बनकर गये । वहाँ वे २-३ वर्ष तक रहे, पर अमेरिका की आधुनिक सभ्यता उन्हें तनिक भी प्रभावित न कर सकी । अमेरिका के एकान्त ने उनके आन्तरिक अनुभवों को माँजकर उन्हें पूर्णतः भारतीय बनाया । भारतीय संस्कृति की महत्ता उनकी दृष्टि में बढ़ी ।[226]

"प्रतीक" के बाद फरवरी १९६५ में उन्होंने 'दिनमान' नामक साप्ताहिक का सम्पादन किया । कुछ ही समय पूर्व दिल का दौरा पडने से उन्हें विश्राम की आवश्यकता थी । अतः परिवार के लोगों द्वारा मना करने पर भी वचनबद्ध होने के कारण उन्होंने यह कार्य किया । 'दिनमान' का सम्पादन स्वीकार करने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि अज्ञेय स्वातन्त्र्योत्तर भारत में अपनी राष्ट्रीय प्रतिबद्धता का निर्वाह करने के लिए यह जरूरी समझने लगे कि गैर पेशेवर राजनैतिक मत का सामने आना आवश्यक हो गया है। पेशेवर राजनीतिज्ञों के हाथ में देश को सौंप चुपचाप बैठ जाना जनतन्त्र के लिए वांछनीय नहीं ।[227] उनके सम्पादन के दौरान यह पत्रिका राष्ट्रीय विचारधारा की वाहक बनी, व देश विदेश में काफी ख्याति प्राप्त की । देश के प्रति अपने सजग दायित्व को निबाहते हुए किसी कारणवश वे शीघ्र ही (एक-डेढ़ वर्षोपरान्त) दिनमान से अलग हो गये ।

उनकी पूर्वी यूरोप व अन्य देशों की यात्रा साहित्यिक आदान-प्रदान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण रही । इसी सिलसिले में उन्होंने यूगोस्लाविया की यात्रा की, जहाँ सर्वियायी भाषा में उनकी (अज्ञेय की) कविताओं का अनुवाद कर एक संग्रह प्रकाशित हुआ । आस्ट्रेलिया में सेमिनार में भाग लिया । कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कले में दो बार व्याख्यान दिये व प्राचीन भारतीय कविता के अंग्रेजी रूपान्तर का पूर्वारब्ध कार्य पूर्ण किया । वे हालैंड, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, स्विटरलैण्ड, इटली, ग्रीस भी गये । १९७६ में जर्मनी के हाइडल विश्वविद्यालय में व्याख्यान दिया । वहाँ उनकी कविताओं का जर्मन में अनुवाद हुआ ।[228]

विदेश यात्रा के बीच-बीच में वे भारत भ्रमण भी करते रहे । १९७३-७४ में वे कुमायूं व दक्षिण भारत के कला क्षेत्रों के पुनः दर्शन हेतु गये ।[229] वहाँ के सहज प्राकृतिक सौन्दर्य पर उन्होंने अनेक कविताएँ लिखी । प्रकृति की सुषमा का आनन्द लेते वक्त भी भारत में होने वाले ह्रासोन्मुख राजनैतिक परिवर्तनों, सामाजिक असमानता व मूल्यहीनता

पर उनका मन उद्वेलित होता रहा। जीवन के अन्तिम दिनों तक वे गम्भीर रूप से साहित्यिक सृजन से जुड़े रहे।

कवि अज्ञेय के जीवन के इन महत्वपूर्ण घटकों के बीच ही उनका सृजनशील-व्यक्तित्व कविताओं के रूप में आकार पाता रहा। अपने पुरातत्वज्ञ पिता से विरासत में प्राप्त शोध की प्रवृत्ति ने उन्हें गहन अध्ययन से सदैव जोड़े रखा। पिता के साथ विविध- प्रान्तों का भ्रमण करते हुए उन्हें हर जगह विद्वान व्यक्तियों का सान्निध्य प्राप्त होता रहा, जिससे उनकी प्रतिभा को सही दिशा मिलती गयी, जो उनकी सृजनशीलता के निर्माण में सहायक हुयी। क्रान्तिकारी जीवन के दौरान जेलों के एकान्तवास से कवि अज्ञेय को बहुत कुछ पढ़ने व समझने को मिला, जो भीड़ के बीच शायद प्राप्त न हो पाता। जेल के जीवन और वहाँ किये गये अध्ययन से प्राप्त अनुभवों ने उनसे अनेक रचनाएँ करवायीं। विभिन्न पत्रिकाओं के सम्पादक-मण्डल में काम करते हुए व पत्र-पत्रिकाओं व कृतियों का सम्पादन करते हुए उन्होंने जो अनुभव की पूँजी प्राप्त की, उसने उनकी सृजनात्मक प्रतिभा को विस्तार दिया यह कभी न चुकने वाली अनुभव की पूँजी जीवन-पर्यन्त उनके साथ रही और उनकी कृतियों को कुछ नये जीवन-संदर्भों से जोड़ती रही।

किसान आन्दोलन से जुड़ने पर कवि अज्ञेय को सामान्य जन के बहुत करीब रहने व उन्हें समझने का अधिकाधिक मौका मिला। किसानों के साथ रहकर, उनके साथ काम कर उन्होंने किसानों की समस्याओं व ग्रामीण संस्कृति को नजदीक से देखा था।[230] उनका यह प्रत्यक्ष अनुभव उनकी कविताओं में कहीं ग्रामीण सुषमा के रूप में व कहीं ग्रामीण परिवेश में कठिनाई से जीवन व्यतीत करने वाले किसान की संवेदना के रूप में दिखाई पड़ता है। १९६५ से १९६८ तक 'दिनमान' से जुड़े रहने पर उन्होंने बिहार के सूखाग्रस्त इलाकों के[231] अनेक मर्मस्पर्शी चित्र अपनी पत्रिका के द्वारा पढ़े-लिखे, सभ्य कहे जाने वाले लोगों तक पहुँचाये, ताकि नियति के इस कठोरतम् दृश्य को देखकर उनकी सोयी संवेदना जागृत होकर पीड़ितों के हित में कुछ कर सके।

अध्ययन व अध्यापन के निमित्त देश-देशान्तरों का भ्रमण करते हुए कवि अज्ञेय अनेक विद्वानों से निकट से परिचित हुए। इस भ्रमणशील जीवन ने उनकी ज्ञान व अनुभव की पूँजी को और अधिक समृद्ध किया। उनकी प्रत्येक विदेश यात्रा भारतीयता की उनकी समझ को बढ़ाने में सहायक हुई। अज्ञेय की कविताएँ भारतीयता की मालती लता के सुरभित पुष्प है। उनकी कविताओं में दिखाई पड़ने वाला उनका व्यक्तित्व भारतीयता से ओत-प्रात है। भारत को एक 'सांस्कृतिक इकाई' मानने वाले अज्ञेय अपने को उसका अटूट अंग मानते हैं। वे सूक्ष्म तल पर संस्कृति की सुरक्षा के लिए ही जड़वादी रूढ़ियों व परम्पराओं का खण्डन करते हैं। जीवन्त व गतिशील सांस्कृतिक मूल्यों से उन्होंने अपने को जोड़े रखा और अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को अभारतीय नहीं होने दिया। पश्चिमी विचारधाराओं से प्रभावित होते हुए भी उनका रचनाशील मनस् भारतीय सांस्कृतिक गरिमा से सदैव उद्‍भासित रहा है। उनके यायावरी डगों ने उन्हें विविध संस्कृतियों को जानने व उससे अपने चिन्तन व संस्कारों को परिष्कृत करने का सुखद अवसर प्रदान किया, जो उनकी कविताओं में अनुस्यूत है।

कवि अज्ञेय के काव्य पर अनेक आक्षेय लगाये गये हैं। उन पर लगाये गये प्रत्येक आक्षेप के मूल में यही बात महत्वपूर्ण रूप से उभर कर सामने आती है कि अज्ञेय 'व्यक्तिवादी' हैं, 'अहंवादी' हैं, इसलिए सिर्फ अपने बारे में ही सोचते हैं। उनका समाज से कोई सरोकार नहीं है। अत्यधिक सम्पन्न होने के कारण सामान्य जन की गरीबी से उनका कोई वास्ता नहीं पड़ा। अतः उनकी संवेदना की परिधि में सामान्य जन की पीड़ा, उनका संघर्ष नहीं दिखाई पड़ता। अज्ञेय के साहित्य में प्रवेश कर, उनके व्यक्तिगत आग्रहों से परिचित होने पर यह स्पष्ट होता है कि अज्ञेय ईमानदार कवि होने के कारण अपने ऊपर लगाये गये आरोपों को लेकर अत्यन्त सजग है। उन्होंने अपने वक्तव्यों व अनेक कविताओं के द्वारा इन आरापों का खण्डन किया है। 'आत्मनेपद' में वे अपने

"व्यक्ति" को स्पष्ट करते हुए कहते हैं– "व्यक्ति का अपने प्रति भी उत्तरदायित्व मानता हूँ, समाज के प्रति भी ।.... पर मैं अपने प्रति उत्तरदायित्व को प्राथमिक मानता हूँ और समाज के प्रति उत्तरदायित्व को उसी से उत्पन्न ।"[232]

यह कथन यह प्रमाणित नहीं करता है कि अज्ञेय समाज को नकार रहे हैं । उनका यह मानना है कि कोई भी कलाकृति अपने आप में आत्म-तोष भी है लेकिन सिर्फ आत्मतोष के लिए ही लिखना रचनाकार को व्यक्तिवादी बना देता है । जब रचना पाठक वर्ग से जुड़ती है तो लोक कल्याण की भावना ही उसमें प्रमुख हो जाती है । अतः रचनाकार के सन्दर्भ में कृति का उद्देश्य आत्मतुष्टि भले ही हो, पर समाज के सन्दर्भ में उसका एक मात्र उद्देश्य है लोक-हित । उन्होंने स्वयं कहा है –

"भावनाएँ तभी फलती हैं जबकि उनसे लोक के कल्याण का अंकुर कहीं फूटे ।"[233]

प्राचीन काल से लेकर अब तक की काव्य परम्परा में हर कवि की वैयक्तिकता भी सुरक्षित रही है और उनका समाज बोध भी जागरूक रहा है । अज्ञेय ने स्वयं कहा है कि मैं स्वान्तः सुखाय नहीं लिखता ।[234] पूर्ववर्ती कवियों की भाँति समाज सुख के लिए वे लिखते हैं । सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से उन्होंने कभी अपने को अलग नहीं रखा । अज्ञेय तो वह सेतु बनना चाहते हैं, जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है –

"मैं सेतु हूँ...

वह सेतु,

जो मानव से मानव का हाथ मिलने से बनता है ।"[235]

अज्ञेय के लिए 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' महत्वपूर्ण स्थान रखती है । यह एक जन्मजात प्रवृत्ति है जिससे हटकर व्यक्ति सोच नहीं सकता । अतः इस स्वतन्त्रता को नकारना सहज नहीं है । अज्ञेय को व्यक्ति से बहुत सारी अपेक्षायें हैं । उनकी अनेक

कविताओं में व्यक्ति-कर्त्तव्य के संकेत हैं। "यह द्वीप अकेला"[236] कविता में कवि अकेलेपन में अपने को असहाय नहीं पाता। वह गर्व व स्नेह से भरा हुआ है तथा प्रसन्न भी है, लेकिन यह भी चाहता है कि अगर उसकी आवश्यकता समाज को है, समूह को है तो उसे जरूर अपने आपको समाज के लिए समर्पित कर देना चाहिए। अज्ञेय समाज को तो महत्व देते ही हैं पर व्यक्ति की उपेक्षा करके नहीं। कवि एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहता है जहाँ हर व्यक्ति का अलग-अलग महत्व होते हुए भी उनमें समाज-हित में अपने को उत्सर्ग करने की भावना भी प्रबल रूप में हो। उनके यहाँ 'व्यक्ति' और 'समाज' दोनों का अलग-अलग महत्व है और दोनों एक दूसरे के पूरक हैं।

उनकी 'नदी के द्वीप'[237] कविता व्यक्ति और समाज या व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को और अधिक स्पष्ट कर दोनों की अलग-अलग अस्मिता की पहचान कराती है। उनके अनुसार नदी, जो समाज या समष्टि की प्रतीक है, उसने ही द्वीप अर्थात् व्यक्ति की उत्पत्ति की है। अतः वह तो माँ है। नदी को माँ का रूप देकर उन्होंने समष्टि या समाज को महत्व प्रदान किया है। और द्वीप तो उस पुत्र की भाँति है जो अपनी अलग पहचान तो बनाता है, लेकिन जब कभी माँ को उसकी आवश्यकता महसूस होती है तो वह उसके लिए रेत होकर सर्वस्व समर्पण के लिए तैयार रहता है। अतः कहा जा सकता है कि कवि अज्ञेय के व्यक्ति के बट-बीज में समष्टि का विटप समाया हुआ है।

कवि अज्ञेय के अहं को लेकर उनकी अत्यधिक आलोचना हुई। आलोचकों का कहना है कि वे अपने अहं या व्यक्ति के आगे किसी को कुछ समझते हीं नहीं। प्रायः देखा गया है कि ज्यादा मेल-मिलाप न बढ़ाने व मौन रहने वाले व्यक्ति पर अहंवादी होने का आरोप मढ़ दिया जाता है। अज्ञेय से मिलने के इच्छुक व्यक्ति उनके इस स्वभाव से

खीझ उठते थे । उनका मौन रहना उन्हें अपना अपमान लगता था । अतः आरोपों की झड़ी लगा दी जाती थी ।[238] कवि अज्ञेय सबसे पहले तो कवि या कलाकार को अहं से मुक्ति की सलाह देते हैं, क्योंकि उससे मुक्ति पाये बिना वे अपने कर्त्तव्यों का भली-भाँति निर्वाह नहीं कर सकते । वे स्वयं कविता को अहं के विलयन का माध्यम मानते हैं, जैसा कि उन्होंने कहा है- "आज का कवि तो कविता को वरन् व्यक्तित्व को, व्यक्ति के अहं की प्रखरतम अभिव्यक्ति और उस अहं को पुष्ट करने वाली रचना मानता है । मैं कहूँ कि इस चरम कोटि का आधुनिक कवि मैं नहीं हूँ, अधिक से अधिक उस श्रेणी का हूँ जो कविता को अहं के विलयन का साधन मानते हैं ।"[239]

उनकी कुछ कविताओं के प्रारम्भ में अहं भले ही दिखाई पड़ता हो, पर कविता का अन्त अहं के विसर्जन के साथ होता है । उनकी "दीपावली का एक दीप" कविता प्रारम्भ में तो कवि के अहं को व्यक्त करती है पर अन्त में अहं का नामो-निशान नहीं, उसका विसर्जन अवसाद भावना में होता है ।[240]

व्यक्ति की स्वतन्त्रता के पक्षधर कवि अज्ञेय स्वयं पर अहंवादी होने का आरोप लगने पर कहते हैं -

अहं ! अन्तर्गुहा वासी स्वरति !

क्या मैं चीन्हता कोई न दूजी राह ?

जानता क्या नहीं निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह ?[241]

इसी कविता में आगे वे कहते है कि इस बात को मैं भली-भाँति जानता हूँ कि मेरी जैसी असंख्य लीकों से युगों की प्रशस्त राह बनती है ।

कवि अपने 'व्यक्ति' को सार्थक तभी मानता है जब वह अपने अहं को समवाय के हित में विसर्जित कर दे । उनकी "असाध्य वीणा नामक लम्बी कविता अहं के विसर्जन की पराकाष्ठा को स्पष्ट ही द्योतित करती है, जहाँ कवि वीणा के बजने में तनिक

भी श्रेय स्वयं नहीं लेता -

"श्रेय नहीं कुछ मेरा !

मैं तो डूब गया था स्वयं शून्य में -

वीणा के माध्यम से अपने को मैंने

सब कुछ को सौंप दिया था - [242]

अपनी 'बावरा अहेरी'[243] कविता में कवि अपने मन-विवर में दुबकी कलौंस को भी किसी से छिपाना नहीं चाहता । वह सूर्य से प्रार्थना करता है कि वह अपनी प्रकाश-किरणों से उसके अन्तर्मन को भी प्रकाशित कर दे । कवि की यह आत्मस्वीकृति उनके अहंवादी होने के आरोप को झूठा साबित करती है । क्योंकि अभिमानी व्यक्ति को दूसरे में कमियाँ तो दिखाई पड़ती है पर अपने अन्दर का कलुष उसे कभी नजर नहीं आता ।

अभिजात्य कुल व सम्पन्न परिवार में पले-पढ़े अज्ञेय पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि गरीबी उन्होंने कभी देखी नहीं, अतः उनकी व्यथा को वे क्या जाने ? सम्पन्न परिवार में पैदा होने का तात्पर्य यह तो नहीं कि उस व्यक्ति में गरीबों के प्रति संवेदना ही न हो । फिर अज्ञेय तो हर वह काम अपने हाथों से कर लेते थे, जो गरीबों की जीविका के साधन हैं । उन्हीं के शब्दों में- "मैं कपड़े सी लेता हूँ, जूते गाँठ लेता हूँ, फर्नीचर जोड़ लेता हूँ, मिठाई-पकवान बना लेता हूँ, जिल्दबन्दी कर लेता हूँ । पंखे, साइकिल, मोटर, बिजली के छोटे-मोटे यन्त्र इनकी सफाई और थोड़ी बहुत मरम्मत कर लेता हूँ । विलायती ढंग से बाल काट सकता हूँ, चाभियाँ खो जाएं तो ताले खोल दे सकता हूँ, सूत कात लेता हूँ, मिट्टी के खिलौने बना लेता हूँ, काठ के ठप्पे खोदकर कपड़े छाप लेता हूँ, साँचे तैयार कर मूर्तियाँ बना लेता हूँ, ... घर की पुताई कर लेता हूँ, सीमेंट के गमले बना लेता हूँ । फूलों और तरकारी की खेती कर लेता हूँ । फावड़ा

कुल्हाड़ी, गैंती चला लेता हूँ ... । और इन सबमें केवल शौक रखता हूँ, ऐसा नहीं है । अधिकांश में से किसी के भी सहारे आजीविका कमा ले सकता हूँ ... ।"[244] ये सब कार्य गरीब किन्तु कुशल हस्तशिल्पियों के निकट सम्पर्क में आये बिना नहीं सीखे जा सकते। उनके द्वारा किये जाने वाले ये कार्य कुशल हस्तशिल्पी अज्ञेय के व्यक्तित्व का वह पहलू है जो उन पर लगाये गये अभिजात्य में आकंठ डूबे रहने के आरोप को स्वतः मिटा देता है । सम्पन्नता तो उन्हें विरासत में मिली, जिसे उन्होंने कठिन परिश्रम से बनाये रखा । वे निरन्तर परिग्रह जोड़ते हुए भी उससे अनासक्त रहे ।[245]

वस्तुतः कहा जा सकता है कि इन सभी कवियों की कविताएं एक नयी जीवन-दृष्टि लेकर उपस्थित हुई । ये कविताएँ औपनिषदिक शाश्वत मूल्यों के स्थान पर जीवन्त मानवीय मूल्यों की चेतना, सामाजिक बोध, समसामयिक दायित्व तथा उपेक्षितों के जीवन की समस्याओं को निर्भीक स्वरों में अभिव्यक्त करती हैं ।

इन कवियों की जीवन दृष्टि को मार्क्सवाद ने बहुत अधिक प्रभावित किया है । मुक्तिबोध तो एक 'फैंटेसी' युग का निर्माण कर शोषित समाज के लिए स्वर्ग का द्वार खोल देते हैं । इन सभी कवियों ने पूँजीवादी शोषण व यथास्थिति वाद का तीव्रतम विरोध किया है । इनकी रचनाएँ सामाजिक बुराइयों- जातिवाद छूआ-छूत, वर्णभेद, सम्प्रदायवाद, अन्ध विश्वास, पाखण्ड आदि का विरोध कर ऐसे शोषक विहीन नूतन समाज की रचना का संकल्प लेकर चलती है जिसमें सभी को अपना भौतिक अधिकार प्राप्त करने का समान अवसर मिल सके । इन कवियों को भी देश के असंख्य जनों की भाँति यह आशा थी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त अपने देश की शासन-व्यवस्था सदियों से उपेक्षित, शोषित और दलित जनों का कल्याण करेगी किन्तु शासन की दुर्व्यवस्था ने इन्हें अत्यधिक निराश किया । इसलिए उन्होंने इनके विरूद्ध अपनी लेखनी को ज्वलन्त रूप प्रदान किया। इन्होंने अपनी लेखनी को कभी न गिरवी रखा, न उसे बेचा ही । मुक्तिबोध,

नागार्जुन, धूमिल त्रिलोचन आदि कवि जीवन पर्यन्त आग में जलते रहे किन्तु कभी भी शासन से समझौता नहीं किया तथा अपनी लेखनी को आम आदमी के कल्याण के लिए ही समर्पित किया ।

इन कवियों ने उधार लिए हुए अनुभव को अपनी कविताओं में स्थान नहीं दिया वरन् स्वयं के भोगे हुए अनुभव तथा प्रत्यक्ष किये गये जीवन के सत्यासत्य चित्रों को अपनी अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया । यही कारण है कि इनकी रचनाएं काल-विजयिनी बनी हुई है । इन्होंने अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों को चुनौती देकर मानवीय रिश्तों को दृढ़ता से जोड़ने का प्रयास ही नहीं किया है, वरन् अधिकारों के लिए संघर्ष करने वाली शोषित शक्ति को अपराजेय शक्ति प्रदान की है, क्योंकि इन कवियों ने कभी अपने जीवन में परिस्थितियों से न हार मानी है, न उससे झुककर समझौता किया है । यही शक्ति ही इनकी कविताओं की आत्मशक्ति बन गयी है जिसके बल पर ये मानवीय सम्बन्धों को दृढ़तम बनाने के लिए संघर्ष करते रहते हैं । जन्मजात न्याय पाने का अधिकार और समता के आकाश में साँस लेने की इच्छा शक्ति को क्रूर शक्ति भले ही कुछ काल के लिए दबाती रही हो, किन्तु कवियों की लेखनी इनके विरूद्ध संघर्ष कर राख में दबी हुई चिनगारी की भाँति उस मानवीय इच्छा शक्ति को जगाती हुई संघर्ष करने के लिए प्रेरणा देती रहती है । इसी संघर्ष की धारा को अविच्छिन्न शक्ति प्रदान करने के लिए ही इन कवियों की लेखनी ने कविता को जन्म दिया ।

तृतीय अध्याय : सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

(1) "जनवादी समझ और साहित्य" – राम नारायण शुक्ल, पृ0 50 ।

(2) "बाबा नागार्जुन" – सम्पादक नरेन्द्र कोहली, पृ0 11–12 ।

(3) "बाबा नागार्जुन" – सम्पादक नरेन्द्र कोहली, पृ0 12 ।

(4) "आजकल" जून 1996, पृ0 20, सम्पा0 प्रताप सिंह बिष्ट ।

(5) "मेरे साक्षात्कार", नागार्जुन, पृ0 127 ।

(6) "आजकल", जून 1996, पृ0 20, सम्पा0 प्रताप सिंह बिष्ट ।

(7) "बाबा नागार्जुन" – सम्पादक नरेन्द्र कोहली, पृ0 39 ।

(8) "आजकल", सितम्बर 1969, पृ0 20, सम्पा0 केशव गोपाल निगम ।

(9) "मेरे साक्षात्कार", नागार्जुन, पृ0 89 ।

(10) "नागार्जुन की काव्य–यात्रा" – डा0 रतन, पृ0 2 ।

(11) द्र0 वही, पृ0 2।

(12) "मेरे साक्षात्कार", नागार्जुन, पृ0 20 ।

(13) "नागार्जुन की काव्य–यात्रा" – डा0 रतन, पृ0 2–3 ।

(14) "नागार्जुन का रचना संसार" – विजय बहादुर सिंह, पृ0 118 ।

(15) "कैसे लिखूँ शान्ति पर कविता/अमन् चैन को कैसे मैं कड़ियों में बॉधू ।" –
नागार्जुन: चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पा0 शोभाकान्त, पृ॰84–85 ।

(16) "मेरे साक्षात्कार", नागार्जुन, पृ0 92 ।

(17) नागार्जुनः चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पा0 शोभाकान्त ।

(18) "मेरे साक्षात्कार", नागार्जुन, सम्पा0 शोभाकान्त, पृ0 132 ।

(19) ''मेरे साक्षात्कार'', नागार्जुन, पृ0 92 ।

(20) ''मेरे साक्षात्कार'', नागार्जुन, पृ0 15 ।

(21) ''मेरे साक्षात्कार'', नागार्जुन, पृ0 21 ।

(22) ''मेरे साक्षात्कार'', नागार्जुन, पृ0 21 ।

(23) ''मेरे साक्षात्कार'', नागार्जुन, पृ0 59 ।

(24) ''मेरे साक्षात्कार'', नागार्जुन, पृ0 60 ।

(25) ''मेरे साक्षात्कार'', नागार्जुन, पृ0103 ।

(26) ''मेरे साक्षात्कार'', नागार्जुन, पृ0 7 ।

(27) साक्षात्कार' (पत्रिका), जून 1992, सम्पादक प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ0 12 ।

(28) साक्षात्कार' (पत्रिका), जून 1992, सम्पादक प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ0 6 ।

(29) साक्षात्कार' (पत्रिका), जून 1992, सम्पादक प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ0 12 ।

(30) ''केदारनाथ अग्रवाल'' – सम्पादक – अजय तिवारी पृ0 226।

(31) ''केदारनाथ अग्रवाल'' – सम्पादक – अजय तिवारी पृ0 228 ।

(32) ''केदारनाथ अग्रवाल'' – सम्पादक – अजय तिवारी पृ0 226।

(33) ''केदारनाथ अग्रवाल'' – सम्पादक – अजय तिवारी पृ0 225 ।

(34) ''केदारनाथ अग्रवाल'' – सम्पादक – अजय तिवारी पृ0 230 ।

(35) साक्षात्कार' (पत्रिका), जून 1992, सम्पादक प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ0 10 ।

(36) साक्षात्कार' (पत्रिका), जून 1992, सम्पादक प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ0 11 ।

(37) ''केदारनाथ अग्रवाल'' – सम्पादक – अजय तिवारी पृ0 230।

(38) ''केदारनाथ अग्रवाल'' – सम्पादक – अजय तिवारी पृ0 230।

(39) ''केदारनाथ अग्रवाल'' – सम्पादक – अजय तिवारी पृ0 231।

(40) ''अपूर्वा'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 15, (भूमिका) ।

(41) ''अपूर्वा'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, (भूमिका) पृ0 13–14।

(42) ''अपूर्वा'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 15 (भूमिका) ।

(43) ''आत्मगंध'' (कविता संग्रह) केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 3 (भूमिका) ।

(44) ''आत्मगंध'' (कविता संग्रह) केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 3–4 (भूमिका) ।

(45) ''अपूर्वा'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 12 (भूमिका) ।

(46) ''अपूर्वा'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल पृ0 12, (भूमिका) ।

(47) ''आग का आईना'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल पृ0 4, (भूमिका) ।

(48) ''अपूर्वा'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 12 (भूमिका) ।

(49) ''आत्मगंध'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 3 (भूमिका) ।

(50) साक्षात्कार' (पत्रिका), जून 1992, सम्पादक प्रभाकर श्रोत्रिय, पृ0 10 ।

(51) ''बोले बोल अबोल'' (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 11, (भूमिका) ।

(52) साक्षात्कार' (पत्रिका), जून 1992, पृ0 14, सम्पादक प्रभाकर श्रोत्रिय, ।

(53) ''अनकहनी भी कुछ कहनी है'' (क0सं0) त्रिलोचन पृ0 25 ।

(54) ''बैठ धूप में हरी मटर की घुँघनी खाना,

जाड़े का आनन्द यही है रस गन्ने का

x x x x x

नये – नये स्वप्नों की सुधि, जानी अनजानी ।''

''शब्द जहाँ सक्रिय है' – नन्द किशोर नवल, पृ0 78 पर उद्‌घृत ।

(55) दृ0 वही पृ0 76 – 77

(56) ''अनकहनी भी कुछ कहनी है'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 77 ।

(57) ''पहला असंतोष जो कुछ भी रहा सहा था । आज नहीं है ।''

''अनकहनी भी कुछ कहनी है'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 77 ।

(58) ''अभावों का ही घरं था .... मिला खा लिया, नहीं निराहारों ही पर था ।''

''शब्द जहॉ सक्रिय है'' – नन्द किशोर नवल, पृ0 77 पर उद्घृत ।

(59) ''त्रिलोचन के बारे में'' – सम्पादक गोविन्द प्रसाद (लेख – शिव प्रसाद सिंह का) पृ0 100) ।

(60) ''उर्वर होता है, जीवन भी आघातों से

विकसित होता है, बढ़ता है उत्पातों से ।''

''अनकहनी भी कुछ कहनी है'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 14 ।

(61) दृ0 ''शब्द जहॉ सक्रिय है'' – नन्द किशोर नवल, पृ0 52 ।

(62) दृ0 वही, पृ0 52 ।

(63) ''फूल नाम है एक'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन – (भूमिका से) ।

(64) ''त्रिलोचन के बारे में'' – सम्पादक गोविन्द प्रसाद, पृ0 56 (डॉ0 राम विलोस शर्मा का लेख) पर उद्घृत ।

(65) साक्षात्कार (पत्रिका), जुलाई–अगस्त 1989, सम्पादक मनोहर वर्मा ।

(66) साक्षात्कार (पत्रिका), जुलाई–अगस्त 1989, सम्पादक मनोहर वर्मा ।

(67) ''त्रिलोचन के बारे में'' – सम्पादक गोविन्द प्रसाद (कवर पृष्ठ से) ।

(68) ''त्रिलोचन के बारे में'' – सम्पादक गोविन्द प्रसाद (कवर पृष्ठ से) ।

(69) ''उस जनपद का कवि हूँ'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन ।

(70) ''वर्तमान साहित्य'' (पत्रिका), अगस्त 1992, सम्पादक – से0रा0 यात्री, विभूति नारायण राय, पृ0 29 ।

(71) ''वर्तमान साहित्य'' (पत्रिका), अगस्त 1992, सम्पादक – से0रा0 यात्री, विभूति नारायण राय, पृ0 30 ।

(72) ''फूल नाम है एक'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 41 ।

(73) ''त्रिलोचन के बारे में'' – सम्पादक गोविन्द प्रसाद, पृ0 243–44 ।

(74) ''माओ, तुम जन नायक हो, तुमने जनता का / जीवन जीने योग्य किया है, चीन जाग कर / अपने पैरों आज खड़ा है ।''

''शब्द'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ 36 ।

(75) ''साम्यवाद के पथ पर लीद किया करते हैं

मानवता का पोस्टर देखा, लगे रेंकने ।''

''फूल नाम है एक'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 21 ।

(76) ''चैती'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 30 ।

(77) ''शब्द'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 37 ।

(78) आजकल (पत्रिका), अगस्त 1995, सम्पादक प्रताप सिंह विष्ट, पृ0 47 ।

(79) ''मेरी सजग चेतना में तुम रमे हुए हो''

'आजकल' (पत्रिका), अगस्त 1995, पृ0 47, सम्पादक प्रताप सिंह विष्ट ।

(80) वर्तमान साहित्य (पत्रिका), सितम्बर 1992 ।

(81) ''त्रिलोचन के बारे में'' – सम्पादक गोविन्द प्रसाद, पृ0 243।

(82) ''अनकहनी भी कुछ कहनी है'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 94 ।

(83) ''उस जनपद का कवि हूँ'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 162 ।

(84) ''जो जमा हुआ है गर्दा
सामाजिक जीवन समाज पर वह झड़ जाए / सहज प्रसन्न रूप हो सबका
......................।'' ''उस जनपद का कवि हूँ'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन।

(85) ''काव्य और अर्थ बोध'' – सम्पादक डा0 अवधेश प्रधान, पृ0 56, (लेख – रचनात्मक और सामाजिक दायित्व – त्रिलोचन)।

(86) ''काव्य और अर्थ बोध'' – सम्पादक डा0 अवधेश प्रधान, पृ0 56, (लेख – रचनात्मक और सामाजिक दायित्व – त्रिलोचन)।

(87) ''काव्य और अर्थ बोध'' – सम्पादक डा0 अवधेश प्रधान, पृ0 56, (लेख – रचनात्मक और सामाजिक दायित्व – त्रिलोचन)।

(88) ''अगर न पीड़ा होती तो भी क्या मैं गाता ।

यदि गाता तो क्या उसमें ऐसा स्वर आता ।''

''अनकहनी भी कुछ कहनी है'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 12 ।

(89) ''अनकहनी भी कुछ कहनी है'' (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 17 ।

(90) ''धूमिल और उसका काव्य संघर्ष'' – डॉ ब्रम्हदेव मिश्र, पृ0 11 ।

(91) दृ0 वही, पृ0 12 ।

(92) ''कटघरे का कवि धूमिल'' – डा0 ग0तु0 अष्टेकर, पृ0 19–20 ।

(93) '' हर हाथ में । गीली मिट्‌टी की तरह हॉ–हॉ मत करो ।

तनो! । अकडो । अमर बेलि की तरह मत जियो । जड पकड़ो ।

बदलो – अपने – आप को बदलो ।''

'' संसद से सड़क तक '' (क0सं0) – धूमिल, पृ0 48 ।

(94) दृ0 धूमिल और उसका काव्य संघर्ष – डॉ ब्रम्हदेव मिश्र, पृ0 109 ।

(95) दृ0 वही, पृ0 106 ।

(96) दृ0 वही, पृ0 106 ।

(97) क्रान्तिदर्शी कवि धूमिल – डॉ0 वी0 कृष्ण, पृ0 126 ।

(98) ''कविता– /

शब्दों की अदालत में । मुजरिम के कठघरे में खडे

वेकसूर आदमी का । हलफनामा है ।

x x x x x

कविता / भाषा में / आदमी होने की तमीज है ।''

संसद में सड़क तक – धूमिल, पृ0 85 ।

(99) ''कटघरे का कवि धूमिल'' – डा0 ग0तु0 अष्टेकर, पृ0 48 ।

(100) ''कल सुनना मुझे'' (क0सं0) – धूमिल, पृ0 60 ।

(101) ''कविता में / एक डरा हुआ विन्दु है /

आप उसे छुओ / वह कुनमुनाए गा /

आप उसे कोंचों / वह उठ खड़ा होगा''! संसद में सड़क तक – धूमिल, पृ0 62–63।

(102) दृ0 वही, पृ0 85 ।

(103) दृ0 वही, पृ0 39 ।

(104) दृ0 धूमिल और उसका काव्य संघर्ष – डॉ ब्रम्हदेव मिश्र, पृ0 85।

(105) नया प्रतीक (फरवरी, 1978) पृ0 2–3।

(106) ''समकालीन कविता और धूमिल'' – डॉ0 मंजुल उपाध्याय पृ0 49 ।

(107) ''कटघरे का कवि धूमिल'' – डा0 ग0 तु0 अष्टेकर, पृ0 44 ।

(108) '' संसद में सड़क तक'' – धूमिल, पृ0 62 ।

(109) सुबह से तो शाम तक ....। काम की तलाश में इस गुजरे हुए दिन की

निरर्थता की आग में / जलाता धुँआता हुआ / ज़िन्दगी की दुनिया को कोसता.....।''

चॉद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) – मुक्तिबोध, पृ0 94–95 (शीर्षक – 'मुझे याद आते हैं')

(110) द्र0 वही, पृ0 98 ।

(111) द्र0 वही, पृ0 वही ।

(112) चॉद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) – मुक्तिबोध (भूमिका) पृ0 12 ।

(113) द्र0 वही, पृ0 12 ।

(114) द्र0 वही, पृ0 12 ।

(115) द्र0 वही, पृ0 13 ।

(116) ''तारसप्तक''–सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 22 ।

(117) ''तारसप्तक''–सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 25 ।

(118) वही ''व्यक्तित्व और खण्डहर'' शीर्षक, पृ0 42 ।

(119) आत्मसंघर्ष की कविता और मुक्तिबोध – डॉ0 हंसराज त्रिपाठी, पृ0 14 ।

(120) चॉद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) – मुक्तिबोध (भूमिका) पृ0 15, 16, 17 ।

(121) ''तारसप्तक''–सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 44 ।

(122) द्र0 वही, पृ0 45 ।

(123) ''नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र'' – मुक्तिबोध, पृ0 76 ।

(124) ''नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध'' – मुक्तिबोध, पृ0 114–115 ।

(125) द्र0 'चॉद का मुँह टेढ़ा है' (क0सं0) – मुक्तिबोध ('चम्बल की घाटी में'–शीर्षक) पृ0 253

(126) ''नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध'' – मुक्तिबोध, पृ0 8 ।

(127) द्र0 वही, पृ0 14 ।

(128) द्र0 वही, पृ0 14 ।

(129) द्र0 वही, पृ0 29 ।

(130) द्र0 वही, पृ0 114 ।

(131) दृ0 वही, पृ0 20 ।

(132) दृ0 वही, पृ0 44 ।

(133) दृ0 वही, पृ0 15 ।

(134) दृ0 वही, पृ0 15 ।

(135) दृ0 वही, पृ0 18 ।

(136) दृ0 वही, पृ0 17–18 ।

(137) दृ0 वही, पृ0 18 ।

(138) दृ0 वही, पृ0 31।

(139) ''चॉद का मुँह टेढ़ा है''(क0सं0) – मुक्तिबोध, पृ0 12 और 14 ।

(140) ''मुक्तिबोध: ज्ञान और संवेदना'' – नन्द किशोर नवल, पृ0 375 ।

(141) दृ0 वही, पृ0 380 ।

(142) ''चॉद का मुँह टेढ़ा है– मुक्तिबोध, (शीर्षक – चकमक की चिंगारियॉ), पृ0 169 ।

(143) " पर, वह जगत की गलियों में घूमता है प्रतिपल

वह फटेहाल रूप ।"

''चॉद का मुँह टेढ़ा है''– मुक्तिबोध (अंधेरे में' शीर्षक) – पृ0 298 ।

(144) ''रघुवीर सहाय का कविकर्म''–सुरेश शर्मा, पृ0 159 ।

(145) दृ0 वही, पृ0 158 ।

(146) ''चल पड़ा निर्माण–पथ पर युग–युगों का मैं बटोही'' वहीं, पृ0 155 ।

(147) ''यथार्थ यथास्थिति नहीं'' – रघुवीर सहाय, सम्पा0 सुरेश शर्मा, पृ0 138 ।

(148) दृ0 वही, पृ0 138 ।

(149) ''रघुवीर सहाय का कविकर्म'' – सुरेश शर्मा, पृ0 158 ।

(150) आत्महत्या के विरूद्ध – रघुवीर सहाय, पृ0 15 ।

(151) ''अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ'', वही, पृ0 32 ।

(152) ''रघुवीर सहाय का कविकर्म'' – सुरेश शर्मा, पृ0 10 ।

(153) दृ0 वही, पृ0 10 ।

(154) दृ0 वही, पृ0 145 ।

(155) दृ0 वही, पृ0 145 ।

(156) दृ0 वही, पृ0 145 ।

(157) दृ0 आलोचना (त्रैमासिक) अप्रैल–जून 1967 ।

(158) ''रघुवीर सहाय का कविकर्म'' – सुरेश शर्मा, पृ0 80 ।

(159) दृ0 ''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय, पृ0 28 – 29 ।

(160) दृ0 आलोचना (त्रैमासिक) अप्रैल–जून 1967 ।

(161) ''रघुवीर सहाय का कविकर्म'' – सुरेश शर्मा, पृ0 70 पर उद्‌घृत ।

(162) '' बहुत दिन हुए तब मैंने कहा था लिखूँगा नहीं / किसी के आदेश से ''

''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय, पृ0 15 ।

(163) लोग भूल गये हैं – रघुवीर सहाय, पृ0 53 ।

(164) ''कलम लिए बैठा है / शब्दों की खोज में / लेखक़ स्वच्छन्द है ।'' ''लोग भूल गये हैं''(क0सं0)– रघुवीर सहाय, पृ0 101 ।

(165) ''रघुवीर सहाय का कविकर्म'' – सुरेश शर्मा, पृ0 80 ।

(166) दृ0 वही, पृ0 71 ।

(167) ''हम उपन्यास में बात मानव का करेंगे । और कभी बता नहीं पायेंगे /
सूखी टॉगे घसीटकर खम्भे के पास में आकर बैठे हुए / लड़के के सामने
पड़े हुए तसले का अर्थ।'' ''लोग भूल गये हैं'' – रघुवीर सहाय, पृ0 47 ।

(168) ''शासन को बदलने के बदले अपने को / बदलने लगे ।'' ''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय, पृ0 16 ।

(169) ''ऊबे अँधेरे में / खडे हुए बाहर निकलने से पहले बन्द होते हुए / कमरे में / एक बार / भीड़ में / जानबूझ / कर चीख / ना होगा / जिन्दा रहने के लिए .... यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही / यह कि मैं घोर उजाले में खोजता हूँ / आग ।'' ''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय, पृ0 27 ।

(170) ''मेरे अन्दर का एक कायर टूटेगा टूट / मेरे मन टूट एक बार सही तरह / अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ । ''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय, पृ0 85 ।

(171) ''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय, पृ0 31 ।

(172) दृ0 वही, पृ0 33 ।

(173) दृ0 वही, पृ0 22 ।

(174) कुछ पते कुछ चिट्ठियॉ – रघुवीर सहायक, पृ0 54 ।

(175) दृ0 वही, (निवेदन) ।

(176) दृ0 वही, (निवेदन) ।

(177) ''रघुवीर सहाय का कविकर्म'' – सुरेश शर्मा, पृ0 10 ।

(178) दृ0 वही, पृ0 10 ।

(179) दृ0 वही, पृ0 10 ।

(180) दृ0 वही, पृ0 143 ।

(181) दृ0 ''लोग भूल गये हैं।'' – रघुवीर सहाय (निवेदन से) ।

(182) दृ0 ''लोग भूल गये हैं।'' – रघुवीर सहाय, पृ0 101 ।

(183) ''तुमने दी अनाहत जिजीविषा / उसे क्या करें ?''

कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ – रघुवीर सहाय ('समर्पण' से) ।

(184) द्र0 वही, ('निवेदन' से) ।

(185) द्र0 वही, पृ0 45 ।

(186) '' मैं पूछ रहा हूँ, इसीलिए यह बार–बार /

वह दर्द कहाँ मर गया रोज जो होता था / जिससे वह एकाकी भी तड़पा करता

था/ वह बल, कविता ने पाठक से क्यों छीन लिया है?'' द्र0 वही, पृ0 13 ।

(187) द्र0 ''अन्तराल'' – गिरिजा कुमार माथुर, सम्पादक डॉ0 गोपालदत्त सारस्वत, पृ0 23 ।

(188) ''मुझे और अभी कहना है'' – गिरिजा कुमार माथुर, भूमिका – पृ0 16 ।

(189) द्र0 वही, पृ0 16 ।

(190) द्र0 वही, पृ0 16–17 ।

(191) ''उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत /

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति ।''

(कठोपनिषद् 1/3/14)

(192) ''मुझे और अभी कहना है'' – गिरिजा कुमार माथुर (भूमिका), पृ0 19 ।

(193) द्र0 वही, पृ0 24–25 ।

(194) द्र0 वही, पृ0 7 ।

(195) द्र0 वही, पृ0 8 ।

(196) द्र0 वही, पृ0 10–11 ।

(197) द्र0 वही, पृ0 12 ।

(198) साक्षात्कार (पत्रिका), नवम्बर – जनवरी 1994, पृ0 7 ।

(199) दृ0 ''मुझे और अभी कहना है'' – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 24 ।

(200) दृ0 वही, पृ0 26 ।

(201) दृ0 वही, पृ0 26 ।

(202) दृ0 वही, पृ0 36 ।

(203) दृ0 तारसप्तक – सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 168 ।

(204) दृ0 ''मुझे और अभी कहना है'' – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 30 ।

(205) दृ0 वही, पृ0 37 ।

(206) दृ0 वही, पृ0 36 ।

(207) ''धूप के धान'' (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर – निवेदन – पृ0 1 ।

(208) ''तारसप्तक'' – सम्पा0 अज्ञेय, पुनश्च – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 162 ।

(209) ''धूप के धान'' (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 8–9 ।

(210) ''तारसप्तक'' – सम्पा0 अज्ञेय, (गिरजा कुमार माथुर का वक्तव्य) ,पृ0 167 ।

(211) ''मुझे और अभी कहना है'' – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 28 ।

(212) दृ0 वही, पृ0 40 ।

(213) दृ0 वही, पृ0 40 ।

(214) ''खूनी मशाल / है नष्ट कर रहा / नगर, ग्राम, घर, द्वार /

भूमि बन को कराल। ''

''मुझे और अभी कहना है'' – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 348 ।

(215) दृ0 वही, पृ0 13 ।

(216) ''अज्ञेय–काव्य में प्रागबिम्ब और मिथक – सी0एस0राजन, पृ0 99 ।

(217) दृ0 वही, पृ0 102 ।

(218) दृ0 वही, पृ0 101 ।

(219) दृ0 वही, पृ0 101–102 ।

(220) दृ0 वही, पृ0 102 ।

(221) दृ0 वही, पृ0 103 ।

(222) दृ0 वही, पृ0 103–104 ।

(223) दृ0 वही, पृ0 104–105 ।

(224) दृ0 वही, पृ0 108 ।

(225) दृ0 वही, पृ0 106 ।

(226) दृ0 वही, पृ0 107–108 ।

(227) ''अज्ञेय : आज के लोकप्रिय कवि'', सम्पादक विद्या निवास मिश्र, पृ0 26 ।

(228) ''अज्ञेय काव्य में प्रागबिम्ब और मिथक'' – सी0एस0 राजन, पृ0 115 ।

(229) दृ0 वही, पृ0 114 ।

(230) ''अज्ञेय : सृजन और सन्दर्भ '' – सम्पादन डॉ0 सावित्री मिश्र, पृ0 14 ।

(231) दृ0 वही, पृ0 5 । और ''अज्ञेय काव्य में प्रागबिम्ब और मिथक'' – सी0एस0 राजन पृ0 109 ।

(232) आत्मनेपद – अज्ञेय, पृ0 204 ।

(233) सदानीरा–1, (अज्ञेय की सम्पूर्ण कविताओं का संकलन), पृ0 234 ।

(234) दृ0 तारसप्तक – अज्ञेय (वक्तव्य), पृ0 222 ।

(235) सदानीरा–1, अज्ञेय, पृ0 272 ।

(236) सदानीरा–1, अज्ञेय,पृ0 261 ।

(237) सदानीरा–1, अज्ञेय,पृ0 241 ।

(238) ''अज्ञेय, सृजन और सन्दर्भ '' – सम्पादन डॉ0 सावित्री मिश्र, पृ0 102 ।

(239) ''हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य'' – राम कमल राय, पृ0 45 ।

(240) ''दीपक हूँ, मस्तक पर मेरे / अग्निशिखा है नाच रही /

..................बुझी ज्योति मेरे जीवन की / शव से उठने लगा धुआँ।'' ''भग्नदूत'' –

(क0सं0) की दूसरी कविता (सदानीरा–1, अज्ञेय)

(241) सदानीरा–1, अज्ञेय,पृ0 212 ।

(242) दृ0 ''आँगन के पार द्वार'' – (क0सं0) अज्ञेय, पृ0 87 ।

(243) सदानीरा–1, अज्ञेय,पृ0 254 ।

(244) ''आत्मने पद'' – अज्ञेय, पृ0 173–174 ।

(245) ''अज्ञेयः आज के लोकप्रिय कवि'', सम्पा0 विद्या निवास मिश्र, पृ0 4 ।

चतुर्थ अध्याय

स्वातन्त्र्योत्तर कवियों की काव्य–वस्तु में लोक–संवेदना के विविध रूप – (नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, सुदामा पाण्डेय 'धूमिल', गजानन माधव 'मुक्तिबोध', रघुवीर सहाय, गिरिजा कुमार माथुर व अज्ञेय की कविताओं के सन्दर्भ में)[पृ0सं0 – 154-256]

(क) शोषित–पीड़ित जन–सामान्य के पक्षधर।

(ख) पूँजीवादी राजनीतिक सत्ता का विरोध।

(ग) समसामयिक–यथार्थ का हृदय–संवेद्य रूप (साम्प्रदायिकता, जातिवाद, रूढि व अन्धविश्वास आदि का विरोध)।

(घ) प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में गाँव की मिट्टी के प्रति सहज लगाव – ग्रामीण जन–जीवन में व्याप्त रीति–रिवाज, विश्वास, आचार–व्यवहार सम्बन्धी परम्पराओं आदि का सहज भावुकतापूर्ण रूप।

लोकहित के भाव का प्रतिपादन करने वाला साहित्य नूतन सर्जना के बीज से प्रस्फुटित होकर अनवरत विकासात्मक स्वरूप को प्राप्त होता रहता है। वैदिक साहित्य से प्रारम्भ होकर आज तक साहित्य के विकास की यात्रा अनन्त की ओर चल रही है। प्रत्येक प्राणी के समान प्रत्येक कवि अद्वितीय है किन्तु इनमें भी कुछ-कुछ समान-धर्मी होते हैं । 'शब्द ब्रहम है' की स्थापना का मूल बिन्दु शब्द की व्यापकता, अनन्तता और अनश्वरता है। इसकी साधना में प्रत्येक कवि अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देता है। जिसकी जैसी साधना होती है, उसे उसी प्रकार का फल प्राप्त होता है। इस साधना के मूल में कवि की लोक मंगल-कामना का विशेष महत्व है। स्वान्तः सुखाय का परम तत्व लोक मंगल-कामना की परिणति में अन्तर्निहित है। "सुरसरि सम सब कर हित होई" की भावना लोक मंगल की स्थापना है । लोकहित सम्पादित करने वाला साहित्य देश काल की सीमा का उल्लंघन कर अपना प्रभाव सर्वत्र फैलाता रहता है।

देश को स्वतन्त्रता प्राप्ति एक वरदान था। लोगों ने सोचा था कि भारत माता की तार-तार हुई साड़ी रेशमी बन जायेगी, उसकी जलती हुई पेट की अग्नि बुझ कर एक नया सृजन करेगी, उसके अंग स्वर्णाभूषणों से अलंकृत हो जायेंगे, उसके केश-पाश में हीरे-मोतियों की माला सुशोभित होगी। उसके शुष्क कपोलों की कालिमा लालिमा में एवं आंखों की अश्रुधारा सुन्दर प्रभातीय शोभा में परिणत हो जायेगी और उसकी अस्मिता विश्व में वन्दनीय हो जायेगी। पर हुआ इसके विपरीत । जिनके हाथ में सत्ता आयी उन्होने देश की दशा और दिशा को और ही विकृत कर दिया । सरकारी नीतियाँ ओस के समान चमकीली रहीं। सरकार की कथनी और करनी में अन्तर ही नहीं रहा वरन् वैपरीत्य रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि देश का आम-आदमी आज भी बड़े-बड़े नगरों के फुट-पाथों पर अपनी जिन्दगी की रोटी सेंकता हुआ जाड़े की रात में भी उसी पर सोता है और अपने जीवन को मौत के मुँह में स्वयं झोंकने के लिए विवश रहता है।

सरकारी नीतियाँ उन्हीं लोगों के जीवन को स्वर्णिम बनाती रहती हैं, जिनके हाथ में किसी प्रकार एक बार भी शासन-प्रशासन तन्त्र आ जाता है। औद्योगिक क्रान्ति से लगता है कि देश ने बहुत विकास किया है किन्तु आम-आदमी का जीवन आज भी पशुओं से बदतर है। आम-आदमी झुण्डों में प्रतिदिन शहर के किसी नुक्कड़ पर आठ-दस घंटे के लिए बिकने को तैयार रहता है, किन्तु उन्हें कोई पूछता नहीं है। गाँवों से लोग नगर की ओर पेट की आग बुझाने के लिए भागे आ रहे हैं पर यहाँ उसकी आग में मिलता क्या है – बस पेट्रोल। गाँव में जो सम्पन्न खेतिहर हैं वे ही मनुष्य हैं – शेष सब पशुवत् हैं, जिन्हें अपने मालिकों की अनुमति के अनुसार साँस लेना पड़ता है। सरकार केवल कागजी नीतियाँ बनाकर इतिश्री कर लेती है। सम्पन्न और सम्पन्न होते जा रहे हैं और दीन-दलित और दलित। इन सबके मूल में सरकारी नीतियाँ ही दोषी हैं क्योंकि भ्रष्ट मस्तिष्क से उपजी हुई नीतियाँ भ्रष्टाचार को बढ़ावा देती है। सर्वत्र भ्रष्टाचार का नग्न ताण्डव हो रहा है। कवि-लेखक, बुद्धिजीवी भी या तो इसी भ्रष्टाचार के कीचड़ में चलते हुए अपनी पूजा करवा रहे हैं या यथास्थितिवाद को स्वीकार कर साँस ले रहे हैं। कुछ ही कवियों ने यथास्थितिवाद के साम्राज्य को ध्वस्त करने के लिए अपनी लेखनी उठायी, इसीलिए इनकी रचनाओं में क्रान्ति की आग है। इनकी रचनाएँ कुछ सीमा तक आम-आदमी की जिन्दगी के यथार्थ-चित्र को उपस्थित कर सरकारी तन्त्र की पोल खोलकर लोगों को नयी चेतना प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त भाग्यवाद और ईश्वरवाद के द्वारा फैलायी गयी अकर्मण्यता, अत्याचार को चुपचाप सह लेने की बाध्यता को दूर कर अपने हाथ अपने विकास करने की शक्ति को देती हुई अन्याय और पाखण्डवाद को धूल-धूसरित करने का नव्य उत्साह प्रदान करती हैं। इन कवियों ने जातिवाद, सम्प्रदायवाद और धार्मिक-आडम्बरवाद का विरोध कर आम-आदमी को जीवन के प्रति विश्वास, मानव के प्रति प्रेम-भावना तथा ऊँची आकांक्षाओं को मूर्त रूप प्रदान करने की नूतन ज्योति प्रदान की।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त हिन्दी साहित्य में एक अद्‌भुत आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। स्वातन्त्रयोत्तर कवियों की सशक्त लेखनी ने स्पष्ट शब्दों में शासन व्यवस्था पर प्रहार करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि यह प्रहार युगों से चला आ रहा है किन्तु उसमें वह धार नहीं है जैसी कि समकालीन कवियों में। यह इसलिए है कि इनकी रचनाएँ इनके हृदय की वेदना की मर्मभेदिनी ध्वनि है। इस ध्वनि में केवल चिल्लाहट या खोखली झंकार नहीं है वरन् आम-आदमी की असहनीय पीड़ा की संहारक ध्वनि है, जिसे कविता का स्वर प्राप्त हुआ है। कवियों ने इस पीडा का परप्रत्यक्षीकरण के आधार पर चित्रण नहीं किया है वरन् स्वानुभूत सत्य को कविता की भाषा में उकेरा है। इसे अभिव्यक्त करने के लिए इन कवियों ने नयी शैली की सर्जना की है। नूतनता सृष्टि है, चेतना है, और विकास-प्रक्रिया है, यथास्थितिवाद जड़ता है। जड़ता को तोड़ना इन कवियों का लक्ष्य है। यह जड़ता आम-आदमी की है, शोषितों, दलितों और सताये हुए सामान्य जनों की है, क्योंकि वह यथास्थिति को स्वीकार कर नारकीय जीवन जीने के लिए बाध्य कर दिया जाता है अथवा अपनी नियति मान कर संघर्षशीलता को तिलांजलि देकर अहल्या की जड़ता को अपनी जिन्दगी की साँस मान लेता है। मार्क्सवाद से प्रभावित समकालीन कवियों की चेतना ने जिन्दगी से हारे हुए, शोषकों से शोषित तथा भाग्य और धर्म के नाम पर अंधे कुएँ में ढकेले गये आम-आदमी के जीवन के अंधकार को दूर करने में सक्षम अक्षय ज्योति प्रदान करने के लिए अपनी लेखनी को फौलादी रूप दिया।

स्वातन्त्रयोत्तर कवियों में नागार्जुन, धूमिल, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल तथा गिरिजा कुमार माथुर की कविताओं में आम-आदमी के जीवन की यथार्थता चित्रित है। इन कवियों ने इसी प्रकार के जीवन को जिया है, इसलिए इन्हें जिस पीड़ा की अनुभूति हुई है उसकी सजीव अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में दिखाई पड़ती है। रघुवीर सहाय भी

आम-आदमी के विषम जीवन को सुखद बनाने की वकालत करते रहते है किन्तु इनकी रचनाओं की जटिलता रचना को आम-आदमी से नहीं जोड़ पाती है। मुक्ति बोध की कविताएं ऐसे विम्बों का सृजन करती है, जो उनकी जीवन-व्यथा से जुड़कर रचना को अधिक संवेदनशील रूप प्रदान करती है। आम-आदमी की भाँति जीविका को चलाने वाले, स्वयं अनेक कार्यो को कर लेने वाले अज्ञेय अपनी कुछ कविताओं के माध्यम से लोक का अत्यन्त प्रभावी चित्रण कर लोक के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त करते हैं। वस्तुतः सभी कवियों ने अपने-अपने ढंग से अपनी कविताओं के माध्यम से लोक के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है ।

नागार्जुन की कविता में लोक संवेदनाः-

जो बीज जिस मिट्टी से अंकुरित होकर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है, उसमें उस मिट्टी का सौरभ समाहित होता है । नागार्जुन लोक-जीवन की धूलि से उत्पन्न होने वाले अकेले ऐसे कवि हैं, जिनकी रचनाओं में जन-सामान्य की दलित आत्मा का दिव्य प्रकाश है, जिसका साक्षात्कार विरले हीकर पाते है। पीड़ा के बीज से उत्पन्न होने वाली इनकी रचना-लता के प्रत्येक भाग में मानवीय संवेदना का लोकोत्तर रस प्रवाहित होता रहता है, जो संवेदनशील जन को अमृत, किन्तु शोषकों को विष प्रतीत होता है। नागार्जुन की कविता खेत-खलिहान, कल-कारखानों में काम करने वाले किसान-मजदूर के पसीने की गंध से उपजी है जो सहृदय को अपने में डुबो देती है। भोग-बिलास से परिपूर्ण कृत्रिम जीवन से कोसों दूर रहने वाले नागार्जुन को पद्म-पाद नहीं दिखाई देते हैं, वरन् श्रमशील मजदूर के "खुरदुरे पैर" का सौन्दर्य दिखाई देता है- जो उनकी आँखों में सदा-सदा के लिए धँस जाता है-- "देर तक टकराये/उस दिन इन आँखों से वे पैर/ भूल नहीं पाऊँगा फटी बिवाइयाँ/खुब गयी दुधिया निगाहों में/धँस गयी कुसुम-कोमल मन में ।"[1]

जिस कवि को "नाकहीन मुखड़ा प्रिय है"[2] वह 'जयति नखरंजनी'[3] से कैसे प्रेम कर सकेगा। नागार्जुन की कविता केवल वर्णन मात्र नहीं है, वरन् उनका अपना भोगा हुआ जीवन कविता के प्रत्येक शब्दों में अभिव्यक्त होता है। उनके मन, वाणी और कर्म में एकरूपता है। वे उनसे प्रेम करते हैं, जिनसे सामन्तवादी पूँजीवाद घृणा करता है। कुछ आलोचक नागार्जुन को राजनीतिक कवि कहते हैं। यह सच है कि उनकी कविता में राजनीति पर चर्चा बहुत है, लेकिन उनकी कविता राजनीति नहीं करती, वरन् राजनीति के कुकृत्यों का पर्दाफास करती है। नागार्जुन जैसा कवि ही कांग्रेसी सत्ताधारियों की पूँजीपतियों से साठ-गाँठ की जमकर आलोचना कर सकता है। स्वतन्त्रता से पूर्व की सामन्तवादी व्यवस्था कांग्रेसी शासन से तो ठीक ही थी क्योंकि उसका चरित्र इतना दोहरेपन या दिखावटीपन से भरा हुआ नहीं था, जितना की स्वतन्त्र भारत की प्रजातान्त्रिक व्यवस्था के तथाकथित कर्णधारों का, जो गरीबों-दलितों के कल्याण के नाम पर उनका ही शोषण करते रहते हैं । तभी तो "महल आबाद होते जा रहे हैं और झोपड़ी उजाड़।"[4]

नागार्जुन की कविता "सिके हुए भुट्टे" श्रमिक के प्रति उनके अगाध प्रेम को व्यक्त करती है। जेल के पिछवाड़े कैदी द्वारा उगाये गये भुट्टे को खाकर अत्यन्त प्रसन्न होने वाला कवि दूसरों के लिए श्रम करने वालों के प्रति अपना हार्दिक स्नेह दर्शाता है।[5] कुली-मजदूर के साथ ट्राम में बैठने वाले- (आकर ट्राम के अन्दर पिछले डब्बे में/बैठ गये इधर-उधर तुम से सटकर)[6]- नागार्जुन दलितों-शोषितों के हित के लिए ही अपनी लेखनी से आग बरसाते रहे हैं। नागार्जुन जैसा यात्री ही देख सकता है कि दूसरों का पेट भरने वाला दीन-दलित शोषितजन सदैव खाली प्लेट, खाली हाथ और खाली पेट के साथ जीता रहता है।[7] करमी की पत्तियों को खाकर जीने वालों (क्योंकि करमी की पत्तियाँ अभी कुछ शेष थी),[8] आम की गुठलियों को खाकर जीने वालों- (आमों की गुठलियाँ चूरकर/भट्टी की सोंधी मिट्टी में उस चूरन को सान सूनकर/खा लेते हैं लोग पेड़ों की छाल का तीमन

बनता है)[9] भूख की भट्ठी में जलने वालों--(भूख, प्यास, ठिठुरन, तिरस्कार, ग्लानि, दुर्वचन, पिटाई, और प्रवंचन/इस प्रकार गला था तुम्हारा बचपन)[10] से अगाध प्रेम करने वाले नागार्जुन जन सामान्य, जो घिसी-पिटी हुई झुलसी दूब है- के जीवन में हरियाली देखना चाहते हैं।[11] उन्हें प्रतीक्षा है उस मुक्ति पर्व की जो दलितों के जीवन में दीवाली व उनके ललाट की लाली लेकर आयेगा- "इनका मुक्ति पर्व कब होगा/कब होगी इनकी दीवाली ? चमकेगी इनके ललाट पर कब ताजे कुंकुम की लाली ?"[12]

नागार्जुन खेत-मजदूर, भूमिदास, खदान-श्रमिक, फैक्ट्री-वर्कर-नौजवान, कैम्पस के छात्र आदि को अपना चुम्बन देने के लिए तैयार रहते हैं।[13] क्योंकि ये ही लोग क्रान्ति के द्वारा जन सामान्य की पीड़ा को दूर करने में सक्षम हो सकते हैं।

गंगा की छिछली धारा में यात्रियों के द्वारा फेंके गये पैसों को ढूढ़ते हुए वरूण के बेटों[14] (मल्लाहों के बच्चों) की इच्छाओं को मूर्त रूप देने वाले नागार्जुन 'देखना ओ गंगा मैया' और 'नयी पौध' कविताओं में अभावों में पलते हुए बच्चों (नयी पौध) का अत्यन्त मार्मिक चित्र खींच कर हृदय को मथ डालते हैं।[15]

नागार्जुन पूँजीवादी-व्यवस्था के उद्दाम शत्रु कवि है। उनके अनुसार पूँजीवाद समाज का शोषण कर जन-सामान्य को असहाय और भूखा रहने पर विवश करता है। सत्ता के थूक को न चाटने वाले जन कवि (जन कवि हूँ क्यो चाटूँगा मैं थूक तुम्हारी)[16] नागार्जुन 'छोटी मछली शहीद हो गयी' के माध्यम से पूँजीपति के क्रूर क्रिया-कलापों का वर्णन कर (ऊँघती आवाज आई मोती सिंह की/आग होती तो मकबुलवा/अभी इस वक्त इसको भून के खा जाता)[17] छोटी मछली की भाँति शहीद होते पीड़ितों का संवेदना पूर्ण चित्रोकन करते हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था में आम-आदमी की यह दशा शर्मनाक है। पूँजीपतियों ने लोकतन्त्र का होम कर दिया है।[18] अगर ऐसी बात न होती तो न 'गेहुँअन का पोआ' (साँप का बच्चा-पूँजीपति का जहरीला बेटा) मुँह से धुंआ निकालते हुए गंगा

के किनारे उमंग का कुऑ खोदता[19] और न खादी मलमल से साठ-गाँठ करती ।[20] नागार्जुन स्पष्ट शब्दों में कहते हैं।

"रामराज में अब की रावण नंगा होकर नाचा है।

सूरत सकल वही है भैय्या, बदला केवल ढॉचा है।

गाँधी जी की कसमें खा-खा, कौन किसे ठग सकता है

ठण्डा चूल्हा फूटी हाड़ी, नहीं कहीं कुछ पकता है ।"[21]

भारत का जनतन्त्र केवल मुखौटा मात्र है । इस शासन व्यवस्था में गरीबों का शोषण और धनपतियों का पोषण होता है-"मुण्डमाल के लिए गरीबों पर निगाह है/ धनपतियों के लिए दया की खुली राह है/धन-पिचाश का लहू नहीं अच्छा लगता है/ हमको क्या हम (दलित दीन) तो यों पिसते आये हैं/माटी कल के पुर्जे है घिसते आये है/ धनपतियों की खुशियों में खुश तुम भी रहना ।"[22]

जनता के राम बने शासक के शासन में सब कुछ विपरीत है। इस कलयुगी राम को न शबरी याद आती है न इसके बेर के स्वाद अच्छे लगते हैं ("शबरी न याद रही, भूले स्वाद बेर के")।[23] इनके शासन में पूँजीपति साहूकार विभीषण की भाँति लंकापति बन बैठा है, कुबेर (पूँजीपतियों) के बेटों को अभयदान प्राप्त है (बन गया साहूकार लंकापति विभिषण/पा गये अभयदान शाबर कुबेर के) ।"[24]

भारत का जनतन्त्र बिट्रेन की (साम्राज्ञी) रानी की पालकी ढोये- यह नागार्जुन को सह्य नहीं है। उनकी सेवा के लिए गरीब जनता के रक्त को चूसने वाले धन-कुबेर उत्सुक होंगे ही (दांए-बांए खड़े हजारों आफिसरों से प्यार लो/धन कुबेर उत्सुक दिखेंगे, उनसे जरा दुलार लो)।[25]

तथाकथित प्रजातान्त्रिक पूँजीपति "टके की मुस्कान पर करोड़ों का खर्चा"[26] बड़े शान-शौकत से करते हैं। वे चुटकियों में लाखों का प्लान बनाते हैं।[27] प्रजातन्त्रिक देश की

कैसी विडम्बना है कि एक ही स्थान पर बाहर कुछ लोग जूठन चाट रहे हैं और भीतर लक्ष्मी के पुत्र चहकते हुए रसगुल्ले उड़ा रहे हैं।[28] यह है भारतीय लोकतन्त्र की विषम तस्वीर, जहाँ 'जनता का सेवक' कहा जाने वाला नेता दिखाने के लिए तो उजली खादी धारण करता है, पर अन्दर से विकट कसाई है।[29] देशी पूँजीवाद जब विदेशी सामन्ती तत्वों से समझौता कर लेता है तब सामन्ती तत्वों का क्रूर जाल देशी पूँजीवाद को फाँस लेता है, और उसके कसते हुए जाल में देश छटपटाने लगता है, पर उससे मुक्ति सम्भव नहीं है। सम्भवतः नागार्जुन की दूर-दृष्टि ने आज के बढ़ते हुए पूँजीवाद के विकराल रूप को देख लिया था, तभी तो वे कहते हैं--"गंगा यमुना के कछार में/आ आकर अण्डे देगी अब/दुनिया भर की जोंके/"[30] ये जोकें बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हैं, जो चारो तरफ से देश के दीन-जनों के तरल रक्त को बड़े चाव से बिना रोक-टोक के पी रही हैं। इसीलिए पूँजीवादी व्यवस्था के तलुओं की लाली बढ़ती जा रही है--("पीकर लाखों का लहू चमकने वाली/ मैं धन-कुबेर के तलुओं की हूं लाली)"[31]

नागार्जुन की दृष्टि में सरकारी नीतियाँ मात्र दिखावा है। "यह बदरंग पहाड़ी गुफा सरीखा" शीर्षक वाली कविता में इन्होंने इन्दिरा गाँधी और भारतीय राजनीति पर तीखा प्रहार किया है।[32] अशोक के सिंहों पर उल्लुओं की जमात, क्रान्ति कुमारी के चीर-हरण तथा नब्बे प्रतिशत लोगों के तकदीर-हरण को देखने वाले नागार्जुन का विश्वास है कि अन्न[33] ब्रह्म की माया एक नूतन क्रान्ति कर नूतन विधान बनायेगी, नूतन यन्त्र रचेगी, नयी-नयी ऋचाओं को जन्म देगी, नया-नया मंत्र रचकर चिन्तन को नवीन रूप प्रदान करेगी तथा युग की असह्य पीड़ा को दूर करेगी।[34] पूँजीवादी शासन को चुनौती देते हुए नागार्जुन कहते हैं कि तुम्हारे क्रूर शासन से भले ही दलितों के चूल्हे रोते रहे किन्तु वे नदियाँ (दीन जनता) जिनके पानी (प्रतिष्ठा) में शासन आग लगता रहता है एक न एक दिन अवश्य बदला लेंगी--"हाँ पानी में आग लगाओ/नदियाँ बदला ले ही लेगीं।"[35]

नागार्जुन साम्प्रदायिकता, जातिवाद, रूढ़ि और अन्धविश्वासों का निरन्तर विरोध करते रहे हैं। इनकी दृष्टि में छुआछूत, रूढ़ियाँ, अन्धविश्वास आदि सामाजिक बुराइयाँ दीन-दलितों की प्रगति में बाधक है।[36] 'तेरी खोपड़ी के अन्दर' शीर्षक कविता में नागार्जुन कलीमुद्दीन- जो पेट की आग बुझाने के लिए प्रेम-प्रकाश बनकर रूद्राक्ष माला धारण कर रिक्सा चलाता है- से बेहद प्यार करते हैं । वे उसके घर जाकर चाय पीना चाहते हैं-- (मुझे उस नाले के करीब/ले चलना कभी/उस नाले के करीब/जहाँ कल्लू का कुनबा रहता है/मैं उसकी बूढ़ी दादी के पास/बीमार अब्बा जान के पास/बैठ कर चाय पी आऊँगा कभी/कल्लू के नन्हें मुन्ने/मेरी दाढ़ी के बाल/सहलाएँगे.....और/...)। लेकिन कट्टर हिन्दूवाद की आवाज इस एकता को विनष्ट करना चाहती है तभी तो वे कहते हैं-"कल्लू तेरा नाना लगता है न/खबरदार साले/तुमसे किसने कहा था/मेरठ आने को।[37]

नागार्जुन पतित बुद्धिजीवी जमात से घृणा करते हुए उसे आग में जलाकर नष्ट कर देना चाहते हैं।[38] गरीब किसान, मजदूर और हरिजन के उद्धार[39] के लिए सतत प्रयत्नशील नागार्जुन शोषकों को चुनौती देते हूए कहते हैं- "मशीनों पर और श्रम पर उपज के सब साधनों पर/ सर्वहारा स्वयं अपना करेगा अधिकार स्थापित / दूहकर प्रांत जोंकों को मिटा देगा धरा की प्यास/करेगा आरम्भ अपना स्वयं ही इतिहास "।[40]

नागार्जुन को पूर्ण विश्वास है कि घिसी-पिटी झुलसी हुई दूबों (दलित मजदूर किसान और श्रमिकों) में एक दिन अवश्य हरियाली आयेगी ।[41]

अछूतों के दास-जीवन से दुःखी रहने वाले नागार्जुन नहीं चाहते हैं कि उन्हें पशुओं की भाँति उच्छिष्ट भोजन दिया जाय और बेचा जाय- "रहोगे क्या तुम सदा गुलाम? हमेशा खाओगे उच्छिष्ट?/बेचते रहेंगें पशु की भाँति/अरे कब तक तुमको ये लोग।"[42]

नागार्जुन की कविता 'हरिजन गाथा' अछूतों पर किये जाने वाले अत्याचार का

जीवन्त उदाहरण है। तेरह हरिजन सुसज्जित चिता में जिन्दा ही झोंक दिये जाते हैं । यह देख उनका हृदय कराह उठता है। पीड़ा व आक्रोश का मिला-जुला रूप व्यक्त करने वाली यह कविता लोक-पीड़ा के विविध रूप का संवेदनामय चित्रण करती है।[43]

नागार्जुन ने धर्म के बाह्य आडम्बर को भलिभाँति देखा है। धर्माचार के अन्तस्तल में पापाचार का नग्न-तांडव उनमें वितृष्णा पैदा करता है। मन्दिर, मस्जिद, मठ आदि को दुराचार के बाधाहीन स्थान बनते देख कवि कह उठता है- "चिदानन्द की रोचक मदिरा बाँट रहे हो/खूब रचा है चक्रव्यूह अध्यात्मवाद का । नियति नदी के गुह्य कवच से तुम्हारे चेला-चाटी। शान्ति पाठ करते फिरते हैं/खोल रहा है वाह बुद्धि-हत्या का बढ़िया केन्द्र।"[44] धर्म के ठेकेदार जो अपने को पूर्ण भगवान मानते हैं, नित्य पापाचार को करते रहते हैं, परन्तु समाज इनके कुकृत्यों की माया में फँसा हुआ इनकी पूजा करता है। नागार्जुन ऐसे धर्म के ठेकेदारों पर कटु व्यंग्य करते हैं।[45] 'चौराहे के उस नुक्कड़ पर' शीर्षक कविता ढोगी और ठग साधुओं जो काँटो पर सोकर लोगों से धर्म के नाम पर धन ऐंठता रहता है के गिरगिटीय चरित्र को अभिव्यक्त करती है । (श्रद्धा का तिकड़म से नाता / जय हे भिक्षुक जय हे दाता/पियो सन्त हुगली का पानी/पैसा सच है दुनिया फानी)।[46] 'कल्पना के पुत्र हे भगवान' शीर्षक कविता में कवि ने उन ढोंगियों और धर्म के ठेकेदारों, जो कल्पना के भगवान की सर्जना कर निरन्तर समाज को अन्धकार की ओर ले जाते हैं और उनकी भावनाओं को कुंठित कर उनको ठगते रहते हैं- पर अच्छा व्यंग्य किया है। वे कहते हैं कि हे भगवान! युगों से तुम्हारी उपासना हो रही है किन्तु आज तक तुम पिघले नही- "शंख करता आ रहा था युगों से आक्रान्द। तुम न पिघले पड़ गयी आवाज उसकी मन्द/... अंधेरे में रहे लोग टटोल/ठोस हो या पोल ।"[47]

नागार्जुन ने कबीर की भाँति सत्य का साक्षात्कार किया है। इसीलिए इनकी कविता 'हाथ में लुकाठी लिए हुए' आगे बढ़ती रहती है। समता और समरसता का मात्र उपदेश

देने वाले साधु जनों के मन में भेदभाव बना रहता है। वे धनी व्यक्ति का ही आतिथ्य ग्रहण करने में गौरवान्वित होते हैं। ऐसे दिखावटी समतावाहक सन्तों को कवि धिक्कारते हुए कहता है- "हाय-हाय! साधुजन रखते हैं भेदभाव/सवर्ण अवर्ण में/नर-नारी में/प्रभु और दास में/धिक-धिक ... शान्ति और समता के वाहक कहलाते हैं।"[48]

वस्तुतः नागार्जुन दीन-दलितों के हृदय में प्रविष्ट हैं। इसलिए उनकी कविताओं में उनकी पीड़ा मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती है। भूख को सबसे बड़ा धर्म और सबसे बड़ा देवता मानने वाले[49] नागार्जुन परम्पराओं और रूढ़ियों के खोखले मापदण्डों को तोड़कर नूतन समाज की सर्जना करना चाहते हैं। इसीलिए वे "कल्पना के पुत्र हे भगवान" कविता में कहते हैं-"खोलकर बन्धन मिटाकर नियति के आलेख/लिया मैंने मुक्ति पथ को देख,/नदी कर ली पार, उसके बाद/नाव को लेता चलूँ क्यों पीठ पर मैं लाद।"[50]

नागार्जुन भाग्य को पूँजीवादी-व्यवस्था का ब्रह्मास्त्र मानकर उसे खण्ड-खण्ड कर देना चाहते हैं। 'लाल भवानी'[51] के माध्यम से क्रान्ति के 'अग्निबीज' बोने वाला कवि नागार्जुन 'आज मैं बीज हूँ'[52] के माध्यम से निर्भय होकर शोषण की बुनियादों को खोदने के लिए फिरकाबन्दी, जातिवाद के भूत को झाड़ने[53] के लिए तथा निविड़ विषमता को मिटाने के लिए नवयुवकों के हाथ में क्रान्ति की मशाल को अर्पित करते हैं- "लो मशाल अब घर-घर को आलोकित कर दो/तुम किशोर तुम तरूण ...।" तरूणाई को वे हथियार सौंपते हैं, जो मँहगााई आदि बुराइयों के टैंक को नष्ट कर दे ("क्षुधा-अशिक्षा-रोग-रूढ़ि का पल्टन का जो कर डालें संहार/माँग रही तरूणाई वो हथियार")[54] वे क्रान्ति द्वारा नये समाज की सर्जना करने वालों को अपना चुम्बन समर्पित करते हैं।[55]

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चेतना को नया रूप देने वाले नागार्जुन की कविता प्राकृतिक-सौन्दर्य के माध्यम से जन-सामान्य की संवेदनाओं को बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त करती है। यद्यपि इनके प्राकृतिक-सौन्दर्य में एक अद्भुत बाह्य-रूप देखने को

मिलता है किन्तु उसकी आन्तरिक संवेदना जीवन की उस सच्चाई को द्योतित करती है, जिसे साधारण कवि सोच भी नहीं सकता है। नागार्जुन की कविता के पर्वत, नदी, विटप, धूप, चाँदनी, सूरज, खेत-खलिहान आदि प्राकृतिक रूप जीवन की विषम जटिलताओं को व्यञ्जित करते हैं। "बसन्त की अगवानी" कविता बसन्त के सौन्दर्य को बताती हुई (रंग बिरंगी-खिली-अधखिली/किसिम-किसिम की गन्धों वाली ये मंजरियाँ/तरूण आम की डाल-डाल टहनी-टहनी पर/झूम रही/चूम रही-कुसुमाकर को)- यह अभिव्यक्त करती है कि जब क्रान्ति के द्वारा नया परिवर्तन होगा तब मञ्जरिया (दीन-दलित जनों की सांसे) कुसुमाकर (जीवन के सुख) को चूम कर झूम उठेगी।[56] पकड़ी का विटप (दलित-शोषित जन) हरे-हरे पत्रों (सुख प्राप्ति की प्रसन्नता) से अपने को छिपा लेता है। उसके नंगे बदन पर सुन्दर हरित वसन सुशोभित होने लगता है ।[57]

नागार्जुन की 'पीपल के पीले पत्ते' कविता पूँजीवादी-व्यवस्था की प्रतीक है। इसीलिए उसके पतन को अपनी आँखों से देखकर वे प्रसन्न होते हैं- "आज गिरो कल गिरो कि परसों/तुम को तो अब गिरना ही है ।" इन पत्तों के गिरने पर उसमें निकलने वाले लाल-लाल लहलहाते पत्ते उन्हें सुन्दर लगते हैं। नागार्जुन के ये लाल-लाल पत्ते क्रान्ति के अङ्गारे हैं, जब इनका प्रादुर्भाव होता है तब रात भी सुनहली हो जाती है। चाँद की किरणे भी इनका अभिषेक करने लगती हैं।[58] इन पत्तों पर फिसलती हुई चाँदनी नालियों के भीगे हुए पेट (दीन-जनों) पर, बोतल के टुकड़ों पर (उपेक्षित जनों पर) आँगन और दूबों पर नृत्य करती रहती हैं।[59] इसलिए कवि पीपल के पीले पत्ते (पूँजीवाद) से कहता है कि इन नये पत्तों (दीन, उपेक्षित-दलितों) को बढ़ने का वरदान दो। तुम राह रोककर खड़े मत होओ ।[60]

'नंगे तरू है नंगी डालें' कविता प्राकृतिक वर्णन के माध्यम से दीन-दलित और शोषित जनों की व्यथा को अभिव्यक्त करती है। 'पतझर' पूँजीवादी व्यवस्था का क्रूर प्रहार

है जो उसे नंगा रहने को मजबूर कर देता है। इसलिए कवि कहता है – ''अब भी तो पतझर थक जाये/इनका नंगापन ढँक जाए/हरियाली इन पर झुक जाये/नग्न-नृत्य अब भी रूक जाये।''[61]

'बादल को घिरते देखा है' शीर्षक कविता अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। कवि ने बादल के सुन्दर रूप को बड़ी कुशलता से वर्णित किया है :-

''मैंने तो भीषण जोड़ों में/नभचुम्बी कैलाश शीर्ष पर/महादेव के झंझानिल से/ गरज-गरज भिड़ते देखा है।''[62]

कवि का बादल भीषण जाड़ा, गगन-चुम्बी कैलाश-शिखर आदि की परवाह किये बिना ही झंझानिल से गरज-गरज कर भिड़ रहा है। इनका बादल क्रान्तिकारी है। इसलिए मानसरोवर के स्वर्णिम कमलों (पूँजीवादी व्यवस्था के ऐश्वर्य) पर बिना रोक-टोक के उनको ध्वस्त करने के लिए उन पर गिरता रहता है। कवि यह सम्भावना व्यक्त करता है कि पूँजीवाद (ऐश्वर्य) की प्रतिरूप अलकापुरी और कुबेर आदि के गगन चुम्बी प्रसाद इसी बादल के बरसने से ध्वस्त हो गये हैं – ''कहाँ गया धनपति कुबेर वह/कहाँ गयी उसकी वह अलका .... कौन बताए वह छायामय/बरस पड़ा होगा न यहीं पर ....।[63]

नागार्जुन के बादल के पौरूष में शैत्य भाव अन्तर्निहित है शैत्य मानसरोवर के कमलों (पूँजीवाद) को विनष्ट करने में सक्षम है।[64] कवि का 'हेमन्ती बादल' बरफ का गोला बरसाता है।[65] इसीलिए इसकी आगवानी में न दादुर बोलता है, न कोयलें कूंक मारती है। चातक और मोर भी मौन रहते हैं।[66] नागार्जुन जैसा कवि ही 'जय हे कीचड़' के माध्यम से जीवन के सत्य को बड़ी बारीकी से अभिव्यक्त कर सकता है- ''टाँगे गल जायेंगी/सरिता के कछार में/पंक ही पंक है/धँसना ही पड़ेगा।''[67]

'रजनी गंधा' कवि नागार्जुन के जेल-जीवन की सजनी (सखि) है। वस्तुतः 'रजनीगंधा' दुःखी जीवन को सुरभित करने वाली कविता है। कवि की दृष्टि में यह

रजनीगंधा अभिशापित देव सुता या परी है जो भू पर रजनीगंधा बनकर उतरी है। यह दिन (सुखीजनों) को देखकर मौन हो जाती है और रात्रि (दुःखीजनों) को देखकर उनके हृदय को आनन्दित करने के लिए अपने को निचोड़ डालती है। इसलिए कवि कामना करता है कि तुम रात की रानी रजनी गंधा खिलती रहो।[68] कवि की 'नीम की दो टहनियाँ' सीखचों के पार देखती रहती है कि उसे कब शिशिर की दुपहरी की कपूरी धूप मिल पायेगी।[69] 'तना है बितान' कविता वर्षा के नादात्मक सौन्दर्य के साथ-साथ किसानों की प्रसन्नता को अभिव्यक्त करती है।[70] बादलों का घिराव कवि के मन को गुदगुदा देता है[71] और धरती के हृदय को धोने वाले बादल के जल से उत्पन्न होने वाला कीचड़ कवि को हरिचन्दन लगता है[72] क्योंकि इसी पंक से अमित बीज अंकुरित होकर जीवन को प्राण देते रहते हैं।

नागार्जुन की कविताओं में मिथिला का जीवन, वहाँ की मिट्टी की सोंधी-सोंधी गन्ध, वहाँ की अपनी अनूठी संस्कृति, आचार-विचार की सहज शैली, वहाँ की रीति-परम्पराएं आदि अद्भुत ढंग से पिरोयी हुई हैं। गाँव की मिट्टी से जुड़ा हुआ कवि सुबह-सुबह गाँव के तालाब के दो फेरे लगाता है, नंगे-पाँव, भीजी हुई दूबों पर चहल-कदमी करता है तथा अधसूखी पत्तियों का कौड़ा-तापते हुए आम के कच्चे पत्तों का जलता कडुआ कसैला सौरभ लेता है। इसके साथ-साथ गवँई अलाव के घेरे में बैठने और बतियाने का सुख लेता है (सुबह-सुबह/गँवई अलाव के निकट/घेरे में बैठने बतियाने का सुख लूटा/सुबह-सुबह/आंचलिक बोलियों का मिक्सचर/कानों को उनकी इन कटोरियों में भरकर लौटा)।[73] पकी सुनहली फसलों की मुसकान देखना, धान कूटती हुई किशोरियों की कोकिल कण्ठी तान सुनना, मौलसिरी के ताजे टटके फूलों की सुरभि को भरकर सूँघना, गवँई पगडण्डी की चन्दनवर्णी धूल का स्पर्श करना, जी भर गन्ना चूसना, तथा ताल-मखाना खाना,[74] लोक जीवन से जुड़े हुए नागार्जुन जैसे कवि के लिए ही

सम्भव है। इस कविता में कवि की गंध, रूप, रस, शब्द और स्पर्शात्मक संवेदनाएं अभिव्यक्त हुई। इन संवेदनाओं में ग्रामीण जन-जीवन की मार्मिक कहानी अन्तर्भूत है।

लोक जीवन में भाभी-देवर के बीच होने वाले हास-परिहास का चित्रण नागार्जुन ने बड़ी कुशलता से किया है। पुजारिन भाभी अपने देवर से कहती हैं कि तुम्हें छिनाल पुरवइया छेड़ती रहेगी। इकलौती बिटिया वाले बाप की भाँति बादल तुम पर झुका रहेगा।[75] प्रगतिशील कवि नागार्जुन लोक-परम्पराओं से मुक्त नहीं हो पाते हैं। अपनी पत्नी से दूर रहने पर सदैव उनका 'सिन्दूर तिलकित भाल' याद आता रहता है।[76] भारतीय पतिव्रता नारी के इस रूप को चित्रित करने में कवि अत्यन्त सफल रहे हैं। राम के माध्यम से कवि एक पत्नी-व्रत का आदर्श स्थापित करते हुए कहते हैं-

"नहीं करेगा वह दूसरा विवाह/सदा रहेगा एक पत्नीव्रत शील/चरणों पर जो नाना दिग्देशीय/अर्पित होंगे शत- शत सुन्दर फूल/अनाघ्रात अस्पष्ट सहज कमनीय/नहीं करेगा राघव उनका स्पर्श।"[77]

नागार्जुन ने एक ओर भारतीय परम्परा के उदात्त-रूपों गुरू-भक्ति, पुत्रोचित परिचर्या, पति-सुलभ प्रीति, मातृ-ममता आदि आदर्शो को उपस्थित कर उनमें अपनी आस्था व्यक्त की है-

"प्रतीक्षातुर नयनों के स्निग्ध-तरल प्रक्षेपण/शिष्योचित श्रद्धा-भक्ति/पुत्रोचित परिचर्या/पति सुलभ प्रीति/मातृ सुलभ ममता/पितृ सुलभ परिपोषण/चाहती आयी है सदा से धरती।"[78] (धरती)- वहीं दूसरी ओर 'जयति नखरंजिनी', 'विज्ञान-सुन्दरी', 'प्लीज एक्सक्यूज मी' आदि के माध्यम से पश्चिमी सभ्यता का उपहास किया है। "छींक मार कर करो न असगुन" को स्वीकार करने वाले नागार्जुन के मन में कहीं न कहीं कर्म-फल-भोग की बात छिपी है तभी वे कहते हैं- मैं मिथिला को प्रणाम करके सुप्त सृष्टि को जगाने के लिए अन्यत्र जा रहा हूँ। मेरे वृद्ध पिता अपने कर्म-फल को भोगें--

"कर्मक फल भोगनु बूढ़ बाप,

हमरा संतति, हे हुनक पाप"।[79] (अन्तिम प्रणाम)

नागार्जुन वस्तुतः यात्री कवि हैं। किसी एक विचारधारा में उन्होंने अपने को बाँधना नहीं चाहा। अपने विवेक को कभी बन्दी नहीं बनाया, अपनी प्रतिभा को कभी किसी मूल्य पर बेचा नहीं। वे एक ओर पतन की ओर ले जाने वाली धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करते रहे, तो दूसरी ओर परम्पराओं की अच्छाइयों के स्वीकार करने में संकोच का परित्याग करते रहे।[80] भारतीयों की माता लक्ष्मी की निन्दा करने वाले[81] नागार्जुन की भिक्षुणी हीनयान-महायान के बंधनों से मुक्ति प्राप्त कर सहजयान (मातृत्व-सुख) चाहती है। मानवीय आकांक्षाओं की लहलहाती लताओं पर करकापात करने वाले संघ के नियमों को तोड़कर वह सहज मानवीय जीवन जीना चाहती है ।[82]

वस्तुतः नागार्जुन मानवतावादी चिंतन के स्वनामधन्य कवि हैं। इनकी दृष्टि व्यापक है। इनके मन में दीन-दुःखी दलित शोषित मजदूरों के प्रति असह्य पीड़ा है।[83] इनकी कविता इसी वेदना के हृदय से प्रस्फुटित हुई है। इनकी 'गुलाबी चूड़ियों' का वात्सल्य 'सिन्दूर तिलकित भाल' की रति की परिणति का फल है। अग्निबीज से उत्पन्न होने वाले तथा 'नंगे तरू नंगी डालों' के समान जीवन व्यतीत करने वाले, 'खुरदरे पैरों' से प्रेम करने नागार्जुन सच्चे अर्थों में लोक जीवन में रमे हुए कवि हैं ।

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में लोक-संवेदना-

साठ वर्ष की अवस्था में "गाँव अब भी मुझे बुलाता है। रेडियो की तरह बज उठता हूँ मैं/उसकी पुकार पर/लेकिन जा नहीं पाता/पेट में कैद हूँ"[1] -- की उद्घोषणा करने वाले कवि केदारनाथ अग्रवाल गाँव की मिट्टी में जन्म लेकर उसी की मैली, सोंधी, रूखी और दुलारभरी सुगन्ध में पल-पोषकर बड़े हुए हैं। शहर में वकालत के पेशे से जुड़े[2] केदारनाथ ने दुःख की नदी में आकण्ठ डूबकर, दुःख को पीते हुए आदमी के लिए

आदमी की तरह, आदमी के साथ जीना सीखा है।[3] जीवन-पर्यन्त देवदार की भाँति चरित्र पर खड़े हुए दुःखों को झेलकर भी आदमी को ढूढ़ते रहे।[4] स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद उन्हें आशा थी कि हमारी शासन व्यवस्था शोषकों के सिंहासन को डिगाकर[5] आम जनता के अनादिकालीन दुःखों को दूर करेगी। स्वतन्त्र भारत में शोषण का अन्त हो जाने से आम आदमी, जिनका जीवन पशु से भी हेय है,[6] आदमी की भाँति स्वतंत्रता की साँस लेगे। किन्तु थैलीशाहों (पूंजी पतियों या शासकों) की बिल्ली (नौकरशाही) मजदूरों का खाना-दाना सब चोरी से खाती रही है। बेचारे मजदूर भूखे ही सोते रहे हैं। इतना ही नहीं, पूंजीवादी शासन के कुत्ते (तथाकथित सेवक या गुण्डे) मजदूरों की बोटी-बोटी को खून बहाकर खाते रहे हैं और वह (मजदूर) तड़पता रहा है। उसकी आह को केदारनाथ के अतिरिक्त कौन सुनने और देखने वाला है।[7] शोषक के शोषण से देश की छाती को दरकते हुए देखने वाले कवि ने देश के खाद्य-मन्त्री को भुखमरी को जन्म देने के लिए शूल बोते हुए देखा है। इतना ही नहीं, क्रान्तिकारी लेखनी को जेल जाते हुए[8] देखकर शोषकों को ललकारते हुए कहा है- "झूठ तुम्हारा चल न सकेगा/...सत्य हमारा वह सूरज है/ जो दिल से बाहर निकलेगा/ तेज उजाले (क्रान्ति) की ठोकर से झूठ तुम्हारा ढह बिखरेगा/ जनता के पैरों के नीचे/ वह जल्दी ही राख बनेगा/ फौजी वर्दी त्यागे रिजवे/रोता अपने हाथ मलेगा।"[9]

केदारनाथ अग्रवाल को दृढ़ विश्वास है- "जहँ लग नेताराज है/तहँ लग बंटाधार/ पूंजीपति की गोद में खेल रही सरकार।"[10] अंग्रेजों की खून भरी दरी को बिछाकर छतरी ताने हुए नेता (आज के शासक) पसरकर बैठे हुए हैं। ये नेता कवि के शब्दों में निम्नलिखित यथार्थ को उपस्थित करते हैं- "बेकारी दिनरात बढ़ावे/पेटों पर जो गाज गिरावे/खेतों पर जो टैक्स लगावें/ ....ऐसे बगुला को धिक्कार।"[11]

वस्तुतः केदारनाथ जैसा संवेदनशील कवि पूंजीवादी व्यवस्था से अत्यन्त दुःखी है।

उनके मन में शोषित जनों के प्रति असीम प्यार है। 'पुतलीघर' शीर्षक कविता ने श्रमिकों के उस फटे-हाल शोषित जीवन को अभिव्यक्त किया है जिसने सबको जीवन का सर्वस्व दान देकर भी नौकर की भाँति अपने जीवन को सँजो रखा है। ऐसे ही श्रमिकों के प्रति इनकी वेदना शोषकों को ललकारते हुए कहती है कि एक हथौड़ा वाला (क्रान्ति करने वाला) का जन्म और हो गया, वह हाथी से बलवान और सूरज सा इंसान है, जो अंधेरे को हरने में सक्षम है। उसी से सबेरा होगा और वही कुशासन पर कयामत ढाह कर आम-जनता का कल्याण करने वाला है।[12] कवि का यह आक्रोश उनकी संवेदनशीलता को द्योतित करता है।

जिन किसानों और अपने रक्त की एक-एक बूँद से भारत का निर्माण करने वाले श्रमिकों की छाती पर बैठकर पूँजीवादी व्यवस्था के पोषक, आज के शासक डायर की वर्दी पहनकर हिंसा का नग्न ताण्डव कर रहे हैं, अंग्रजी पिस्तौल चलाकर रक्त की नदी बहा रहे हैं, जिनकी ताना-शाही गोद में गंगा-यमुना की धाराएं तड़प रही हैं,[13] जिनका- स्वधर्म हो गया है "वतन को बेचना/ऊपर की आमदनी का पैसा खाना/ज्यादा से ज्यादा नाजायज कमाना/तरह और तरतीब से पकड़ में न आना,"[14] जिनका कानून अंधा है, जो उसकी शरण में जाता है उसी पर वह अत्याचार करता है- ऐसे अत्याचारियों की खाल उधेड़ने वाले केदारनाथ श्रमिकों को बन्धन मुक्त करने के लिए चेतना और नूतन प्रेरणा देने में गौरव की अनुभूति करते हैं। वे किसानों की जिन्दगी, उनका खून, उनका कर्म बनकर उन्हें नये जीवन को जीने के लिए उत्साहित करते हैं।[15] उनके जैसा सजग कवि ही जानता है कि- "पूँजीवादी जनतन्त्र के/व्यापक प्रचार और प्रसार में/सामाजिक न्याय पाने की/पूरी प्रक्रिया जटिल है। आम-आदमी के लिए तो यह और भी/और भी/क्रूर और कुटिल है।"[16] अतः पूँजीवादी व्यवस्था के पोषक शासकों की रामराज्य लाने की प्रतिज्ञा झूठी है। जिस शासन में गरीबों की चमड़ी से बनी हुई अमीरों की ढोल अनवरत

बजती रहती है और शोषित-पीड़ित जनों की थाली अन्न के बिना सूनी हैं, उसके हाथ की सूखी रोटी भी छीन ली जा रही है,[17] वहाँ 'रामराज्य' की चर्चा भी छलावा है।

जिस शासन-व्यवस्था में गरीबों का कौर छीना जा रहा हो, उसमें गरीबों को न्यायाधीशों से पैसे पर बिकने वाला न्याय कैसे मिल सकता है? न्याय का हंस जैसा नीर-क्षीर विवेकत्व नष्ट हो चुका है। पूँजीवादी-व्यवस्था सच को झूठ और झूठ को सच बनाने में माहिर है।[18] इसीलिए प्रधानमंत्री के जन्मदिन के अवसर पर चौबीस हरिजनों की हत्या हो जाना साधारण सी घटना है। जनतंत्र की जनता की आँखों से भले ही अश्रु की अजस्र धारा बह रही हो,[19] भले ही देश की देह रक्त रञ्जित हो रही हो, भले ही प्राणहर आदमियों के वेश में जानलेवा जानवर छुट्टा घूम रहे हों और अपने मार-तन्त्र से सिपाही जनता को भले ही मिटा रही हो,[20] किन्तु- "रोशनी में नहाए/लिबास में लपलपाये/हजारों की सम्पत्ति हथियाये/ठहरे आदमी/ यथावत् ठहरे हैं-- इनकी महामाया के बड़े मारू नखरे हैं"।[21] इस देश की यथास्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हो रहा है। और ये शोषक नेता चाँदी सोने के जूते में खीर पका रहे है।[22]

केदारनाथ ने १६४८ में ही जिस अमेरिकी साम्राज्यवाद के खतरे के प्रति भारतीय जनता को सावधान किया था- "यहाँ हमारी जन्मभूमि पर यदि आयेगा डालर/...वह अपने साम्राज्यवाद के घोर नशे में/भारतीय पूँजीपतियों से साठ-गॉठ कर/क्रय दिल्ली की राजनीति को कर लेगा"[23]-- वह आज ऑखों के सामने अपना नग्न नृत्य कर रहा है। उन्हें विश्वास है कि वियतनाम की भाँति ही डालर की हत्या कर दी जायेगी।[24] सन् १६५५ ई० की लिखी हुई कविता आज की शासन व्यवस्था का सही चित्र प्रस्तुत करती हुई- ऊपर काला भीतर काला/सरकारी शासन का पाला/काले हाथी सा मतवाला/करता है यह खूब घोटाला"[25] उसे समूल नष्ट करने के लिए बजते हुए क्रान्ति के बिगुल के स्वर को अति प्रसन्न मुद्रा में सुनती है।[26]

केदारनाथ ने अपने वकालत पेशा में किसानों, दलितों एवं श्रमिकों के जीवन को अत्यन्त निकट से देखा है। शहर का जीवन जीते हुए भी इनकी आत्मा गाँव की मिट्टी में ही बसती रही । इनकी आँखे उन श्रमिकों को, जो काँखते-हाँफते और मिट्टी को ढोते हुए गंदी आबादी के नाले को पाटता रहता है[27] तथा उन किसानों को–जो 'पैनी कुर्सी खेत के भीतर/दूर कलेजे तक ले जाकर/जोत डालता है मिट्टी को[28] देखकर गीली हो जाती हैं । इसीलिए वे मुक्त कण्ठ से कहते हैं कि –"यह धरती है उस किसान की/जो बैलों के कंधे पर बरसात घाम में/जुआ भाग्य का रख देता है/ खून चाटती हुई वायु में---जो मिट्टी के संग-साथ ही/तपकर/गलकर/जीकर/मरकर/खपा रहा है जीवन अपना/देख रहा है मिट्टी में सोने का सपना ---अपने तन की खाद मिला/मिट्टी को जीवित रखता है ।"[29]

दिन भर कड़ी मेहनत कर अपनी हड्डी को पीसते हुए मजदूर रोटी के लिए कुत्तों से भी वदतर जिन्दगी जीने को बाध्य है –"रोटी के टुकड़ों को दाँत से काटते/भाजते है बरतन/नंगी ही धरती पर सोते हैं/काँखते हाँफते/रोज की बदबू में सड़ते है दुनियाँ की।"[30] श्रमजीवी पूंजी के रूप में अपने बेटे को 'टूटी खटिया', 'टूटी कुटिया', 'लोहे का तसला' और 'बहुतायत चिथड़े' के अलावा कुछ भी नहीं दे पाता।[31] केदार की आँखे-जोखू के बाजी हार जाने से दुःखी है, चन्दू को चना चबैना खाते देखकर गीली है, उसके फटे वस्त्र[32] को देखकर अन्यायियों पर क्रोधाग्नि बरसाती है व दीन दुःखी का कुनबा, जो जाड़े में थर-थर काँप रहा है–को देखकर अपनी संवेदना की अग्नि से उसे गर्म करने का प्रयास करती है । वस्तुतः कवि की लेखनी उस संवेदनशीलता की गहरी अनुभूति कराती है जिसकी गोद में सम्पूर्ण दीन-दुखियों को समेट लेने की क्षमता है।

कवि यद्यपि देख रहा है कि शोषितों का दुःख दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है फिर

भी वह निराश नहीं है क्योंकि वह जानता है कि उन दीन-दुखियों तथा श्रमिक किसानों का असन्तोष जब भड़क उठेगा तब क्रान्ति-ध्वज फहरेगा।[33] उनकी दृष्टि में जनता कभी नहीं मरती है सभी राष्ट्र में शोषकों की ही मृत्यु होती है । जब शोषित जनता को अपने व देश के दर्द की पहचान हो जायेगी तब वह शेर क़ी भाँति झपट कर शोषकों के सहित उसके जंगली जनतन्त्र और आदमी को मारने का चौमुखी षडयन्त्र नष्ट कर देगा।[34] इसीलिए वे 'मार हथौड़ा कर कर चोट' की बज्रमयी लेखनी से अत्याचारी के अत्याचार को ध्वस्त करने की प्रेरणा देते हैं।[35] शोषकों के हृदय रूपी पत्थर-जिसकी न कोई आँख है, न कान है, न पानी में तैरने की क्षमता है और हाथ-पाँव से जो विरक्त हैं- पर लोहा मारने की प्रेरणा देते हैं।[36] वे क्रान्तिकारियों से हार न मानकर जीने के लिए उत्साहित करते रहते हैं-"हार न मानो/और न हारो/जीना जानो/यह जीवन की आन हमारी शान है/और हमारे भुजबीरों की प्राण है "।[37]

कवि केदार यह स्वीकार करते हैं कि साधारण जनता की दुर्दशा का कारण स्वयं जनता है जो धर्म, कुरीतियों, अंधविश्वासों और नियति के चक्रव्यूह में फँसकर उससे निकलने का प्रयास ही नहीं करती है । 'धर्म और नियति' जिसकी आँखे बनं गयी हों वह अपने सुनहले भाग्य के द्वार को अपने पौरूष से कैसे खोल सकता है । वे समाज की सड़ी गली व्यवस्थाओं, जिसका आधार एक आडम्बरपूर्ण भाग्य का छलावा है- से क्षुब्ध हैं। वे सभी को तोड़कर कर्म करने की प्रेरणा देते हैं । वे यह मानते हैं कि भगवान के ढोंगी भक्त अधिक पाप करते हैं।[38] केदार मनुष्यता के कवि हैं । उनकी अभिलाषा मात्र मनुष्य बनने की है, देवत्व प्राप्त करना उन्हें प्रिय नहीं है। उनका कवि कर्म मनुष्य बनने और मनुष्य बनाने के लिए ही है।[39] उन्हें दुःख है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद शासकों के द्वारा जनता में धर्म निरपेक्ष, जनतांत्रिक एवं वैज्ञानिक मूल्यों के विकास का प्रयास नहीं किया गया । इसीलिए उन्होंने अपनी रचनाओं में बार-बार पारलौकिक मूल्यों के स्थान

पर तर्कसंगत और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्थापित करते हुए इस लोक को और ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठित किया।[40] धर्मशाला, घाट, मन्दिर और मस्जिद आदि के निर्माण का सबसे बड़ा सत्य यह है कि ये सब श्रमजीवी की उस हड्डी पर टिके हुए हैं जिसे सभ्य-आदमी के समाज ने टेढ़ी करके मोड़ दिया है ।[41]

भूखोद्धार के मन्त्रोच्चार को सुनने वाले[42] केदारनाथ अग्रवाल प्रत्येक वर्ष होने वाली रामलीला पर प्रहार करते हुए कहते हैं- "लीला के बाद/रामलीला के राम/जंगली जनतन्त्र में/रावण का रोल अदा करते हैं/दूसरों की सम्पदा हरते हैं।"[43] इसीलिए वे धर्म के पाखण्ड पर विश्वास नहीं करते हैं । वे धर्म और कर्मफल (भाग्य) पर विश्वास न कर अपनी उस कलम पर विश्वास करते हैं, जो जनता के स्वर को गाती रहती है।[44] धर्मान्ध जनता केवल पापकारी धर्मोत्राव को देखती हुई भीड़ में अपने अस्तित्व को खोती जाती है और वह अपने हाथों से ही अपना विनाश करती है।[45] जिस जनतान्त्रिक देश में अपकर्म के द्वारा ज्यादा से ज्यादा नाजायज कमाना ही अपना धर्म हो गया हो[46] उसके मन्दिरों में देवियों के दर्शन कैसे हो सकते हैं । इनके दर्शन दुकानों और नाचगानों में होते हैं- "मंदिरों में नहीं/देवियों के दर्शन/दुकानों में होते है/नाचगाने में होते हैं ।"[47]

कवि केदारनाथ अग्रवाल जाति प्रथा के हलाहल को स्वयं पीकर निर्मल समाज की रचना करना चाहते हैं । प्राचीन काल से चली आने वाली दुर्वह सामाजिक बुराई जाति प्रथा समाज को ही नहीं वरन् देश के विकास को विनष्ट कर रही है । उन्हें केवल प्रेम था तो बस आदमी से । हरिजनों की हत्या पर दुःखी होने वाले केदारनाथ पुरातन संस्कारों की जकड़बन्दी से मुक्त समाज की स्थापना करना चाहते हैं । इसलिए वे समाज का पूर्ण बदलाव चाहते हैं- "बड़े संक्रामक हैं/साम्प्रतिक सम्बन्धों के/पुरातन संस्कार/टूटते-टूटते भी नहीं टूट पा रही/शताब्दियों की जकड़बन्दी/सम्पूर्ण बदलाव के बिना/स्थापित नहीं हो सकता सार्थक नवीन ।"[48] उन्होंने बड़ी ही बारीकी से पुनर्जन्मवाद

और जाति प्रथा पर प्रहार करते हुए कहा है कि इस देश में जिनका जन्म दो बार होता है वे द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य), एक बार जन्म लेने वाले शूद्रों जो शोषित और दलित हैं- पर अत्याचार करते रहते हैं।[49] इसलिए पुनर्जन्म व जातिवाद कोरी बकवास है । इस जातिवाद के पहाड़ को काटे बिना जनतन्त्र की सड़क उस पर (शासक तक) नहीं जा सकती और न ही अपना अधिकार प्राप्त कर सकती है ।[50]

इसी प्रकार भारतवर्ष में रहने वाले विभिन्न सम्प्रदाओं में विशेषकर हिन्दू और मुसलमान के परस्पर के विद्वेष से वे अत्यन्त खिन्न रहते हैं । उनके द्वेष की अग्नि में पेट्रोल डालने वाले आज के तथाकथित देशभक्त राजनेता हैं, जिन्हें सिंहासन ने धृतराष्ट्र बना दिया है । केदारनाथ अपनी कविता "भारत माँ का गीत" में साम्प्रदायिकता के विरूद्ध प्रभावकारी आवाज उठाते हुए भारतमाता के स्वर में कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान में मेरा ही रक्त बहता है । इसीलिए जब तुम एक दूसरे का खून करते हो, तो मेरा ही खून बहता है ।[51]

कर्मवादी केदार अंधविश्वासों पर भरोसा नहीं करते हैं । वे भगवान से वरदान प्राप्ति पर विश्वास न कर अपने बुद्धि-विवेक पर ही विश्वास करते हैं- "वर मांगत भगवान से/काम न मति से लेत--- जनता विलयै बावरी/काम न आवे राम।"[52] 'यश अपयश विधि हाथ है'- के अन्धविश्वास पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि इसी अनैतिक विश्वास ने सेठ महाजन और चोरों की वृद्धि कर दी है ।[53]

केदार की कविताएं एक ओर भ्रष्ट शासन की विद्रूपताओं पर आग उगलती हुई सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक पतन के कारणों का चित्र प्रस्तुत करती है तो दूसरी ओर ग्रामीण जीवन के उन्मुक्त वातावरण में सांस लेती हुई ग्राम्य-प्रकृति-के-सहज रूप में अपने को अन्तर्भूत करती हुई उसके विभिन्न रूपों की मार्मिक संवदनाओं के माध्यम से मानव हित के लिए-उन्मुक्त कण्ठ से गीत गाती हुई दिखाई देती है । ग्रामीण संस्कृति के

प्रत्येक रूप पर इनकी कविता कामिनी अपना सर्वस्व लुटा देती है । इनकी कविता अनार का फूल बनकर लहलहाना ही नहीं चाहती है वरन् क्रान्ति का अग्नि पुञ्ज बनकर अन्याय के शासन को ध्वस्त कर दलितों का उद्धार करना चाहती है -"मेरे भाई अनार/देता तुम्हारी तरह मैं भी/लपट मारती कविताओं के फूल/क्रान्तिकारी फूल ।"[54]

केदार का प्रकृति-वर्णन मात्र वर्णन ही नहीं है, वरन् जीवन की गुह्यतम व्याख्या है । अनादिकाल से मानव-मन प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करता हुआ उसके विभिन्न रूपों का विभिन्न प्रकार से वर्णन करता हुआ चला आ रहा है, किन्तु उसे अपने बौद्धिक मापदण्ड से नाप नहीं पाता है, क्योंकि ये प्राकृतिक उपादान- वृक्ष आदि मानव के अग्रज तथा पृथ्वी के वंशज हैं।[55] यह हाथ फल और फूल लेकर अपने अनुजों का मनुहार करते रहते हैं । पाषाण-खण्ड भी उन पर बैठी हुई चिड़ियों के द्वारा मधुर रस उड़ेलते हुए[56] पत्थर हृदयवाले मानव को सद्भाव का संदेश देते हैं । मानव के कुकृत्यों को देखकर उदास, सोयी हुई नदी के पानी के दर्पण को बादल का वस्त्र जब आच्छादित कर लेता है[57] तब केदार जैसा संवेदनशील कवि भी उसे नहीं जगा पाता है क्योंकि दुःखी व्यक्ति की पीड़ा को उद्वेलित करना अमानवीय व्यवहार है ।

कवि केदार प्राकृतिक सौन्दर्य में श्रामशील किसानों के अनुपम श्रम-सौन्दर्य का दर्शन करते हैं । उनका हरा ठिगना चना का पौधा गुलाबी फूल (क्रान्ति) का मुरैठा सिर पर बाँधे हुए सजधज कर सामाजिक परिवर्तन के लिए खड़ा है।[58] अगणित संख्या में गेहूँ का पौधा लहराता हुआ क्रान्तिकारी लाल फौज के समान नुकीले भाले ताने खड़ा होकर अजेय तथा समर्पित सामूहिक शक्ति को द्योतित कर रहा है -

"लाखों की अगणित संख्या में/ऊँचा गेहूँ डटा खड़ा है/

ताकत से मुट्ठी बाँधे है/नोकीले भाले ताने हैं

हिम्मतवाली लाल फौज सा/ मर मिटने को झूम रहा है ।"[59]

वस्तुतः केदारनाथ की दृष्टि में प्रकृति एक जीवित समाज है, जिसका अनुपम सौन्दर्य, उदात्त साहसिक रूप तथा जीवन्त पथ-प्रदर्शन मानव के लिए प्रेरणा-स्त्रोत है । केदार की लेखनी के संस्पर्श से बुन्देलखण्ड का जीवन-संगीत, केन नदी का अविस्मरणीय कूल, श्रम की पूँजी को समेटे हुए खेतों की मेंड़, लहलहाते हुए धान के हरित खेत, गरीबों की जिन्दगी के समान सपाट मैदान, शोषितों की आशाओं के समान शीघ्र ही लुढ़क जाने वाले ओस-कण, सरकारी अनुदान के तुल्य बहने वाली फागुनी हवा, किसानों के कठोर श्रम के सरिस सूर्य का जीवनदायी रूप और चहकने वाले पक्षियों, किसानों, पथिकों, श्रमिकों और गृह-विहीन के आश्रयदाता वृक्ष आदि सचमुच प्राणवान हो उठे हैं । केदार को देश की धरती से असीम प्रेम है । अवध सीमान्त की धरित्री में उनके प्राण बसते हैं तभी वे कह उठते हैं-

"मर जाऊँगा तब भी तुमसे दूर नहीं मैं हो पाऊँगा ।

मेरे देश तुम्हारी छाती की मिट्टी मैं हो जाऊँगा ।"[60]

नीरस, हृदयहीन शहर में रहते हुए भी उनका हृदय गाँव की स्नेहिल मिट्टी में लोट-पोट करने के लिए व्याकुल रहता है । क्योंकि व्यापारिक नगर से गाँव की प्रेममयी भूमि अधिक उपजाऊ है, जहाँ की धरती भीतर से आर्द्र और ऊपर से हरी साड़ियों में लिपटी सबका बिना भेद-भाव के स्वागत करती रहती है । वहाँ के वृक्ष, पक्षी सभी उन्मुक्त भाव से अपना हृदय खोलकर उसमें बैठने का अवसर प्रदान करते हैं । इसीलिए वे कह उठते हैं- "मन होता है-/उड़ जाऊँ मैं/पर फैलाए सारस के संग/जहाँ जुगल जोड़ी रहती है / हरे खेत में/सच्ची प्रेम कहानी सुन लूँ/चुप्पे-चुप्पे ।"[61]

केदार जी वायवीय प्रेम के जाल में फँसने वाले कवि नहीं हैं । उनका प्रेम इसी धरती पर उपजने वाला सुघड़ और स्वस्थ संवेदना के साथ प्रकृति से लेकर पत्नी और पुत्र-पुत्री नाती-नातिन तक को अपने विशाल स्नेहाकाश से ढाल लेने वाला प्रेम है ।

वत्सल प्रेम-कवितायें और प्रकृति के प्रति प्रणय भाव से सराबोर प्रेम गीतों को भी पिरोया गया है ताकि प्रेम का एक व्यापक संसार रूपायित हो सके।[62] केदार की प्रकृति उनकी अपनी पत्नी है जिसके अङ्ग-अङ्ग से प्रस्रवित होने वाले रस प्रवाह में आजीवन डूब डूबकर जिस 'जमुल जल' का सृजन उन्होंने किया है वह मानवीय प्रकृति का वह भव्यतम रूप है जो सदा एक सा दिखायी पड़ता है और जिसमें डूबकर मनुष्य सब कुछ लुटाकर केवल अपरिमित आनन्द को प्राप्त करता है ।[63]

अंधेरे को दूर करने के लिए अपनी आत्मा के दीप जलाने वाले[64] कवि का 'जमुन जल तुम' काव्य संग्रह भारतीय परम्परा की एक महत्वपूर्ण लड़ी -"एक पत्नीव्रत धारण करना'- को परिपुष्ट करता है । किन्तु वे सभी पुरानी परम्पराओं को आँख-मूँदकर नहीं स्वीकार करते । "रोज सुबह निकल रहा- देश और काल को बदल रहा"[65] का गान करने वाले केदार की दृष्टि में पुरातन की बाहों में नूतनता का आलोक नहीं बँध सकता है -

"नूतन का आलोक/पुरातन की बांहों में नहीं बँधेगा ।"[66]

केदारनाथ अग्रवाल ने कभी भी तर्कहीन एवं विचारहीन जीवन को नहीं जिया हैं। वे कभी द्वन्द्वमय जीवन को झेलते हुए परमसत्ता में लीन होकर मोक्ष प्राप्त करनें पर विश्वास नहीं करते हैं। ये यही चाहते हैं कि ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो समता, न्याय-प्रियता और समान अवसर देने की क्षमता रखती हो और आदमी को इस द्वन्द्व से मुक्त करने के लिए प्रतिबद्ध हो । ऐसी ही आत्मोन्नति करने की सामाजिक स्थिति में न धर्म-अधर्म की ओर जा सकेगा, न रूढ़ियाँ होगी, न रक्त-रंजित संसार होगा। न सैन्यवाद होगा, न संहार कर सकेगा। न न्यायालय अन्याय कर सकेगा और न व्यावसायिकता पूँजीवाद को अपनाये हुए जन-जीवन की उपेक्षा कर सकेगा।[67] कवि केदार जीर्ण-शीर्ण पुरातन के नाश और नवनिर्माण, जो सृष्टि का शाश्वत नियम है- पर विश्वास करते हैं। इन्हें मानवीय मूल्यों को उजागर करने वाले सत्य और सौन्दर्य, द्वन्द्व, समर-संग्राम पर विजय प्राप्त कर

निर्द्वन्द जीवन जीना[68] प्रिय था ।

वस्तुतः केदार की कविता प्रकृति, सामाजिक यथार्थ, प्राकृतिक-परिवेश और सात्त्विक-प्रणय की त्रिगुणात्मिका शक्ति से समाविष्ट हैं । इन तीनों का सम्बन्ध शाश्वत सत्य के निरूपण में ही विलसित है । इन तीनों तत्वों के सारगर्भित रूप को अभिव्यक्त करने वाले केदारनाथ की भाषा सरल और हृदय-संवेद्य है । इसीलिए साधारण पाठक को भी उनके द्वारा अभिव्यक्त लोक-संवेदना की गंगा की धारा में विमज्जित होने में आनन्द की अनुभूति होती है । केदार की कविता का आम-आदमी घर के बाहर कठोर कैथ वृक्ष के नीचे सिर फोड़ फल की प्राप्ति के लिए तथा कचोटती जिन्दगी बिताने के लिए खड़ा रहता है।[69] चेतना की सृष्टि करने वाला चिरायु कवि- जो मर्त्य होकर भी अमर्त्य बना हुआ है- वरजोर महाकाल को चुनौती देता हुआ समय को साधते हुए जिन्दगी को बाँधता है, अपने नेत्र में सूर्य की आभा का अंजन लगाता है, ब्याल जैसे काल को चेतना से नापता है और द्वन्द्व में निर्द्वन्द्व रहकर जागता रहता है।[70] इसी प्रकार का कवि उपेक्षित किसान, शोषित मजदूर और दलित जनों के प्रति अपनी संवेदना को उड़ेल सकता है । उनकी कविताएँ उन्हें स्फूर्ति प्रदान करती हैं, जो नया जीवन जीने के लिए, निम्नगामिनी यथास्थिति की धारा को खेतों के विकास के लिए मोड़ने के लिए, अंधे-बहरे शासकों के अत्याचार को समाप्त करने के लिए तथा टक्कर खाते हुए भी टक्कर देते हुए, बूझ और अबूझ की सीमाओं को तोड़ने के लिए कटिबद्ध है- "किरकिराती रेत को भी उर्वरा मैं कर रहा हूँ-- और श्रमजीवी अंकुरों को/मैं उगाता जा रहा हूँ/-- जो मरेंगे किन्तु जीकर भी लड़ेंगे/मैं उन्हें ऊपर उठाते जा रहा हूँ ।"[71]

गाँव की मिट्टी से पैदा होने वाला कवि मर जाने के उपरान्त भी उससे दूर न होकर उसी में मिल जाना चाहता है । यहीं उसकी लोक-संवेदना की परिणति है -

"मर जाऊँगा तब भी तुमसे दूर नहीं मैं हो पाऊँगा ।

मेरे देश, तुम्हारी छाती की मिट्‌टी मैं हो जाऊँगा ।

मिट्‌टी की नमी से निकला मैं ब्रह्मा होकर जाऊँगा ।

गेहूँ की मुट्‌ठी बाँधे मैं खेतों-खेतों छा जाऊँगा ।"[72]

त्रिलोचन की कविताओं में लोक-संवेदना :-

आजीवन अभावों के प्रचण्ड अनल में तपते रहने वाले तथा लोक-जीवन से अपनी ऊर्जा ग्रहण करने वाले[1] कवि त्रिलोचन की कविताओं में लोक-संवेदनाओं की ऐसी सहजता है जो सहृदय को अपने रंग में रङ्गकर वास्तविक जीवन का दृश्य उपस्थित करती है । इस जगत् को नन्दनवन के रूप-("चिन्ताओं से ऊपर आकर जब भी जग को/मैं निहारता हूँ तो इसको नंदनवन से/किसी अंश में न्यून नहीं पाता हूँ")[2]- में देखने वाले कवि के आंसू दूसरों के दुःख में तप्त होकर जब झरते हैं तब जीवन का पौधा हरा-भरा हो जाता है।[3] खेतों और कारखानों में काम करने वाले शोषित किसान और श्रमिकों के श्रम में लहराती हुई जीवन-धारा को देखने वाले[4] त्रिलोचन चिलचिलाती धूप में अपनी पत्नी के साथ खेतों को सींचते हुए किसान के[5] दुःख से द्रवित हो जाते हैं किन्तु अभावमय जीवन जीने वाले श्रमिक वर्ग का स्वाभिमान इन्हें आकर्षित करता रहता है।[6] तभी तो उस दीन-हीन, अकेली रहने वाली नवोढ़ा और उसके पति की पीड़ा को उन्होने 'परदेशी के नाम पत्र' में बहुत ही कुशलता पूर्वक अभिव्यक्त किया है- "तुम्हे गाँव की क्या याद नहीं आती है --/थोड़ा लिखा बहुत समझना/ x x x /सचमुच इधर तुम्हारी याद तो नहीं आयी/झूठ क्या कहूँ/पूरे दिन मशीन पर खटना/वासे पर आकर पड़ जाना और कमाई/का हिसाब जोड़ना, बराबर चित्त उचटना/इस उस पर मन दौड़ाना, फिर उठकर रोटी/करना, कभी नमक से कभी साग से खाना/आरर डाल नौकरी है । यह बिल्कुल खोटी/ है। इसका कुछ ठीक नहीं है आना जाना ।"[7]

दूसरों के दुःखों को न सह सकने वाले और दीन-दुःखियों के लिए यथाशक्ति कुछ

कर देने के लिए उद्यत रहने वाले[8] कवि त्रिलोचन नित्य कुँआ खोदकर पानी पीने वाले मजदूर[9] भूखे, दुर्बल और हारे हुए लोगों को स्वयं फल खोजकर बाँटने को तैयार रहते हैं।[10] साग बेचने वाली बुढ़िया के सम्पूर्ण दुःख[11] के गरल को शिव की भाँति पी लेने वाले त्रिलोचन सन् १६५३ के महाकुम्भ के मेले में मरने वाले हजारों की लाशों- जिस पर चढ़कर मानव आता था (लाशों पर चढ़कर मानव आता है)[12] को देखकर फूट पड़ते हैं और असंवेदनशील सरकारी-तन्त्र की भर्त्सना करते हुए- (लाशों की चर्चा थी, अथवा सन्नाटा था/राज्यपाल ने दावत दी थी, हा हा ही ही)[13]- दुःखी होकर कह उठते हैं- "कब स्वतन्त्र होगी यह जनता टूटी हारी।"[14] वे सरकारी सहायता पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं- "धनुष बाण लेकर/क्या करूँगा/रक्खो इनको/नाटक में । वेशधारियों के काम आयेंगे । जीवन इन खेतों से । आगे बढ़ आया है ।"[15]

त्रिलोचन पूँजीवादी शोषकों के उस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है जिसने प्राकृतिक सौन्दर्य को विनष्ट कर भयावह भौतिक-वाद का प्राणहीन आकर्षक महल खड़ा किया है- "जीवन में अर्जन का मतलब पैसा ही है/पैसा ही जीवन के स्तर का मानदण्ड है । इसीलिए आराम हराम कहा जाता है/फूलो का बेलों का होना ऐसा ही है । जैसे शुक्र मंगल का नभोखण्ड है।[16] उनका विश्वास है कि मजदूर ही- जिसके श्रम पर पूँजीवादी सभ्यता टिकी हुई है- समुदायों में संगठित होकर शोषण-मुक्त समाजवादी व्यवस्था का निर्माण करेंगे । मुट्ठी भर पूँजीवादी लोग पहले से अधिक मोटे होते जा रहे हैं । पूँजीवाद जिस डाल पर बैठता है उसी को काटता है । अतुलित धनराशि पर बैठे हुए साँप के समान पूँजीपति अपने विष-बल का आतंक फैलाते रहते हैं ।[17]

त्रिलोचन को विश्वास है कि मधुमक्खियों की भाँति जो मजदूर पूँजीपतियों के लिए (मधु) धन एकत्रित करते हैं वे ही पूँजीवाद को समाप्त करेंगे।[18] शोषितों की पीड़ा से उपजे हुए त्रिलोचन के गीत[19] क्रान्ति के बीज बोते हुए समाज को नया रूप देना चाहते हैं

तथा पूँजीवादी व्यवस्था की परिधि को तोड़कर नवल प्रभात का संदेश देते हैं- "बीज क्रान्ति के बोता हूँ मैं, अक्षर दाने/हैं, घर बाहर जन समाज को नये सिरे से/रच देने की रूचि देता हूँ, घिरे-घिरे से/रहना असम्मान है जीवन का अनजाने/अगर घुटन हो प्राण छटपटाये तो घेरा/तोड़ फोड़ दो क्योंकि हुआ नया सबेरा ।"[20]

त्रिलोचन दीन-दुःखियों, दलितों तथा किसानों के कवि हैं । गड़ेरिये के गीत को सुनकर प्रसन्न होने वाले-(गीत गड़ेरियों के सुन-सुन कर दुहराऊँगा)[21] कवि त्रिलोचन की साँस मजदूरों की साँस है-(वे मजूर से राजा रानी/सुख-दुःख वाली दुनिया जानी/अपनी ही तो साँस कहानी/अपनेपन की ही लहरों को दिखलाऊँगा),[22] चरवाहों का गीत ही उनका गीत है।[23] अपने को मुट्ठी भर धूल मानने वाले-(मुट्ठी भर धूल आदमी है कुछ और नहीं है)[24] कवि त्रिलोचन को भिखारियों से प्रेम है।[25] नंगे पाँव घूमने वाले, लोटा डोर फाँसकर जल निकालकर पीने वाले तथा गंदे कपड़ों में रहने वाले किसानों के जीवन के दर्पण में वे अपना ही प्रतिबिम्ब देखते हैं- "घमा गये थे हम/फिर नंगे पाँव भी जले थे/मर गया पसीना जी भर बैठ गुड़ाए/लोटा-डोर फाँसकर जल काढ़ा/पिया/-- ।"[26]

दूसरे के दुःख को अपना मानने वाले व नया समाज बनाने[27] की उद्घोषणा करने वाले त्रिलोचन की रचनाओं में अनपढ़ चम्पा[28] जो पशुओं को चराती है-कवि की संवदेना का अंग बनकर उन अशिक्षित कन्याओं का प्रतिनिधित्व करती है, जिसके जेहन में यह बात डाल दी गयी कि पढ़ना लिखना अच्छी बात नहीं है । उनकी कविता का 'भोरई केवट'[29] असहाय और निरूपाय दुःखियों की कथा को कहता है जो पूँजीपति की माया से उत्पन्न है । 'नगई महरा' जो आजीवन जीवन की खाँची बिनता रहता है- अपने हाथों पर विश्वास रखता है- "कहता था दैव ने मुँह चीर दिया है । उसमें कुछ देवों को हाथ तो चलाना है ।"[30]

वस्तुतः त्रिलोचन की कविताओं में भारत की मूल आत्मा- भारत के दलित

किसान, दलित-मजदूर व समाज के उपेक्षित जन-समाये हुए हैं । मानव जीवन और मूल्यों के संघर्ष उनकी कविताओं को देदीप्यमान बनाते हैं । जन-जन के लिए मर्मान्तक पीड़ाओं की साँस लेने वाले त्रिलोचन हारे-थके हुए लोगों को उत्साहित करते हुए कहते हैं- "यह दुनिया है, यहाँ कौन किसका है लगकर,/ जीना है तो यहाँ कुछ न कुछ होगा करना/भीड़-भाड़ यह, जग है कहाँ, सूने में जगकर/काम नहीं चलता, ... । उर्वर होता है जीवन भी आघातों से/विकसित होता है बढ़ता है उत्पातों से ।"[31]

लूटे-सताये हुये आदमी की सहायता के लिए सतत खड़े रहने वाले[32] त्रिलोचन वास्तव में अपने युग के, समाज के, जन-जीवन के मूर्तिमान अभिव्यक्तिमय व्यक्तित्व हैं,[33] जिनके हृदय में दलित मजदूरों के प्रति असीमित पीड़ा निवास करती है ।

त्रिलोचन हिन्दी साहित्य के ऐसे कवि हैं, जिन्हें गाँव की धरती प्यारी है । इन्हें काशी इसलिए प्रिय है क्योंकि वह गाँव जैसी है- "काशी मुझे गाँव सी लगती है, शहराती हवा यहाँ कम से कम है ।/रोज-रोज ताजा है कभी नहीं है बासी।"[34] वे ग्राम्य प्रकृति की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं में अपने को विलीन कर देते हैं । त्रिलोचन ऐसी भूमि में रहना चाहते हैं, जहाँ केवल धूल उड़ती हो, जहाँ छाया के लिए कोई विटप नहीं हो । ऐसे स्थान में रहकर वे हारे-भूले-भटके व्यक्ति की प्यास को दूर कर सहृदयता से दो बात कर, उसे रास्ता बताने के लिए व्याकुल रहते हैं।[35] इन्हें सरसों का फूल और ज्वार अधिक प्रिय है- (लहराया ज्वार में। धरती से आसमान/एक रंग/भिन्न रूप/ धरती से आसमान। सुन्दरता छायी है सरसों की फूल सी)[36] त्रिलोचन कृषक-जीवन की एक-एक क्रिया के चित्र खींचने वाले कुशल चित्रकार हैं क्योंकि इनके मन में धरती की सुरभि समायी हुई है- तोड़-तोड़ कर बाल खेत से खग उड़-उड़कर ।/चल देते हैं नीड़-दिशा में। --/लवनी में हैं लीन । आज को भूले कल के। लिए संघ उद्योग कर रहे हैं यह फल के ।"[37]

त्रिलोचन ग्राम्य प्रकृति के जब चित्र उपस्थित करते हैं तब यही प्रतीत होता है कि मानों प्रकृति अपने सम्पूर्ण उपादानों से किसान के साथ आनन्द ले रही है । बरसने वाले बादल और हवा की नोक-झोंक किस किसान के लिए आनन्द का बीज नहीं होगा ? -"स्लेटी बादल आसमान को घेर घिरे हैं/कहीं जरा सा रंध्र नहीं है । जब तक बूँदा-/बाँदी हो जाती है फैल-फैलकर मूँदा । बदली ने नभ नील को। उधर तिरे है/पेड़ों की पत्तियाँ नचाती हुई कहीं से । हवा इधर बहकी है, उधर हिली है साड़ी।"[38] कभी वे बादलों से हरे खेत को नहलाते हैं, तो कभी उनके मन की बयार उसे बहलाती है- (जिनको नहलाते हैं बादल । जिनको बहलाती है बयार, वे हरे खेत कैसे होंगे)[39] और कभी पश्चिम पवन बनकर गेहूँ, जौ, मटर और सरसों से खेलती रहती है - (मन्द-मन्द पछुआ हवा बह रही । --- लहरे उपजाती हुई बह रही । हरे भरे पेड़ों के पत्तों से गेहूँ, जौ, मटर और सरसों से खेलती हुई घर के द्वार पर) ।[40]

ग्राम्य-प्रकृति का रसास्वादन करने वाले त्रिलोचन की कविता में प्रकृति मूर्तिमती होकर ग्राम्य धरती का अपने हाथों से श्रृंगार करती है। बसंत ऋतु के आम्र वृक्ष और कोकिला का यह संवाद- "गन्धोन्माद तुम्हारा औरों को व्याकुल कर/इधर-उधर भटकायेगा तुम खिले रहोगे,"[41] पवन के द्वारा नदियों से की गयी क्रीड़ा तथा यह मधुर आघात- ("मधु का धीर समीर अनेक सुगंध सँभाले । --- नदियों से कर केलि, लताओं को दुलार कर/वन में पहुँचा और राग अभिराग निकाले), बौराये हुये आम (खड़ा आमड़ा बौर लिए निष्पन्न अकेला, कपिश, सुहाने कोटदार में बौर सलोने), पीड़ितों को आश्रय देने वाले बासन्ती छायादार विटप (कितने दूरागत खग आये रूक गये/अपने अपने गान), धूप के द्वारा सर्वप्रथम पीपल का किया गया स्वागत- (धूप बहुत पहले जब आयी तो पीपल की। फुनगी पर आयी, टूसे टहनी टहनी), और भी प्रकृति वर्णन के विविध मनोहर रूप कठोर हृदय के व्यक्ति को भी आकर्षित करने में सक्षम है ।

वस्तुतः त्रिलोचन ग्राम्य-प्रकृति के सूक्ष्मदर्शी हैं । तभी तो उन्होंने जीवन के रस के सूख जाने से झड़ने वाले पत्रों की वेदना सुनी है । इसीलिए वे सघन अंधेरी रात में प्रेमपूर्ण वार्ता करते हैं और वर्षा के दिनों में किसानों को क्रियाशील होने की प्रेरणा देते रहते हैं- "हरा खेत लहरायेगा/हरी पताका फहरायेगा, छिपा हुआ बादल तब उसमें रूप बदलकर मुस्कायेगा ।"[42]

त्रिलोचन को अपनी मिट्टी की गंध और अपनी संस्कृति से अगाध प्रेम है । उनकी दृष्टि में साम्यवाद के विदेशी और देशी लीद को ढोने वाले गधे- जो अपने को इन्द्र से भी अधिक तीव्र-गामी घोड़ा मानते हैं, भारतीय-संस्कृति की हरियाली को देखकर छैंकने लगते हैं- "संस्कृति की हरियाली देखी लगे छेंकने । अपनी दुलत्तियों के मद में सदा चूर हैं।"[43] त्रिलोचन भारतीय संस्कृति के बीज-सहिष्णुता (सदाचार जिसके तन मन का/समाधान हो लोग भी सीखे रहना । अलग-अलग जो सदाचार है अपनेपन का भाव बढ़े),[44] अतिथि सेवा (उनके आने से अपनापन आ जाता है । जो भूला भूला रहता है उसे भुलाना / ठीक नहीं निःस्वधनी कोई कैसा हो । अपने घर आये तो उठकर आसन देना / ---),[45] दीन-दुःखियों की सहायता के लिए सदा तत्पर रहना (लुटे सत्ता में हुए आदमी जहाँ पड़े हों/अच्छा हो जाग्रत जन उनके लिए खड़े हो।),[46] लोभ, भय से मुक्त रहना (कहीं किसी के आगे भय से और लोभ से । विचलित नहीं हुए),[47] अहिंसा आदि का पालन करते हुए निष्कलंक जीवन जीना (बुद्ध आदि के जिस भू ने पदचिह्न सजाये । सावधान उस पर चलता पर दाग बचाये।),[48] दुर्वह परिस्थितियों में भी मनुष्यता का परित्याग नहीं करना (कठिन परीक्षाएँ ले लेकर निज चिरन्तन/मुझे मनुष्य बना दो विजितन हो मेरा मन।),[49] कर्मवाद पर विश्वास रहते हुए निरन्तर संघर्ष करना (लड़ो बन्धु हैं, जैसे रघु इन्द्र से लड़ा था/क्रूर देव के सम्मुख मानव दृप्त खड़ा था), (खून पसीना एक करो फिर जो कुछ पाओ । लेकर जल्दी आओ और कभी मत हारो),[50] पिता के प्रति

श्रद्धा रखना (तुम महिमा-मंडित मनुष्य थे---) ---आदि गुणों के पक्ष धर थे । त्रिलोचन प्रतिदिन "रामचरित मानस" का पाठ करते हैं। उनका पितृ श्राद्ध में विश्वास है तथा संकट मोचन में प्रतिदिन दर्शन करते हैं।[51]

उन्हें भारतीय चिन्तन पर विश्वास है। विष्णु ने तीन पग से तीनों लोकों को नापा था। त्रिलोचन अपने चौदह चरण (पग) वाले सानेट से चौदह-भुवनों को यथाशक्ति नापते रहते हैं।[52] त्रिलोचन की छन्द-बद्ध कविताएँ यह सिद्ध करती है कि वे परम्पराओं को मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि तुलसी दास ही उनके काव्य गुरू हैं।[53]

त्रिलोचन भले ही किये गये कर्म-फलों को भोगने के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। (सोच लो जो बीज बोओगे, तुम्हे, लुनना पड़ेगा),[54] परन्तु परम्परा को ढोने में विश्वास नहीं करते (बनी बनाई राह मुझे कब कहाँ सुहाई। गहन विपिन में धँसा, नहीं की राम दुहाई)[55] वे जीवन पथ की बाधाओं को स्वयं दूर कर निडर होकर आगे बढ़ते रहने का संदेश देते हैं --"झाड़ और झखांड़ उखाड़ काटकर अपने/पथ को किया प्रशस्त, चला रूक कर अलसाया/नहीं, तप गया फिर भी तरू की शीतल छाया/ताकी नहीं, न मुझको सुख शय्या के सपने।"[56]

वस्तुतः त्रिलोचन प्राचीन रीति रिवाजों को पूर्णरूप से स्वीकार करने वाले कवि नहीं हैं । एक कविता में विवाह की प्राचीन-परम्परा का वर्णन करते हुए कहते है- "चाल ढाल सभी पुरानी वही धारा । मध्ययुग के भाव वाही । ये नये युग से अपरिचित औ" सशंकित । ये गये सब दिन सताये । चल रहे प्राचीनता से लौ लगाये -- आज भी इनको पुरानी बात पहले रूप में ही भा रही है।"[57] किन्तु दूसरी कविता में वे कह उठते हैं- "बदल गया है काल कलेवर/बदल गयी जीवन की धारा । आज पुरानी रीति-नीतियाँ दे न सकेगी रंच सहारा/आँख खोल मानव दृग मींचे/देख कहाँ तक तू आया है"।[58] वे पुरानी कुरीतियों को अस्वीकार करते हुए (रंगीन मनोहर भूतकाल/उस पर अपना मन

डाल डाल । विह्वल होना तज देश–काला जीवन–विरोध, गति का विरोध)–नयी राह पर चलने का संदेश देते हैं– "बहुरंग रूप गति, नई राह । रह संग–संग ले नवल रंग । बढ़ना सुन्दर है क्षण प्रतिक्षण ।"[59]

मानवतावादी त्रिलोचन आजीवन साम्प्रदायिकता का विरोध करते रहे । उनकी दृष्टि में धर्म की कट्टरता, विध्वंशकारिणी प्रवृत्ति, आम जनता को ही अपना शिकार बनाती है । और उसे फैलाने वाले मूक–दर्शक बने रहते हैं । शास्त्र और मानवता में यदि विरोध है तो शास्त्र की क्या आवश्यकता है । मानवता ही मनुष्य की अमूल्य धरोहर होनी चाहिए जिसे संजोकर रखना हम सबका धर्म है । उनकी दृष्टि पृथ्वी के सम्पूर्ण मनुष्यों को अपना भाई मानती है– "वह मेरा भाई है जिसको तुम अलगाना/अपना धर्म समझ बैठे हो, मैं न सुनूँगा,/x x x/हिन्दू मुसलमान ईसाई अब ये सारे/नाम मिटेंगे, सब मनुष्य होंगे तुम्हारे ।"[60]

त्रिलोचन विश्व मानव हैं । वे देश, जाति, वर्ण आदि के बन्धन को तोड़कर सबको एक रचना के रूप में देखते हैं । वे एक भू पर विभिन्न कृतियों में एक ही सरिता की धारा का दर्शन करते हैं– "देश के ये बंध तोड़ों । जाति ये बंध तोड़ों / वर्ण–वर्ण खिल सुमन दल । रूचिर–रूचिर सुगंध जोड़ो । रूप में हो तेज संचय / तेज में नवप्राण परिचय/सब चिराग्ने एक रचना में वही है पास लाना ।"[61]

देश काल, शारीरिक संरचनाओं से मनुष्यता में विभाजन रेखा खींचने वाले लोग अत्यन्त स्वार्थी हैं । सबकी भौतिक आवश्यकताएँ एक हैं–

"गर्म गर्म वह रोटी जो/जो मुँह में जीवन बनती है भई रहा क्या/अन्तर उसमें/इस अभेद को नहीं सहा क्या/तुमने ।"[62]

त्रिलोचन की विश्वात्मक दृष्टि में सम्पूर्ण मनुष्य एक सुन्दर 'मानव का छौना' है –

"नाक दबी हो या उभरी हो माथा नीचा

हो या ऊँचा, कोई लम्बा हो या बौना

आँखे तिरछी हो या फैली हो रंगो में

काला, पीला, लाल, श्वेत जिससे भी सींचा

हो शरीर की – दुनिया में मानव का छौना

कोई भाषा बोले अलग नहीं अंगो में "।[63]

त्रिलोचन का जगत् अतीव सुन्दर है । धर्म और रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों ने इसके सौन्दर्य को विकृत कर दिया है । धर्म पर आक्रमण करने वाले त्रिलोचन- (करता हूँ आक्रमण धर्म के दृढ़ दुर्गो पर)[64] सन् १९५३ के महाकुम्भ में मरने वाले लोगों के प्रति अति संवेदनशील हैं । वे जनसमूह की मृत्यु का कारण धर्म को ही मानते हैं- "धर्म न होता तो वह दुनिया कैसी होती । पुण्य न होता तो प्रवृत्ति क्या ऐसी होती।"[65] मन्दिरों में जाकर जड़ पत्थर को अन्तर्यामी मानकर पूजने वालों का उपहास करने वाले त्रिलोचन ने कल्पवासियों, जो जाड़े में ठिठुर-ठिठुर कर गंगा-स्नान और जप करते रहते हैं- का भी मजाक उड़ाया है । उन्हें ज्योतिषियों से भी चिढ़ है क्योंकि वे मिथ्या भविष्यवाणी कर भोली भाली जनता को भय और चिन्ता के अनल में झोंकते रहते हैं।[66] त्रिलोचन वैताली की भाँति हस्त-रेखा पर नहीं, कर्म पर विश्वास करते हैं ।[67] व्यर्थ की पूजापाठ की अपेक्षा शिष्टता का निर्वाह करना ही जीवन का प्राणतत्व है- "भक्ति का वेद तो/चला जायेगा पुनः रसातल कूल किनारा/नहीं मिलेगा रहने दो जो जैसा चाहे। अच्छा होगा किसी तरह शिष्टता निवाहें।[68] त्रिलोचन ने 'अनकहनी भी कुछ कहनी है' में धर्म के बाह्य-आडम्बर के परित्याग की प्रशंसा की है और धर्म की बाह्य कट्टरता की व्याज स्तुति के माध्यम से निन्दा की है –

"धर्म कर्म हिन्दू का सब कुछ छोड़ दिया है

पुरखों की मर्यादाओं को तोड़ दिया है ।

चोटी और जनेऊ तज दी अब मनमाने

काम किया करते हो ---

जरा मुसलमान को देखो चाल चलावा

अपना नहीं छोड़ते रखते हैं दावा।"[69]

त्रिलोचन का बचपन ही अन्ध विश्वास के विरोध में प्रारम्भ हुआ था । इनके घर में पढ़ाई नहीं सहती थी । जैसा कि उन्होंने अपने एक सॉनेट में बताया है- "पढ़ना हमारे यहाँ नहीं सहता पर बात मेरी कौन यहाँ सुनता है । रानपरोसी कहते हैं लड़का इन्हें भारी है, इसी राह खो रहे हैं --- पढ़ते-लिखते ही तीन-चार जने मर गये"[70] किन्तु इस अन्ध विश्वास के सिर पर पैर रखकर त्रिलोचन ने अपनी पूरी पढ़ाई की । ताप-प्रहार सभी कुछ सहते हुए त्रिलोचन पूर्व-परम्पराओं पर आश्रित रहने वाले कवि नहीं हैं । इनकी दृष्टि में पुरातन विचार वह बरगद की छाया है जहाँ कोई नवीन वृक्ष नहीं बढ़ पाता है ।[71]

इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि त्रिलोचन सम्प्रदाय नस्लवाद, जातिवाद, अन्धविश्वास आदि पतनोन्मुख व्यवस्था के विरोधी हैं किन्तु उनकी प्रगतिशीलता में न भौतिक चकाचौंध है न आत्मसमर्पण की भावना । वे सच्चे रूप में ऋषियों के मानवतावाद के पुजारी हैं । वे बाह्य और आन्तरिक रूप में पूर्ण मानवीय कवि हैं, जो अपनी कविताओं में घोषणाएँ करने की जगह रूढ़ियों-बेड़ियों और जर्जर परम्पराओं के विरोध में खड़े रहते हैं।[72] वस्तुतः त्रिलोचन की रचनाओं में शास्त्रीयता और लोकाकारिता का द्वन्द्व नहीं है वरन् एक दूसरे की परिपुष्टता समाहित है।[73] कवि त्रिलोचन को इस भौतिक संसार से प्यार है परन्तु विलासिता के लिए मूल्यों की हत्या उन्हें कभी प्रिय नहीं रही है- "मैं विलास का/प्रेमी कभी नहीं था । जब देखा तब केवल जीवन देखा/ धूल और मिट्टी से आया था रक्त के कणों में यह सम्बन्ध समाया था ।"

त्रिलोचन की कविता जब 'जीवन रस' और 'जीवनमणि' पाने की व्यग्र ललक में ऊँचाई को छूने के लिए हाथ बढ़ाती है तो उनका कवित्व आकाश की ओर नहीं वरन् धरती की ओर मुड़ता है । ऐसे क्षणों में महान होने के लिए आकाश की ओर ताकना शायद शास्त्र की ओर बढ़ना है और धरती की ओर ललक-पुलक से देखना लोक की ओर झुकना है । धरती से आकाश की ऊँचाई का अहसास करा देना कम बूते की बात नहीं है ।74

धूमिल के काव्य में लोक-संवेदना :-

प्रगतिशील सामाजिक सरोकार के साथ कवि धूमिल हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं । उनकी क़ाव्यगत अन्तर्वस्तु व शिल्पगत बुनावट की सादगी उन्हें अन्य कवियों से अलग व्यक्तित्व प्रदान करती है । 'संसद से सड़क तक' व 'कल सुनना मुझे' दोनों काव्य-संग्रहों की कविताओं में अमानवीय व्यवस्था के प्रति उनका आक्रोश-पूर्ण व्यंग्य मुखर है । इस आक्रोश पूर्ण व्यंग्य के मूल में शोषित-उत्पीड़ित मानवता की मुक्ति की कामना प्रबल रूप में दिखाई पड़ती है ।

साठोत्तरी कवि धूमिल की कविताओं में राजनीतिक चेतना की सशक्त व सार्थक अभिव्यक्ति हुई है । सरकारी नीतियों की विडम्बनाओं को ढोती व कराहती जनता तथा 'जनतन्त्र', जिसके मूल स्वरूप को सत्ताधारी पार्टियों ने अपने लाभ की खातिर बदलकर रख दिया है, कवि धूमिल की कविता के मूल स्वर हैं ।

वे बुर्जुआ व्यवस्था को कायम रखने वाली हर व्यवस्था के खिलाफ कटिबद्ध दिखाई पड़ते हैं । आजादी के १५-२० साल बाद भी पग-पग पर अमानवीय व्यवस्था का जाल, जो आम आदमी को फँसाता जा रहा था, उनके मन को बेहद आहत करता है । वे इन पूँजीवादी व्यवस्था में मानवीय मूल्यों की दुर्दशा पर आँसू बहाने की अपेक्षा सक्रिय होकर क्रान्ति के लिए तैयार होने की बात करते हैं । 'स्वस्थ समाज का निर्माण ही

मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना में सहायक हो सकता है ।' अतः इसके लिए समाज से भ्रष्टाचार, धोखाधड़ी, चापलूसी, सत्ता-लोलुपता आदि कलुषित नीतियों को मिटाकर स्वस्थ आदर्शो की स्थापना के लिए गम्भीर प्रयास की महती आवश्यकता थी । सत्तासीन नेताओं के सहयोग के बिना स्वस्थ समाज का निर्माण असम्भव तो नहीं कठिन अवश्य था, पर तत्कालीन नेतागण भ्रष्टाचार मुक्ति के अपने प्रयासों में कत्तई ईमानदार नहीं थे । ऐसे भ्रष्ट राजनीतिज्ञों की सत्ता-लोलुपता, भाई-भतीजावाद, जातिगत व भाषागत संकुचित-मनोवृत्ति पर कवि धूमिल ने खुलकर कटु प्रहार किये हैं । राजनीतिज्ञों की निरर्थक नारेबाजी, उनके दोगलेपन से उपजी उनकी चरित्र-हीनता, सत्ता को बरकरार रखने के लिए की गयी उनकी दुरभिसंधियाँ, वोट माँगते समय जनता से किये गये उनके वायदे, पर निर्वाचित होने पर उसी जनता के प्रति विमुखता- आदि का पर्दाफाश करते हुए उनके तीखे व्यंग्य अत्यन्त सजगता के साथ परदे के पीछे की उनकी तस्वीर आम जनता के समक्ष पेश करते हैं ।[1]

आज जब देश के सामने रोटी, कपड़ा और मकान जैसी जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने की जरूरत है, हमारे नेता कुर्सी व सत्ता के खेल में लगे हैं, जो सुविधाजनक किन्तु सिद्धान्त-हीन समझौते कराती है । हमारी राजनीति केवल नाम के लिए गाँधी के आदर्शों पर टिकी हुई है । गाँधी ने समाज के चिर-उपेक्षितों का उद्धार किया । वे श्रम व श्रमजीवी की महत्ता को समझते हुए समाज में उनके महत्वपूर्ण स्थान के पक्षधर थे, पर आज उनका नाम लेकर जो कुछ किया जा रहा है, वह अक्षम्य है । कवि धूमिल गाँधी के नाम पर देश चलाने वालों का असली चेहरा दिखाते हुए कहते हैं-

"उस मुहावरे को समझ गया हूँ
जो आजादी और गाँधी के नाम पर चल रहा है
जिससे न भूख मिटी है, न मौसम

बदल रहा है ।"[2]

कवि धूमिल की कविता दुनियाँ के सबसे बड़े प्रजातान्त्रिक देश की सच्चाइयों को हमारे सामने रखती है । जो जनतन्त्र जनता के लिए, जनता के द्वारा ही निर्मित हैं, उसमें जनता का क्या मूल्य है? स्पष्ट शब्दों में हमारे सामने खोलकर रखती है । आजादी के तुरन्त बाद तेलंगाना के क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाया गया । यह बात भारतीय जनतन्त्र के भविष्य को आरम्भ में ही स्पष्ट करती है । यहाँ तो 'जनतन्त्र' शब्द मात्र दिखावा रह गया है । उसकी मूल आत्मा का तो अन्त हो चुका है । कवि के शब्दों में-

"... हवा में एक चमकदार गोल शब्द
फेंक दिया है- 'जनतन्त्र'
जिसकी रोज सैकड़ों बार हत्या होती है
और हर बार
वह भेड़ियों की जुबान पर जिन्दा है ।"[3]

जिस लोकतन्त्र की बुनियाद पर हमारा देश खड़ा है, वह तो अपने वास्तविक रूप में मजबूत था, आम आदमी के हित में था, पर उस बुनियाद को दिनों-दिन खोखला करने वालों नेतागणों ने उसे व्यावहारिक रूप से निष्क्रिय कर दिया । समय के साथ-साथ लोकतन्त्र में मजबूती आने के विपरीत उसका खोखलापन बढ़ता गया । कवि की जागरूक चेतना के लिए ये स्थितियाँ असहनीय थी । ऐसा नहीं था कि धूमिल को प्रजातन्त्र में विश्वास नहीं था। 'स्वतन्त्रता' और 'समानता' तो उन्हें जी-जान से प्यारी थी, जो हमारे संविधान की मूल आत्मा है । उनका आक्रोश तो उन सुविधा-भोगियों पर है, जिन्होंने प्रजातन्त्र के मूल सिद्धान्तों को ताख पर रखकर उसे मात्र मखौल बना दिया है ।

स्वतन्त्रता के बाद हुई प्रगति का लाभ हमारी संसद आम-आदमी तक नहीं पहुँचा सकी । मनुष्य की तीन मूलभूत आवश्यकताओं में कपड़ा और मकान की समस्या तो दूर,

रोटी की समस्या ही समाप्त नहीं हो पा रही है । पेट की समस्या से जूझने वाला भूखाआदमी देश की प्रगति में क्या योगदान दे सकता है । उसके लिए तो रोटी से बड़ा तर्क हो ही नहीं सकता –

"आज मैं तुम्हें वह सत्य बतलाता हूँ
जिसके आगे हर सच्चाई
छोटी है । इस दुनिया में
भूखे आदमी का सबसे बड़ा तर्क
रोटी है ।"[4]

कवि का यह सच्चाई-बोध सुनी सुनायी बातों पर आधारित नहीं है । उन्होंने भूखे चेहरों को देखा नहीं है वरन् ऐसा लगता है स्वयं उसका अनुभव किया है ।[5]

धूमिल ने अपने प्रश्नों के माध्यम से रोटी की समस्या पर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है । इस समस्या पर उन्होंने संसद से अनेक प्रश्न किये, पर वे सभी प्रश्न अनुत्तरित ही रहे । 'कल सुनना मुझे' संग्रह की कविता 'रोटी और संसद' अत्यन्त प्रभावी ढंग से रोटी से खिलवाड़ करने वाले व्यक्ति व उसे मूक स्वीकृति देने वाली संसद पर कटाक्ष करती है –

"एक आदमी/रोटी बेलता है/एक आदमी रोटी
खाता है/एक तीसरा आदमी भी है/जो न
रोटी बेलता है, न रोटी खाता है/वह सिर्फ,
रोटी से खेलता है/मैं पूछता हूँ– यह तीसरा
कौन है?/मेरे देश की संसद मौन है ।"[6]

कहते हैं दूसरों के दुःख को देख-सुनकर मनुष्य अपना दुःख भूल जाता है । राजनीतिज्ञों को मूढ़ जनता के लिए पड़ोसियों की भुखमरी के किस्से व अखबार में लिखे

सहानुभूति के कुछ शब्द ही उनके आक्रोश को शान्त करने का कारगर उपाय लगते हैं । कवि व्यंग्य करता है-

"उन्होंने सुरक्षित कर दिये हैं/तुम्हारे सन्तोष के लिए/

पड़ोसी देशों की/भुखमरी के किस्से/तुम्हारे

गुस्से के लिए/अखबार का/आठवाँ कालम ।" 7

हमारे संविधान में एक बहुत ही आकर्षक शब्द है- 'समाजवाद' । 'समाजवाद' के नाम पर आजादी के बाद से ही जन-साधारण को सब्जबाग दिखाये जा रहे हैं, पर जनता उनके इस छलावे को समझ नहीं पा रही है । समाजवाद के नाम पर फल-फूल रही नीतियों से पूँजीपतियों को तो लाभ ही लाभ है और निर्धनों का जीवन दिन-प्रतिदिन दूभर होता जा रहा है, क्योंकि धूमिल के शब्दों में हमारे देश के समाजवाद का असली जामा माल गोदाम में लटकी हुई उन बाल्टियों की तरह है जिस पर आग लिखा है और उसमें बालू और पानी भरा है ।8

उनकी लम्बी कविता 'पटकथा' उनके राजनीतिक-बोध को मुखर करने वाली महत्वपूर्ण रचना है । इसमें सन् १९४७ से लेकर कविता लिखे जाने तक के विभिन्न संकटों, आर्थिक व राजनीतिक विपन्नताओं, चुनावी दलदल के बीच फँसी राजनीतिक चालों आदि की सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है । रचना के मूल में उन सवालों को उठाया गया है, जो जनता की फटेहाल स्थिति व तबाही से जुड़े हुए हैं । 'पटकथा' में उनका आक्रोश सिर्फ सत्तासीनों व पूँजीपतियों पर ही नहीं, उस व्यवस्था को ढोने वाले मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों पर भी है ।9

कवि धूमिल की 'प्रौढ़शिक्षा' कविता अपने मूल उद्देश्य को लेकर अत्यन्त सजग है। वे हमारे समाज में व्याप्त भूख, वर्गीय-विषमता, आत्महीनता का मूल कारण अशिक्षा को मानते हैं । अशिक्षितों के प्रति कवि की आत्मीयता व उनके हित की कामना इस

कविता की हर पंक्ति में मुखर है । अशिक्षितों की अनेकानेक समस्याओं की जड़ अशिक्षा है- इस बात को ध्यान में रखकर ही कवि ने अत्यन्त सजग भाषा में अशिक्षा के कारण होने वाली मुश्किलों को स्पष्ट किया है । वह अपनी कविता के द्वारा शिक्षा की संजीवनी शक्ति का अनुभव हर शोषितों व उपेक्षितों को कराना चाहते हैं ।[10]

उनकी एक प्रसिद्ध कविता है 'मोचीराम', जो समाज में उपेक्षित मोची के व्यवसाय को केन्द्र में रखकर लिखी गयी है । अपनी इस कविता का आरम्भ कवि धूमिल सामाजिक समानता की भावना को केन्द्र में रखकर करते हैं । उनकी दृष्टि में आदमी एक जोड़ी जूता मात्र है।[11] उसके पास आने वाले दो विपरीत स्वभावी ग्राहक कवि की संवेदना को अलग-अलग ढंग से प्रभावित करते हैं।एक गरीब है जिसके प्रति मोची की सहानुभूति है।उसके चक्तीदार जूतों पर मोची अपनी आँखे टाँक देना चाहता है।[12] यहाँ कवि स्वयं शोषित, दलित, अभावग्रस्त वर्ग के एक व्यक्ति के रूप में दिखाई पड़ रहा है, जो दूसरों के दुःख से दुःखी है । दूसरा वह व्यक्ति है जो गरीबों पर अनायास रौब दिखाता है । ऐसे लोगों के लिए कवि का तर्क है- 'जैसा काम वैसा दाम' । बेवजह गरीबों को सताने वाले व्यक्ति के प्रति कवि के मन में कोई संवेदना नहीं ।"[13]

आगे वे कहते हैं कि कोई भी पेशा जाति से बँधा नहीं है और किसी भी भाषा पर किसी ज़ाति विशेष का अधिकार नहीं है।[14]अर्थ और भौतिक सुख-सुविधा-भोग में तो तथाकथित छोटा वर्ग संभ्रांत वर्ग की बराबरी के अधिकार के लिए संघर्ष करता रहा है, परन्तु धूमिल का 'मोचीराम' सम्भवतः पहला व्यक्ति है जो अनुभूति और अभिव्यक्ति की प्रतीक भाषा पर सभी का समान अधिकार होने का विश्वास प्रकट करता है।[15]

धर्म व जाति के आधार पर बनी व्यवस्था की अमानवीयता की बढ़ती बाहों ने सबको दबोच लिया है, वह हर एक को दूसरों से अलग करने में जुटी है। ऐसे में सच्चा लोकतन्त्र भला कैसे जीवित रह सकता है क्योंकि जातिगत भेदभाव के रहने से 'समानता'

की स्थापना हो ही नहीं सकती । कवि धूमिल ऐसे समाज में रहते हुए भी धर्म व जातिगत मामलों से पूरी तरह मुक्त थे । उनके अनुज कन्हैया के शव्दों में – "वे धर्म के ढोंग में विश्वास नहीं करते थे । चोटी तथा जनेऊ धारण करना वे पसन्द नहीं करते थे। हर बात में स्वतन्त्र बुद्धि का इस्तेमाल करते थे । छुआछूत को वे नहीं मानते थे । मुसलमानों के घर का खाना खाने के लिए ईद के दिन घर पर खाना नहीं खाते थे । ईसाइयों के घर भी खाना खाने के लिए वे नहीं हिचकते थे। चमार व ब्राह्मण उनके लिए बराबर थे, बल्कि ईमानदार और मेहनतकश उनके लिए बेइमान तथा दूसरों की कमाई पर जीने वाले ब्राह्मण से कई लाख गुना अच्छा था ।"[16]

कवि धूमिल की कविताओं में पारिवारिक जीवन की आधारशिला 'नारी' के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं । माँ, पत्नी, जरायम पेशा औरत, प्रेमिका, लड़की, पड़ोसन आदि इन रूपों में दिखाई देने वाली नारी के विषय में उनकी सोच न पारम्परिक है और न प्रगतिशील । नारी के विषय[17] में उनके प्रयोगों को देखने से यही ज्ञात होता है कि नारी के प्रति उनकी कोई उदात्त धारणा भी स्पष्ट नहीं होती । कवि के मध्यवर्गीय संस्कार उसे परम्पराओं को तोड़ने में असमर्थ बनाते हैं । विवाह व घर गृहस्थी के बारे में कोई आधुनिक दृष्टि उनकी कविताओं में नहीं मिलती । उन्हें नारी का यह रूप अनुचित नहीं लगता –

चौके में खोयी हुयी औरत के हाथ/कुछ भी नहीं
देखते । वे केवल रोटी बेलते हैं और बेलते रहते हैं ।"[18]

मध्यवर्गीय संस्कारों से बंधा कवि धूमिल अपनी पत्नी व बच्चे के प्रति लापरवाह नहीं । वह ऐसे कार्य को कोई महत्ता नहीं देता, जिससे उसके परिवार का जीना मुश्किल हो जाय। उनकी यह आत्म-स्वीकृति इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण है –

वह धूमिल नहीं –

एक डरा हुआ हिन्दू है/उसके बीबी हैं/

बच्चे हैं/घर है/अपने हिस्से

का देश/ईश्वर की दी हुई गरीबी/

(यह बीबी का तुक नहीं)

और सही शब्द चुनने का डर है ।[19]

तत्कालीन राजनीति पर कटु प्रहार करने वाला कवि धूमिल गृहस्थी व अपने बारे में बड़ी सीधी व सपाट बात कहता है । पारिवारिक दायित्व का अच्छी तरह निर्वाह न कर पाने से उत्पन्न आत्म-विक्षोभ इन पंक्तियों में देखा जा सकता है –

"पत्नी का उदास व पीला चेहरा

मुझे आदत सा ऑकता है

उसकी फटी हुई साड़ी से झांकती हुई पीठ पर

X X X X

मैं झेंपता हूँ ।

और धूमिल होने से बचता हूँ

यानी बाहर का 'दुर-दुर'

और भीतर का 'बिल-बिल होने से

बचने लगता है ।"[20]

कवि को यह बात बेहद कचोटती है कि समान उम्र होने पर भी एक औरत का मुँह झुर्रियों से भरा है, वहीं दूसरी औरत के मुँह पर प्रेमिका के मुँह सा लोच है ।[21] आर्थिक असमानता ही इसके मूल में है जिसे कवि मिटाना चाहता है । जहाँ सामाजिक विषमता व आर्थिक अभावों की बात आती है वहाँ वे नारी के अभावग्रस्त जीवन के प्रति संवेदनशील दिखाई पड़ते हैं ।

नारी का त्यागमय रूप भी उन्हें आकृष्ट करता है। देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए आत्मोत्सर्ग करने वाली कुमारी रोशनआरा पर लिखी गयी उनकी कविता ''आतिश के अनार सी वह लड़की-''[22] देशभक्त नारी के प्रति कवि की श्रद्धाञ्जलि है। नारी के प्रति उन्होंने कई संदर्भों में अशिष्ट[23] बातें कही है पर नारी का हर वह रूप, जो मर्यादाओं से बँधा है, उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ है। कवि का नारी के प्रति दूषित दृष्टिकोण नहीं रहा है। अपने कर्मों के अनुरूप ही नारी अबला-सबला व कलंकिनी, दुराचारिणी कहलाती है। धूमिल जीवन के हर क्षेत्र से विकृतियों को उखाड़ फेंकना चाहते थे। अतः उन्होंने नारी के इस कुरूप पक्ष को ही विशेषतया उजागर किया है। ''प्रहार उन्होंने हमेशा कुत्सित और अस्वीकार्य पर ही किया है, सुन्दर व स्वीकार्य पर नहीं, जो मूलतः एक विद्रोही व्यक्तित्व के कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है।''[24]

आजादी के बाद नगर और उससे जुड़ी समस्याओं को ही ज्यादा तरजीह दी गयी। गाँव की स्थिति मे कोई खास अन्तर न आया। फलतः साहित्य के क्षेत्र में नगर-बोध से जुड़ी हुई कविताएँ अधिक दिखाई पड़ती हैं। ग्राम्य बोध से जुड़ी हुई जो कविताएँ लिखी गयी उनमें किशोर भावात्मकता ही विशेष रूप से दिखाई पड़ती है। अधिकाँश कवियों का प्रारम्भिक जीवन गाँव में व्यतीत हुआ था। अतः गाँव से उनका भावनात्मक लगाव स्वाभाविक था, संघर्ष का साक्षात्कार तो उन्होंने नगर में किया। गाँव से सम्बन्धित उनकी कविताओं में ग्रामीण जीवन व प्रकृति की सहज झांकियाँ ही अधिक मिलती हैं। ग्रामीण जीवन की समस्याएँ एक सीमा तक होते हुए भी उनमें वह गहराई नहीं दिखती जो ग्राम्य जीवन के अन्तसंघर्ष को वाणी दे सके। पर ''धूमिल इस स्तर से हटकर गाँव के संघर्षों में गहराई से पैठता है और अपने अनुभव को वाणी देता है। उसका अहसास शहर को गाँव की ओर झुकाने की कारगर कोशिश में हैं। इस अहसास का उद्‌भव आकस्मिक ही नहीं हुआ। इसके पीछे धूमिल का व्यक्तिगत अनुभव ग्राम-जीवन के गहरे लगाव से एकीकृत होकर अभिव्यक्त हुआ है।''[25]

कवि धूमिल स्वयं सक्रिय रूप से किसानी से जुड़े रहे हैं । उन्होंने अपने हाथों बंजर भूमि को उपजाऊ बनाया था । उनकी वेशभूषा, बातचीत के ढंग में किसानी की झलक थी । आर्थिक अभावों के कारण मजबूरीवश उन्हें शहर जाना पड़ा । शहर में रहते हुए भी वे किसानी जीवन को पल भर के लिए भी नहीं भुला पाते । उनकी कविता का आम-आदमी किसान ही है जो रोजी रोटी की तलाश में कभी शहर गया जरूर, पर न तो वह शहर की गहमा-गहमी व आधुनिकता को अपना सका और न अपनी किसानी को भूल सका । धूमिल की दृष्टि में किसान ही सम्पूर्ण भारतीय जीवन की आधारशिला है और उसे छोड़ कविता करने से काव्य के साथ कतई ईमानदारी नहीं वरती जा सकती ।

कवि धूमिल गाँव व किसान की आत्मा से जुड़कर वहाँ के लोगों की जिन्दगी व उनकी समस्याओं से साक्षात्कार करते हैं । उन्हें ग्रामीण जीवन में इतनी ज्यादा विषमताएं दिखाई पड़ती है कि गाँव के मनमोहक रूप की ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जा पाती । गाँव में व्याप्त भुखमरी, सूखा, जमीन-जायदाद के झगड़े, जमींदारों-साहूकारों की निर्दयता, कड़ी मेहनत के बाद भी अभावों में जीते किसान, उस पर भी पुलिस द्वारा किये जाने वाले अत्याचार, नेताओं की साजिश आदि विषमतायें व विडम्बनायें धूमिल की कविताओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाकर गाँव की कठोर वास्तविकता से आम आदमी का परिचय कराकर उनमें मार्मिक संवेदना व आक्रोश पैदा करती है ।[26]

'किस्सा जनतन्त्र', 'हरित-क्रान्ति', 'खेवली', 'मुक्ति का रास्ता', 'ताजा खबर' आदि अनेक कविताओं में कवि धूमिल गाँव की असलियत को अपना सम्प्रेष्य बनाते हैं । समस्याओं को लेकर वे जागरूक तो हैं, पर कभी-कभी गाँव के लिए बहुत कुछ न कर पाने से उत्पन्न विवशता उन्हें बैचेन करती है । वहाँ फैली संकीर्णता, रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास से वे बेहद क्षुब्ध थे । 'अशिक्षा' ही इन बुराइयों व कुरीतियों के लिए जिम्मेदार है, इस बात को वे अच्छी तरह जानते थे । उनकी 'प्रौढ़ शिक्षा' कविता

अनपढ़ों में शिक्षा के प्रति लगाव उत्पन्न करने के निमित्त ही लिखी गयी है ।[27]

शहर की अपेक्षा गाँव में परम्परागत मूल्यों के प्रति अभी भी आस्था दिखाई पड़ती है । वे उन जड-मूल्यों को भी नहीं छोड़ना चाहते, जिनसे उनका अपना अहित होता है। अकाल को नियति की इच्छा जानकर चुपचाप झेलने वालों पर कवि व्यंग्य करता है -

लोग बिलबिला रहे हैं/पत्ते और छाल/खा रहे हैं/

मर रहे हैं, दान कर रहे हैं/जलसों जुलूसों में

भीड़ की पूरी ईमानदारी से हिस्सा ले रहे हैं और

अकाल को सोहर की तरह गा रहे हैं/

झुलसे हुए चेहरों पर कोई चेतावनी नहीं है ।[28]

गाँव में व्याप्त अन्ध धार्मिक-श्रद्धा लोगों को उनके अधिकारों से विमुख करती है। 'गाँव में कीर्तन' कविता में कवि गाँव वालों के इन कृत्यों को लेकर दुःखी हैं । गाँव में फैली गन्दगी कवि के मन में वहाँ के लोगों के प्रति खीझ पैदा करती है । उनकी 'गाँव' शीर्षक कविता वहाँ का यथार्थ रूप प्रस्तुत करती है।[29] गाँवों में व्याप्त दोषों से ही वे केवल परिचित नहीं, वरन् गाँव में धीरे-धीरे आ रही नवीन-चेतना का आभास उन्हें है । तभी तो उन्हें कल पर विश्वास है -

"कल सुनना मुझे/जब दूध के पौधे झर रहे हों

सफेद फूल/निःशब्द पीते हुए बच्चे की जुबान

पर/और रोटी खायी जा रही हो/चौके में/

गोस्त के साथ/जब! खटकर (कमाकर) खाने

की खुशी/परिवार और भाई चारे में/ बदल

रही हो--कल सुनना मुझे ।

आज मैं लड़ रहा हूँ।"[30]

मुक्तिबोध की कविताओं में लोक-संवेदना :-

मुक्तिबोध हिन्दी साहित्य के ऐसे अद्वितीय कवि हैं, जिनकी कविताएं लिखी नहीं गयी हैं, वरन् स्वयं प्रवाहित हैं । स्वयं प्रवहण-शीलता संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का दूसरा नाम है । कविता अकृतक होती है, स्वतः बहती है और अपनी धारा में सहृदय को भी अनन्त की ओर बहा ले जाती है । सामन्ती साम्राज्यवादियों की दुर्नीति से श्रमिक वर्ग को मुक्ति दिलाना ही मुक्तिबोध का अपना बोध है । लोक-व्यथा से पीड़ित मुक्तिबोध रहस्यमय विराट पुरूष के अवतार की कल्पना नहीं करते हैं वरन् क्रान्ति-पुरूष के जन्म ले लेने की कल्पना करते हैं । यही क्रान्ति-पुरूष शोषितों के कष्ट को दूर करने में सक्षम हो सकता है -

"उस कोमल-कोष के पराग-स्तर/पर खड़ा हुआ/सहसा होता है प्रकट एक/

वह शक्ति पुरूष/जो दोनों हाथों से आसमान थामता हुआ आता है ।"[1]

शोषितों की असहनीय व्यथा से पीड़ित मुक्तिबोध समन्वयवादी दृष्टिकोण को एक छलावा मानते हैं । सामन्तवादियों के संहार से ही शोषितों के जीवन का अन्धकार प्रभात का रूप धारण कर सकेगा-

"बिना संहार के सर्जन असम्भव है/समन्वय झूठ है/

जब सूर्य फूटेंगे/वे उनके केन्द्र टूटेंगे/.... उनके

नाश में तुम योग दो ।"[2]

वे शोषण मुक्त समाज की कल्पना ही नहीं करते हैं वरन् इसी समाज में जीना चाहते हैं । मुक्तिबोध दीन-हीन के स्वरों में यही कहते रहें कि "मैं खुद मर मर कर जिया/अंधेरे कोने में एकान्त।"[3] असहाय और निर्बल जनों के जीवन में सदा अंधेरे का साम्राज्य रहता है, जिसके एक कोने में वह मर-मर कर जीता रहता है ।

तथाकथित सभ्य-समाज में एक बहुत बड़ा वर्ग- जिसे हम मेहनतकश कहते हैं,

जो सभ्य समाज को जीवन प्रदान करते हैं और जो उनके चेहरे को अपने खून से सींचकर गुलाब जैसा लाल बनाते हैं– वे स्वयं अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर चलते रहते हैं । उनके पैरों के नीचे आग रहती है । वे न ठीक से खड़े रह सकते हैं, न चल सकते हैं ।

मुक्तिबोध शोषित की व्यथा से इतने पीड़ित हैं कि वे कह उठते हैं कि इनकी व्यथा रूपी कील मेरे पाँव में धँसकर प्राणों के भीतर घुसी हुई है । इससे मन शून्य हो गया है । व्रणाहत पैर को लेकर वे दर्द से गर्म छत पर छटपटा रहे हैं लेकिन उनकी व्यथा को दूर करने में अपने को असमर्थ पाते हैं ।[4]

मुक्तिबोध जब व्यष्टि–व्यथा को समष्टि का रूप देते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी आत्मा व्यष्टिमूल में नहीं, वरन् समष्टि की मार्मिक व्यथा के समुद्र में डूबकर समस्याओं के समाधान के लिए स्वयं प्रकाश स्वरूप किसी ऐसे रत्न को ढूँढ़ती रहती है जो व्यथित के लिए वरदान बन सके ।

मुक्तिबोध का हिन्दुस्तान एक ऐसा दीन व्यक्ति है जिसके शरीर के माँस को शोषितों ने खा डाला है । वह सूखी हुई अस्थियों के सहारे हिलता हुआ चलता है । उसे तन ढँकने को वस्त्र प्राप्त नहीं होता है । वह रास्ते पर बिखरे हुए चावल के दानों को लपककर बीनता रहता है–

"सूखी हुई जाँघों की लम्बी–लम्बी अस्थियाँ
हिलाता हुआ चलता है
लँगोटी धारी यह दुबला मेरा हिन्दुस्तान
रास्ते पर बिखरे हुए
चावल के दानों को बीनता है लपककर ।
मेरा साँवला इकहरा हिन्दुस्तान ।"[5]

इस कविता में 'लपककर' शब्द दीन, भूखे व्यक्ति की क्षुधा की तीव्रता को अभिव्यक्त करता है। वह रास्ते पर पड़े हुए धूल-धूसरित चावल के दानों को लपककर इसलिए उठाता है कि उसे कोई दूसरा न उठा ले ।

मुक्तिबोध सभ्य समाज को 'बीमार समाज' कहकर गर्भपात जैसे कुकृत्यों पर अत्यन्त संवेदनशील हो जाते हैं[6] वे नारी के शोषण को अत्यन्त मर्मस्पर्शी रूप में चित्रित करते हैं । ममतामयी माँ झरने के तट पर अपने नवजात शिशु को समाज के भय से छोड़ जाती है किन्तु मुक्तिबोध की संवेदना सहसा जग कर अँधियारे, सुनसान स्थान से उस अनुभव-बालक को अपनी गोदी में उठा लेती है और अति प्रसन्न होकर उसे अपने घर ले आती है।[7] कवि अपनी खिड़की से डूबते हुए चाँद को देखना चाहता है। इसके डूबने पर ही शोषित, दलित दीन-हीन जन की रक्षा हो सकेगी । सभ्य समाज के द्वारा शोषित नारी के तन-मन दोनों वाष्प बन कर कुहरे का रूप धारण कर लेते हैं ।[8] सामन्तवादी घराने की जागीरदार बूढ़ी सास जैसे विद्रोहिणी विधवा बहू की पीटी गयी पीठ पर बैठकर गर्म-गर्म लोहे की शलाका से पीठ को दागती है, उसी प्रकार जन-जन की व्यथाओं की आग ने मुक्तिबोध के हृदय को दाग दिया है ।[9]

मुक्तिबोध- "गुँथे तुमसे बिंधे तुमसे" शीर्षक कविता के द्वारा शोषित जनों से अपने आत्मिक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करते हैं । जलधि, पर्वत तथा हजारों मील की दूरी शोषितों के प्रति कवि की संवेदना के कोमल तंतु को किसी प्रकार नहीं तोड़ सकती है क्योंकि वे संवेदनाएँ शब्द मात्र नहीं है वरन् वे मुक्तिबोध के मस्तिष्क-कोष और हृदय के रूधिर-कोषों में एकाकार हो गयी हैं ।[10]

सृष्टि के प्रारम्भ से शोषित दीन जनों के उद्धार की बात कही जा रही है, किन्तु उनके उद्धार के स्थान पर उनका संहार ही हो रहा है । स्वतन्त्र भारत में अमीर व गरीब की बीच की दूरियाँ बढ़ी ही हैं । मुक्तिबोध का हृदय गरीबों, शोषितों और दलितों

के लिए है । ये अपने काव्य के माध्यम से अपने हृदय के व्रण रूप शोषितों का उद्धार चाहते हैं । ये हरिजन बस्ती की गलियों में पेड़ पर लटकी हुई कुहासे के भूतों की सांवली चुनरी देखते हैं । उस चुनरी में टेढ़े मुँह वाले चाँद (शोषक पूँजीपति) की कंजी आँखे और गंजा सिर अटका हुआ है जो हरिजनों को भयाक्रान्त कर रहा है ।[11]

मुक्तिबोध गरीब, फटेहाल, भूखे किन्तु मुस्कराते चेहरों के बीच जोर से ठहाका लगाकर उनमें घुल-मिल जाने वाले कवि हैं।[12] मुक्तिबोध भक्त-प्रहलाद[13] की भाँति अकेले की मुक्ति नहीं चाहते हैं, वरन् वह सबके (दीन-दुःखी आदि) साथ ही मुक्ति चाहते हैं- "याद रखो/कभी अकेले में मुक्ति न मिलती/यदि वह है तो सबके साथ है।[14] 'गुंथे तुमसे विधे तुमसे' शीर्षक कविता यह अभिव्यक्त करती है कि मुक्तिबोध मजदूर-शोषितों की आत्मा है । वे उन्हीं के साथ जल-रूप द्युति-निष्कर्ष को पीना चाहते हैं।[15] यह द्युति-निष्कर्ष क्रान्ति का प्रकाश है जो मध्यम वर्ग के लोगों से प्राप्त नहीं हो सकता है वरन् शोषित मजदूरों से ही हो सकता है । "इसी बैलगाड़ी को" शीर्षक कविता में मुक्तिबोध किसान की बैलगाड़ी को स्वयं हॉकते हुए किसान के दुःख-दर्द को अपना दुःख समझते हैं।[16] मुक्तिबोध जैसा विश्व का कौन कवि होगा जो भूखी-मुख-छवियों, रास्ते के कागज खाती गाएं, घूरे पर अन्न बीनती गरीब मॉएँ और गन्दे कराह को माँजते हुए बालक के चेहरे को देखकर मुँह तक गये कौर को फेंक देगा, भूखे लेटकर फटे कण्ठ से रूदन करेगा और तड़ित बनकर बालकों के हाथ से मैले बर्तनों को छीनकर स्वयं माँजने लगेगा। सभ्यता के अंधेरे भयानक कारागार को तोड़ने की शक्ति रखने वाला कवि अपने रंगो (गरीब शोषित मजदूरों) को खोजता हुआ कहता है कि हरिया-तूता, आक, धतूरा (काले मजदूर, उपेक्षित, शोषित, दलित जन) ही काम आयेंगे । श्री हीन दीन के साथ ही कवि अपना जीवन बिताना चाहता है, उनके बिना उसके लिए आसमान बंजर रहेगा और सारी जमीन उजड़ी होगी ।[17]

"भाग गयी जीव" कविता के माध्यम से मुक्तिबोध झोपड़ी के जीवन को स्वीकार करते हैं, जहाँ उन्हें ठण्डे प्याऊ पर स्नेहिल जल मिलता है जिसमें हृदय और प्राण का अनमोल माधुर्य मिला होता है।[18] 'समय के मारे हुए' जन मुक्तिबोध के ही प्रिय हो सकते हैं, किसी अन्य के नहीं–[19] "जिन्दगी का रास्ता" शीर्षक कविता में गरीब रामू के रूप में लोक की संवेदनाओं में डूब जाने वाला कवि गरीबिन माँ के द्वारा बेचे हुए तथा क्रेता के द्वारा मार खाकर काम करते हुए पाँच वर्ष के बालक को देखकर दुःख के समुद्र में विमज्जित हो जाता है। उस फटेहाल बालक को न ममताभरी पुचकार मिली, न पढ़ने का अवसर ही प्राप्त हुआ।[20] रामू रूप लोकजन दिनरात काम करता रहता है पर किसी को उस पर करूणा नहीं आती।[21] 'मुक्तिकामी पैरों के मोच की चीख' कविता में मुक्तिबोध की संवेदना लोक जीवनकी रक्षा के लिए व जानवरों (पूँजीपतियों) के विनाश हेतु अपनी अस्थियों के अस्त्र बन जाने पर अपने को सफल मानती है ।[22]

मुक्तिबोध पूँजीवाद के घोर विरोधी हैं । 'मेरे लोग' कविता में वे पूँजीवाद के विरोध में कहते हैं–"यह साफ गहरा दूधिया करता/व चूने की सफेदी में चिलकते से सभी कपड़े निकालूँगा"।[23] 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' कविता में कवि का चाँद पूँजीवादी व्यवस्था या पूँजीवाद का प्रतीक है । यह चाँद टेढ़े मुँह वाला है । इससे अमृत की अभिलाषा करना अपने को वञ्चना के दलदल में फँसाना है । यह तो दलितों पर सर्वदा विष उगलता रहता है–

"नगर के बीचो-बीच

आधी रात– अँधेरे की काली स्याह–

x x x x

चाँद का मुँह टेढ़ा है

x x x x

धरती पर चुपचाप जहरीली छिः थूः है ।"[24]

कवि की दृष्टि में चाँदनी आवारा मछुओं या शोहदों के समान है, जो पेड़ों के नीचे बैठकर मछलियों को फँसाती रहती है । यह चाँदनी पूँजीपति के लिए भले ही सुधा हो, किन्तु कवि की दृष्टि में वह चोर और उचक्का ही है।[25] इस कविता में कवि ने पूँजीवाद की क्रूरता का मार्मिक चित्रण किया है । गांधी और तिलक के पुतले पर बैठे हुए घुग्घू (उल्लू) आपस में बात कर रहे हैं । गांधी के पुतले पर बैठा हुआ उल्लू कहता है– "... मसान में/मैंने भी सिध्दि की/देखो मूठ मार दी/मनुष्य पर इस तरह -- /तिलक के पुतले पर बैठे हुए घुग्घू ने/देखा कि भयानक लाल मूठ/X X X X/देख उसने कहा कि वाह वाह/X X X X/रात्रि की अधियारी सचाइयाँ घोटके/मनुष्यों के मारने के खूब हैं ये टोटके ।"[26]

उल्लू लक्ष्मी का वाहन होने से पूँजीवाद का प्रतीक है । पूंजीपति उल्लू की भाँति दिन में अंधा होता है, वह रात्रि में ही देखता है । अहिंसा के प्रतीक गाँधी के पुतले पर बैठकर उल्लू का 'मूठ मारना' यह सिद्ध करता है कि गाँधी का 'अहिंसावादी सिद्धान्त' एक अर्थहीन पुतला मात्र है । उसके सिर पर बैठकर पूँजीपति हिंसा का नग्न ताण्डव करता रहता है ।

ये पूँजीपति दीन–दुखियों की फूस की झोपड़ियों को अपनी एक फूँक से उड़ा देते हैं। पसीने की बूदों से बनाये गये उनके घर क्षण भर में जमीं–दोज हो जाते हैं । उनकी जिन्दगी झुलसी हुई पुरानी रूई के टुकड़ों सी हो गयी है जो किसी काम में नहीं आ सकती । शोषकों के अत्याचारों ने गोद के शिशुओं को टोकरी में जड़ीभूत कर दिया है।[27] मुक्तिबोध की दृष्टि में शोषितों की जिन्दगी खण्डहर बन गयी है लेकिन उनके हृदय में शक्तिशाली विचारों की लहलहाती तुलसी आज भी खड़ी है।[28] मुक्तिबोध देख रहे हैं कि

पूँजीवादी शक्तियाँ शासन के चाकू से विद्रोहिणी लोक-बुद्धि की त्रिकालदर्शी आँख को काटकर निकालने का प्रयास कर रही है किन्तु उनमें इतना उत्साह भर गया है कि उनके प्रयास को वे निष्फल करने के लिए ललकार रहे हैं।[29] कवि को पूँजीवाद के गगन की कालिमा से मुक्ति की सुबह का इन्तजार है- "सुबह होगी कब और/मुश्किल होगी दूर कब/समय का कण-कण/गगन की कालिमा से/बूँद-बूँद चू रहा/तड़ित उजाला बन "।[30]

ग्रामीण जन के प्रति संवेदनशील मुक्तिबोध को ग्राम्य-धरती सदैव आकर्षित करती रही है । इसीलिए उनकी कविता ग्राम्य-धरती के हृदय पर जलते हुए कण्डे की लाल आग से जन्म लेती है, जिसकी आँच पर गरीब किसान अपनी टिक्कड़ (बट्टी) सेंकते हैं। इस टिक्कड़ से निकलने वाली सुगन्ध ईमान की भाप बनकर आत्मा में फैलती रहती है ।[31] कवि अपनी क्रान्ति को ग्राम्य जीवन की बैलगाड़ी के रूप में प्रस्तुत करता है । इनकी क्रान्ति की बैलगाड़ी ऊँचाई पर जाना चाहती है किन्तु-" पहाड़ी ढलान की/अंधेरी ऊँचाई में/प्रभीषण एक मोड़ पर/बैल जब बिचक गये/झाड़ी में जा फँसी/गाड़ी यह हमारी/व हम खड्ड में जा गिरे"।[32]-इनकी गाड़ी के खींचने वाले जब ऊँचाई पर चढ़ने में असमर्थ हो जाते हैं तब इनकी गाड़ी गड्ढे में गिर जाती है और गाड़ी हांकने वाले क्रान्ति नेता के ललाट पर सूजन की छोटी सी टेकड़ी निकल आती है किन्तु वह हार नहीं मानता है । इस दुःख की घड़ी में उसके अंग हवाओं से खेलते रहते हैं । वह चाँद, तारे, आसमान को सहचर मानकर आगे बढ़ता रहता है ।

'ओ चीन के किसानों' कविता ग्राम्य-माटी की महक से आपूरित है । सूरज की किरणें जब गेहूँ का रूप धारण कर लेती है तब किरणों में गेहुँआपन आ जाता है । तब आकाश का धरा पर पूर्णतः समापन हो जाता है।[33] इस कविता का मूल कथ्य यह है कि **जब तक पूँजीवाद रूपी आकाश धरती पुत्रों** की आत्मा में मिलकर धरती पुत्र नहीं बनेगा तब तक सुख शांति की प्राप्ति असम्भव है । मुक्तिबोध पहाड़ को केवल प्रकृति का

उपादान ही नहीं मानते हैं वरन् इसे सुखी (हृदयहीन), कठोर (निर्दय) और नंगी (बर्बर-क्रूर) पूंजीवादी व्यवस्था के रूप में देखते हैं। इन्द्र ने भी इनके पर काटे थे । इसलिए वे भी इसे इतिहास के समुद्र में फेंकने के लिए मजदूर नेता को उत्साहित करते हैं ।[34]

मुक्तिबोध ने चन्द्रमा को पूँजीवाद का प्रतीक माना है किन्तु एक स्थल पर चन्द्रमा लोक' का प्रतीक है जिसे राहु-केतु रूपी पूँजीवाद ग्रस रहा है । इसीलिए लोक रूपी शशी को ग्रसने में मग्न सौ राहु-केतु रूपी पूँजीवाद को वे नष्ट कर देना चाहते हैं।[35] फासिज्म और पूँजीवाद के विरोध में लिखी गयी 'अंधेरे में' शीर्षक कविता प्राकृतिक अँधेरे के क्रूरतम स्वरूप को अभिव्यक्त करती हुई सर्वहारा वर्ग को एकता के सूत्र में बांध कर मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग की जड़ता को तोड़ने का प्रयास करती है।[36] मुक्तिबोध की संध्या उदासी का रंग लेकर उतरती हुई पर्वतों के पास जाती है।[37] ग्रामीणों के घर-घर में लहलहाता हुआ तुलसी बन भी मुक्तिबोध के लिए प्राकृतिक वरदान नहीं है वरन् वह जन क्रान्ति है जो शोषितों के घर-घर में लहलहा रही है, `परन्तु वह मारी-मारी फिर रही है'।[38] मालव निर्झर की झर-झर कंचन रेखा' कविता में कवि ने प्रकृति के विभिन्न चित्रों का जो रूप प्रस्तुत किया है वह अपने आप में अद्वितीय है । उगता हुआ अरूणिम सूर्य, तालाब, कुएँ अथवा झील का वर्णन मानवीय संवेदना की वह परिणति है, जहाँ मानवता के वास्तविक रूप का दर्शन होता है।[39] मुक्तिबोध ने 'सूरज के वंशधर' कविता में जहाँ एक ओर ग्राम्य जीवन और प्रकृति के कोमल भावों के सुन्दर सामंजस्य को प्रस्तुत किया है। वहीं दूसरी ओर उनके हृदय की जनक्रान्ति ज्वालामुखी सा विस्फोट करती रहती है —

" मन की रातरानी महक उठती है अकस्मात्/बस्ती में झिलमिलाते दिये लग गये हैं/कि जिनके प्रकाश में/शायद कुछ विद्यार्थी कुछ पढ़ रहे हैं । .... सुनहली काँपती सी सिर्फ एक लहर रह जाती है/कि जिसे क्रान्ति कहते हैं/कि कहते हैं जन क्रान्ति "।[40]

जीवन चिन्तन से लेकर काव्य चिन्तन तक मार्क्सवादी दर्शन के प्रभाव में रहने वाले मुक्तिबोध रूढ़िवादी भारतीय सांस्कृतिक-परम्पराओं, विश्वासों, मान्यताओं और रीति रिवाजों के प्रति अनास्थावान् रहे हैं । वे भारतीय दर्शन के 'निष्कामवाद' का प्रबलतम विरोध करते हैं । उनकी दृष्टि में निष्काम कर्मवाद का दर्शन मानवीय सभ्यता के चेहरे पर गुलाबी पाउडर के नीचे छिपे चेचक के बड़े-बड़े दाग की भाँति है ।[41]

मुक्तिबोध को भारतीय संस्कृति के सुवासित वस्त्रों के अन्दर की देह वासी (सड़ी हुई) नग्न और बर्बर प्रतीत होती है । इतना ही नहीं, वह संवेदनाहीन होने के कारण सूखी हुई है, मानसिक रोग से ग्रस्त है तथा पञ्जर ही पञ्जर है । यह संस्कृति एक तिलस्मी चक्रव्यूह का निर्माण करती है, जो सभ्यता के नियमों से संचालित होती है । भारतीय संस्कृति की चक्की में बंधी हुई उस गर्भवती नारी को देखकर मुक्तिबोध का हृदय द्रवित हो जाता है जो वजनदार घड़ों से पानी भरती रहती है, कपड़ों को जोर-जोर से पटककर धोती रहती है और घर के काम करके पुत्रों के लिए मजदूरी भी करती है ।[42]

मुक्तिबोध मानवशक्ति व जनक्रान्ति को ही महत्तम शक्ति, विराट्शक्ति मानते हैं– "हवा में लहराती सुनहली ज्वाला ,एक / रेंगती सी मेरे पास/ धीरे-धीरे आती हुई। आसमान छूती हुई व धरती पर चलती हुई/बिखराकर नीले स्फुलिंग समूह/वह बनती है अकस्मात विराट मनुष्य-रूप -- मुझमें समा गयी कि/उसमें समा गया मैं/सुनहली काँपती सी सिर्फ एक लहर रह जाती है / कि जिसे क्रान्ति कहते हैं "।[43]

'इस नगरी' कविता में कवि ने आदर्शो की खूब खिल्ली उड़ायी है।[44] "एक प्रदीर्घ कविता का प्रस्ताविक" कविता में मुक्तिबोध मार्मिक पीड़ा के साथ कहते हैं कि– क्रान्तिकारी अपना सब कुछ न्यौछावर कर– "अपने तन-मन की दृढ़ता के पत्थर-/ईटों से, प्राणों के लोहे के गाडर से/हृदय-रक्त-मस्तिष्क-रक्त/के गारे चूने से, खाई पर भव्य बनाया/अति विशाल मजबूत एक पुल"[45]–तब अन्याय का अन्त होगा ।

'एक अरूप शून्य के प्रति' कविता के माध्यम से मुक्तिबोध ने ईश्वर की सत्ता का विचित्र उपहास किया है । वह कहते हैं कि 'मुझे बिल्कुल तेरी जरूरत नहीं है।[46] उन्हें भारतीय-संस्कृति और विचार के प्रत्येक सूर्य के भीतर काले धब्बे ही दिखाई देते हैं । इन धब्बों के विवरतल में से गिद्धों का समूह (अत्याचारीगण) निकलकर पृथ्वी तल के साधारण जनों की आँख और उनके क्रान्तिकारी विचारों को नष्ट करने का प्रयास करते रहते हैं ।[47]

मुक्तिबोध आम-आदमी को जड़ बना देने वाली रूढ़ियों व रीतियों को तोड़ने के लिए ही मानों अवतरित हुए थे । उनकी दृष्टि में इस पृथ्वी पर दो ही प्रकार के लोग रहते हैं एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित । वे धार्मिक और आध्यात्मिक अन्धविश्वासों से मुक्त थे । वे जानते थे कि शासक वर्ग आध्यात्मिक और धार्मिक अन्ध-विश्वासों के अमृत घूँट पिलाकर भौतिकवादी विरोध की चेतना को छल से कुचल देना चाहता है। वे कहते हैं -"इतने में दसवीं मञ्जिल की सफेद छत पर से/शिम्पैंजी/आता है सामने/हाथ में एक बड़ा पपीता है/दूसरे में पुस्तक है गीता है/पढ़ता है जोर से/सब लोग तमाशा देखते हैं शोर/सुनते हैं, जगत थरथराता है -- क्योंकि आध्यात्मिक चोंगे सब/अकादमी कुर्सी पर सुशोभित है ।"[48] उन्होंने इन पंक्तियों में यह बताया है कि धर्म और अध्यात्म पूँजीवादी व्यवस्था के ऐसे अस्त्र हैं जिनके द्वारा शोषितों की क्रान्तिकारी शक्ति को दबाया जा सकता है । इसलिए वे इन मान्यताओं के विरोधी रहे हैं ।

धार्मिक मान्यताएँ सम्प्रदाय को जन्म देती है । भारत में विभिन्न धर्मो को मानने वाले लोग हैं, अतः यहाँ विविध सम्प्रदाय हैं । ये सम्प्रदाय धर्म के नाम पर लोगों की एकजुट होने की मनोवृति पर प्रहार करते हैं । भारत की अनपढ़ व कम पढ़ी लिखी जनता तथाकथित सम्प्रदायवादियों की दुर्नीति को न भाँप सकने के कारण शीघ्र ही धर्म के रूढ़िगत बन्धनों में फँसकर अपनी प्रगति के मार्ग को अवरूद्ध कर देती है । इसी कारण

मुक्तिबोध इन धार्मिक सम्प्रदायों के प्रबल विरोधी रहे हैं । उनका मानना है कि धर्म-सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में आम जनता का शोषण करते रहते हैं । वे 'ओ काव्यात्मक कविधर' कविता में उस ब्रह्मदेव का- जो (निज अङ्कशायिनी दुहिता-पत्नी सरस्वती/या विवेक घी)[49] स्वयं अदृश्य रहकर विवेक घी के द्वारा धनी को धनी व निर्धन को और निर्धन बनाता रहता है- उपहास करते हैं "एक अरूप शून्य के प्रति" कविता में उन्होंने धर्म और दर्शन के द्वारा दिखाये जाने वाले उस आत्म के प्रकाश को खण्डित किया है जिसके माध्यम से उसके पुरोधा एक सम्प्रदाय खड़ा कर एक-दूसरे को अपमानित करते हुए समाज में घृणा-द्वेष को जन्म देते हैं- "देखो तो-/प्रतिपल तुम्हारा नाम जपती हुई/लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया/स्वार्थ सफलता के पहाड़ी ढाल पर/चढ़ती है हाँफती/आत्मा की कुतिया/राह का हर कुत्ता जिसे छेड़ता है, छेंकता/लेकिन तुम खूब तो/सूनेपन के द्रोह में अँधियारी डूब हो ।"[50]

वस्तुतः मुक्तिबोध धर्म-सम्प्रदाय व जातिगत रूढ़ियों से पूर्णतया मुक्त थे । वे "लठधारी बूढ़े से पटेल बाबा/ऊँचे से किसान दादा/वे दाढ़ीधारी देहाती मुसलमान चाचा और बोझ उठाये/माँए बहन बेटियाँ" सबको सलाम करते थे और "आँसुओं से तर होकर प्यार के" सबसे गीला-गीला मीठा आर्शीवाद चाहते थे।[51] कवि को काल-मूर्ति क्रान्ति शक्ति से युक्त वह लुहार ही प्रिय है जो पूँजीवाद पर अपने प्रचण्ड हथौड़े से चोट कर रहा है । उसकी भव्य देह में ये विराट क्रान्ति-पुरूष का दर्शन करते हैं ।[52]

मुक्तिबोध भली-भाँति जानते हैं कि समाज के दुःख-दैन्य-कष्ट को मात्र दया-माया-ममता से नहीं, वरन् वैज्ञानिक-सामाजिक उपायों से दूर किया जा सकता है। आध्यात्मिक धरातल पर भी उन्हें मिटाया नहीं जा सकता । "व्यक्तिवाद, दार्शनिक क्षेत्र में **आत्मा को प्रधानता देकर भाववादी तरीके से संसार की ओर देखता तथा उसकी व्याख्या** करता है । इसीलिए वह किसी भी मूलभूत सामाजिक समस्या का सदा-सर्वदा के लिए

निराकरण नहीं कर पाता।"53 ऐसी भौतिकवादी विश्व-दृष्टि रखने वाला कवि धर्म व आध्यात्म के बन्धन में कैसे बँध सकता है ।

वस्तुतः मुक्तिबोध को मिली भौतिकवादी विश्व-दृष्टि ने उनमें विवेक की वह अग्नि प्रज्वलित की, जो उन्हें समाजवाद, मानववाद की स्थापना के लिए सतत् प्रयत्नशील रखती है । उन्होंने जीवनानुभव और जीवन-चिन्तन के समुद्र में डूबकर इस विश्वदृष्टि रूप अद्वितीय रत्न को ढूढ़ा था ।

साधारण श्रमशील लोगों के बीच अपने जीवन को व्यतीत करने वाले मुक्तिबोध के हृदय में विश्व का दलित समूह समाया है । इसीलिए वे सर्वदा अपने हृदय के द्वार को खटखटाते हुए निश्चयात्मक संकल्प करते रहते हैं ।54

रघुवीर सहाय की कविताओं में लोक संवेदना :-

सन् १६४७ में कवि 'बच्चन' की वेदनापूर्ण कविताओं से प्रभावित होकर[1] काव्य रचना की ओर प्रवृत्त होने वाले कवि रघुवीर सहाय की प्रारम्भिक कविताओं में प्रकृति-प्रेम व पीड़ा के स्वर प्रमुख रूप से दिखाई पड़ते हैं । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरान्त कवि को यह आशा थी कि देश की स्थिति में कुछ सुधार होगा[2] और शताब्दियों से शोषित कृषकों, मजदूरों और मेहनतकशों की दयनीय दशा में अभूतपूर्व परिवर्तन होगा लेकिन स्वतन्त्र भारत की कल्पनातीत आडम्बरशीलता, मिथ्यावादिता, सर्पग्रासी स्वार्थ लिप्सा, सहानुभूति हीनता और सामाजिक कार्यों के प्रति उदासीनता ने कवि को इतना मर्माहत किया है कि इन विद्रूपताओं को अभिव्यक्त करने के लिए इनकी लेखनी में संवेदनशीलता अपने आप प्रस्फुटित हो गयी । रघुवीर सहाय की आँखों के सामने स्वतन्त्र भारत के बीस वर्ष बीत गये किन्तु मनुष्य की लालसा तिल-तिलकर मिटती चली गयी **(-"बीस बरस बीत गये/लालसा मनुष्य की तिल-तिल कर मिट गयी ।")**[3]। **सर्वत्र मक्कारी** व आडम्बरपूर्ण जीवन दिखाई पड़ रहा है-("बांध में दरार/पाखण्ड वक्तव्य में/घरतौल

न्याय में/मिलावट दवाई में/नीति में टोटका/अहङ्कार भाषण में/... संघ रहे संघ रहे उसने कहा/भारत का/चाहे हर भारतीय हर भारतीय का गुलाम रहे/[4]

शासकों के अन्याय से संपीड़ित सामान्य व्यक्ति के प्रति रघुवीर सहाय अत्यन्त संवेदनशील रहे हैं। पाखण्ड जन्य अनैतिक कार्यो को देखकर कवि 'आत्महत्या के विरूद्ध' में मारे गये अनाथ लड़के के विषय में कह उठता है- "एक शब्द कहीं नहीं कि वह लड़का कौन था/क्या उसकी बहने थीं/क्या उसने रक्खे थे टीन के बक्से में अपने अजूबे/वह कौन कौन से पकवान/खाता था/एक शब्द कहीं नही एक वह शब्द जो वह खोज/रहा था जब वह मारा गया।"[5]

रघुवीर सहाय एक-एक दृश्य को बहुत बारीकी से देखकर उसे अपनी कविता के शब्दों में बाँधते हैं । फटेहाल जीवन जीने वाला बूढ़ा मिस्त्री और उसका बीस-वर्षीय पुत्र नरेन यह जानकर भी कि पेंच की चूड़िया मरी हुई हैं, फिर भी उसे किसी मजबूरी में कस रहे हैं।[6] इस कसावट में एक ओर शासन पर प्रहार है और दूसरी ओर दुर्बल मनुष्य के मेहनती हाथों की विवशता है । रघुवीर सहाय विकृत व्यवस्थाओं से पीड़ित उस असहाय मरीज का अत्यन्त संवेदनापूर्ण चित्रण करते हैं, जिसका तीमारदार उसे अस्पताल में छोड़कर घर नहीं जा सकता क्योंकि उसका अता-पता बताने वाला भी कोई न मिल सकेगा (अस्पताल में मरीज को छोड़कर आ नहीं सकता है तीमारदार/दूसरे दिन कौन बतायेगा कि वह कहाँ गया/)[7] रघुवीर सहाय की दृष्टि में उन मजदूरों की पीड़ा समायी हुई है जो नेताओं के लिए कुर्सी ढोते हैं किन्तु उन्हीं के द्वारा अपमानित व निष्काषित होकर एक कोने में बैठे हुए अपमान के विष को निगलते रहते हैं-"निष्काषित होते हुए मैंने उसे देखा था/जयपुर अधिवेशन जब समेटा जा रहा था/जो मजूर लगे हुए थे कुर्सी ढोने में/उन्होंने देखा एक कोने में बैठा है/अजय अपमानित/वह उसे छोड़ गये/कुर्सी को/सन्नाटा छा गया"।[8]

रघुवीर सहाय उन असाधारण कवियों में हैं जिनकी लेखनी के गागर से संवेदना की सागर-लहरियाँ निकलती हुई अभिमानी आकाश को चूर-चूर कर देना चाहती हैं । असहाय स्त्री को अपने बच्चे को गोद में लेकर पूँजीवादी व्यवस्था की चलती हुई क्रूर बस में घिसटते हुए चढ़ते देखकर कवि अपने को भी उसके साथ घिसटता हुआ पाता है। (बच्चा गोद में लिए/चलती बस में/चढ़ती स्त्री/और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ/)।[9] अकाल के दुर्दिन में बाप कटोरे के पेंदे में पड़े हुए भात को गोद में लेकर बैठा है और बच्चा फर्श पर पड़ा है । भूख ने उसकी ममता को ब्रज बना दिया है-(कटोरे के पेंदे में भात/गोद में लेकर बैठा बाप/फर्श पर रखकर अपना पुत्र/खा रहा है उसको चुपचाप)।[10] 'कैमरे में बंद अपाहिज'[11] शीर्षक कविता में रघुवीर सहाय एक अपाहिज के साथ दिखायी गयी 'दिखावटी सहानुभूति' से अति दुःखी है । 'आजादी' शीर्षक कविता में कवि अत्यन्त प्रभावी शब्दों में देश में बढ़ती मूल्यहीनता की स्थिति पर कटु प्रहार करते हुए कहता है- "देश में बर्बरता/हत्यायें चीथड़े खून और मैल आज भारतीय संस्कृति के मूल्य हैं/और दया करते हैं लोग यह जानकर कि कष्ट अनिवार्य है/दया के पात्र को ।"[12]

लोकतान्त्रिक देश की इस स्थिति से दुःखी रघुवीर सहाय की कविताएँ पूँजीवाद के विरोध में खड़ी होकर नये समाज के सृजन के लिए तत्पर रहती है । कवि ऐसे सेठ को 'श्रद्धाञ्जलि' देने के लिए तैयार है जो हक माँगने वालों की बात न सुनकर अपने साँसों की परीक्षा से अपने भाग्य को गढ़ता रहता है- "जब कोई अपना हक माँगने जाता था/सेठ जी -- नथुनों की साँस को/उँगली पर जाँचने लगते थे।"[13] ऐसे पूँजीवादी सत्ताधारियों की विद्रूपता व खोखले वक्तव्य को व्यंग्यपूर्ण शैली में अभिव्यक्त करते हुए वे कहते है- "महासंघ का मोटा अध्यक्ष/धरा हुआ गद्दी पर खुजलाता है उपस्थ/सर नहीं/हर सवाल का उत्तर देने से पेश्तर/बीस बड़े अखबारों के प्रतिनिधि पूँछे पच्चीस बार/क्या हुआ समाजवाद/कहे महासंघपति पचीस बार हम करेंगे विचार/आँख मारकर

पचीस बार वह, हँसे वह, पचीस बार/हँसे बीस अखबार।"[14] पूँजीवाद अपने संसार की संरचना के लिए सामूहिक हत्या करके भी बचा रह जाता है । उसकी समाज में पहचान बनी रहती है । पूँजीवादी व्यवस्था का विरोध करने वाला जब पहचाना जाता है तब मार दिया जाता है।[15] पूँजीवाद शोषित जनों के बचपन और उसके अधेड़पन को अपने क्रूर हाथों से नष्ट कर देता है- "और आज जो बचपन में उस गुलामी में पिसते हैं/जिसमें पिसते थे हम इस शोषक सभ्यता में शासक पक्ष में/मिल जाने के पहले/उनसे हम कहते हैं देखो हमको देखो हम पर विश्वास करो/हमने भी बचपन में दुःख उठाये हैं ।"[16]

रघुवीर सहाय की कविता में दीन-दुःखियों, शोषितों और उपेक्षितों के प्रति मिलने वाली संवेदना उनके आम-आदमी के जीवन में प्रविष्ट होने की सूचना देती है । ताकतवर आदमी कमजोर को ढूँढ़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करता रहता है । उसकी हिंसा राजाश्रित और क्षमादान प्राप्त होती है, तभी वह खुलकर अन्याय करता रहता है - "ताकतवर लोग खोजते हैं कमजोर को/एक तरफ अस्पताल, झोपड़ी हजार वर्ष से वंचित जाति वर्ग, लाश, लुटे लोग/ढहे घर दुआर जिसको वे आश्रय दे और/दूसरी तरफ चित्रकार जो अपने खून से/कागज पर उनकी तस्वीर आँके/जन के मन भय भरे ।"[17]

पूँजीवादी व्यवस्था का साम्राज्य सर्वत्र व्याप्त है । रघुवीर सहाय "पहले आप" शीर्षक कविता के माध्यम से यह व्यक्त कर रहे हैं कि 'पहले आप' की संस्कृति गरीबों को अपना हक छोड़ देने के लिए विकसित की गयी है । डाक्टर, जिसकी दृष्टि में सभी रोगी समान हैं, के यहाँ पहले सम्पन्न व्यक्ति ही प्रवेश करते हैं, गरीब मरीज खड़े-खड़े डरता रहता है- "देख लो गरीब मरीज खड़े डरता है कि कुछ सजे-धजे लोग/डागदर के कमरे में पहले से घुस गये ।"[18]

'भीड़ में मैकू और मैं' कविता के माध्यम से उन्होंने एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था का वैभवशाली चित्र खींचा है, तो दूसरी ओर अकाल में मरने वाले सामान्य जनों की

दुर्दशा का हृदय विदारक दृश्य उपस्थित किया है । मरते हुए मनुष्यों के बीच खड़ा होकर मक्कार मंत्री विश्वास भरा भाषण दे रहा है राजधानी अकाल से दूर है वहाँ तो मक्खन और रोटी का अम्बार लगा रहता है- "कितनी दूर कितनी दूर राजधानी से अकाल/ मक्खन लो रोटी लो/--- देख आये दिग्विजय नारायण सिंह ने/क्या किया भोलाराम दास का/अलग-अलग खाती पकाती इस जाति ने/क्या किया जात पूछने के बाद व्यास का ।"[19]

रघुवीर सहाय की कविताएँ एक ओर सामान्य रूप से गन्धाते हुए, सुथन्ना पहने हुए लोग, बेचू, वल्द, निरहू, ढोड़े, मँगरे, पाँचू, गिरीश, मैकू आदि आम आदमी की अमिट व्यथा को अभिव्यक्त करती है, दूसरी ओर मुसद्दी लाल, पण्डित राजाराम, नेतराम, दिग्विजय नारायण जैसे पूँजीवादी शोषकों के चरित्र को जनता के सामने लाती है। रघुवीर के मन में दलितों के प्रति असीम प्रेम है, किन्तु दलितों के मन में उपजा अविश्वास कवि को उनसे संवाद करने का अवसर ही नहीं देता,[20] जो कवि के दुःख का कारण है ।

रघुवीर सहाय यद्यपि ग्रामीण मिट्टी में खेलकूद कर बड़े नहीं हुए थे किन्तु ग्रामीण किसानों और मजदूरों के उजाड़ जीवन से अपरिचित नहीं थे । 'अकाल' शीर्षक कविता भूख से आकुल जन की मर्मभेदिनी दुर्दशा का चित्र उपस्थित कर पाठक के हृदय को झकझोर देती है । पानी के अभाव में सूखे खेतों की फटी हुई दरारें चलती हुई प्रतीत होती है । भूमि की पर्त सूख गयी है । औरतों के बँधे हुए उरोज के भीतर क्षुधा की प्रचण्ड अग्नि जल रही है।[21] किसानों और उनकी औरतों की पीठ आसमानी चट्टानी बोझों को खाली पेट की स्थिति में भी ढो रही है।[22] रामगुलाम अपने शोषक पूँजीपति पण्डित राजाराम- जो ग्रामीण क्षेत्र का सर्वस्व है, अर्थात् वही अकाल है, वही अनुदान है, वही विधायक और सचिव है, वही पुलिस कप्तान है—के समक्ष हाथ जोड़े खड़ा दया की

भीख माँग रहा है।[23] इस कविता में कवि ने किसानों के प्रति अपनी संवेदना को अभिव्यक्त करते हुए शोषकों के प्रति घृणा को व्यञ्जित किया है । किसानों के प्रति अपनी संवेदना को बड़े ही मार्मिक शब्दों में व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा- "शहर की निगाह में गाँव के लोग 'दूसरे' हैं- एक वस्तु है, लोग नहीं और बहुत है तो सरकारी अनुदान के पात्र और सांस्कृतिक कौतूहल के विषय हैं -- ।" गाँवों से भरे भारत जैसे देश में औद्योगिक संस्कृति का अधकचरा विकास हो और वह मानसिक जड़ता की भारतीय परम्परा से गठबन्धन कर ले तो रचनात्मक संवेदना की बहुत बड़ी क्षति कर सकता है।[24] रघुवीर सहाय यह स्वीकार करते हैं कि गाँव से जुड़ा व्यक्ति ही सब मनुष्यों को एक समान समझ सकता है । वस्तुतः गाँवों में जो प्रेम और शान्ति का वातावरण है वह शहरों में नहीं है ।[25]

खेत की मेड़ पर खड़े होकर दूर-दूर तक फैली रेत को देखने वाले[26] रघुवीर सहाय यह नहीं स्वीकार करते कि ग्रामीण कृषक या मजदूर एक अलग जन्तु है और शहर का एक अलग जन्तु है, गाँव में रहने वाला छोटे दिमाग का, सङ्कीर्ण बुद्धि का और शेष संसार से मतलब न रखकर केवल अपनी खेती से मतलब रखने वाला है ।[27] वस्तुतः किसान के पास इतना समय नहीं है कि उसका दुरूपयोग करे । वह दिन-रात खून-पसीना एक करके अपने खेतों में ही लगा रहता है । उसके लिए दिन-रात, सर्दी, वर्षा और धूप का कोई महत्व नहीं है ।

रघुवीर सहाय की सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि ने ग्रामीण किसानों की सही तस्वीर पेश करते हुए कहा है कि गाँवों का आम आदमी भय के वातावरण में साँस लेता है । सरकार के नजदीक रहने वाले ग्रामीण प्रसन्न है । गाँव के लोग प्रत्येक स्थिति में- चाहे वे जीवित रहें या मुर्दा हो जाएं, इंसान की गरिमा की रक्षा के लिए संघर्ष करने की क्षमता रखते हैं। उनमें आर्थिक और सामाजिक भाई-चारे की समझ रहती है । रघुवीर सहाय ने

नारायनपुर और पारसवीघा में ग्रामीणों के साथ किये गये सरकारी जुल्म की समीक्षा[28] कर आम ग्रामीण जनता के प्रति अपनी संवेदना को अभिव्यक्त किया है । सहाय जी ने अपनी आँखों से देखा कि ताकतवर धरती को निचोड़कर अपनी सम्पत्ति बढ़ाते रहते हैं। वे सघन खेती करने वाले किसानों- जो अपने चारों ओर गरीबी और हिंसा फैलाते हैं, की उन्नति के साथ-साथ उन गरीब किसानों के- जिनके पास भूमि कम है, सिंचाई की व्यवस्था नहीं है- हित के लिए चिन्तित रहते हैं।[29] वे ऐसे दिखावटी करूणामय मन को धिक्कारते हैं जो मानवीय-प्रदर्शन के नाम पर एक नयी क्रूरता को उत्पन्न करता रहता है - (क्योंकि आज ताकतवर/धरती निचोड़कर दौलत बढ़ायेंगे/और इसे इस तरह बाँटेंगे कि हर समय/उनको गरीबी की जगहें मिलती रहें) ।[30]

गरीबों के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करने वाले रघुवीर सहाय प्राकृतिक उपादानों के प्रति भी संवेदनशील रहे हैं । चिड़ियों के चहकने को अनेक कवियों ने अपने-अपने ढंग से चित्रित किया है किन्तु रघुवीर सहाय की लेखनी की विशेषता है कि वह चिड़ियों के चिल्लाने को ज़ीवन से जोड़कर जीवन की यथार्थता की अनुभूति कराती हैं- "दो चिड़ियाँ यहाँ जब दिन चढ़ जाता है/रोज-रोज छज्जे पर वमचख मचाती है क्योंकि वे तिलौरी हैं, कर्कश आवाज हैं --- मैंने तो एक नया अनुभव पहचाना है । कुछ सच्चा लगता चिड़ियों का चिल्लाना है।"[31] अन्य कवियों से भिन्न संध्या के वर्णन में कवि ने संक्षेप में एक युवती की दर्दभरी कहानी को जो अभिव्यक्ति दी है वह अन्यत्र अदर्शनीय है- "कस्बे में दिन ढले/युवती के चेहरे पर/लालटेन की आभा/अब और कोहरे में/खोया हुआ आँगन/करती है पर उसे रोशनी लिए युवती।"[32] आम आदमी के जीवन को जीने वाली नारी का यौवन, जिन्दगी की घुटन और कोहरे में अपने ही आँगन में खो गया है लेकिन जिजीविषा उसे उत्साहित करती है किसी प्रकार आँगन को पार करने के लिए ।

रघुवीर सहाय ने 'प्रभाती', 'बसन्त', 'पहला पानी' आदि कविताओं में प्रकृति के सहज एवं जीवन्त चित्रों को उकेरा है । वस्तुतः कवि के लिए प्रकृति शरण स्थली न होकर सहभागी है जो आलम्बन और उद्दीपन से ऊपर उठकर मनुष्य और प्रकृति को बड़े ही कलात्मक ढंग से जोड़ती है । प्रकृति और जीवन का संश्लेष उनकी 'पानी के संस्करण', 'धूप',[33] 'आज फिर शुरू हुआ जीवन' आदि कविताओं में बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है ।

रघुवीर सहाय अद्वितीय परम्परावादी कवि हैं । इनकी दृष्टि में "परम्परा का अर्थ परम्परा का पालन नहीं है, परम्परा का पोषण भी नहीं है, परम्परा से कुछ लेकर आगे बढ़ना भी नहीं है वरन् आज की रचना को विगत की रचना में पहचानना ही परम्परा है।"[34] यह कथन यह प्रमाणित करता है कि ये वस्तुतः परम्परा को अविच्छिन्न रूप में नहीं स्वीकार करते हैं। नूतन सर्जना ही परम्परा की स्वीकृति है । परम्परा के ज्ञान और उसके अज्ञान से मुक्त होकर ही कोई कलाकार नूतन-सृष्टि करने में समर्थ होता है । जितने भी कवि हुए हैं सभी परम्परा के विपरीत अपनी बात भीड़ से पृथक होकर कहते हैं । भीड़ से पृथक होकर अकेला होना ही परम्परा से जुड़ते प्रगति के रास्ते पर चलना है । रघुवीर सहाय स्पष्ट शब्दों में कहते हैं– "जब तक हम पूरी मानव जाति को मानवीय प्रयत्न में शामिल करने का साहस नहीं करते, न तो परम्परा मिलने का कोई अर्थ है और न ही न मिलने का ।"[35]

रघुवीर सहाय की दृष्टि में किसी मूल्य की सुरक्षा के लिए उसे बार-बार दुहराते रहना ठीक नहीं है वरन् उसे नये संसार में ले जाकर नया रूप देना ही श्रेयस्कर है ।[36] इसीलिए ये 'फिल्म के बाद चीख' शीर्षक कविता में भीड़ से पृथक अस्तित्व के लिए चीखने की बात करते हैं– "बन्द होते हुए कमरे में/एक बार भीड़ में/जानबूझ/कर चीख/ना होगा/जिन्दा रहने के लिए।"[37] रघुवीर सहाय विश्वास की मूर्ति को तोड़ना नहीं

चाहते[38] किन्तु सर्जना को नवीन रखने के लिए अपने विचारों की मूर्ति को तोड़ते और बनाते रहने पर विश्वास करते हैं – ''अपनी एक मूर्ति बनाता हूँ और ढहाता हूँ।''[39] वस्तुतः समय परिवर्तन के साथ मूल्यों में न चाहते हुए भी परिवर्तन होता रहता है। रघुवीर सहाय इस सच को स्वीकार करते हैं – ''वक्त जब बदलता है एक सिरे से मानक तब बदल जाते हैं बहते हुए/जोर से पानी पर उतराते जाते हैं वे चिकने खोपड़े।''[40]

रघुवीर सहाय की दृष्टि विवेकमयी है इसीलिए भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं करते हैं। वे सावित्री की संस्कृति 'पतिव्रत-स्वरूप' को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि आधुनिक नारी पुरूष के भाग्याधीन नहीं है।[41] खोखली मानवतावादी संस्कृति की बात करने वालों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं – ''हम उपन्यास में बात मानव की करेंगे/और कभी बता नहीं पायेंगे/सूखी टाँगे घसीट कर खम्भे के पास में आकर बैठे हुए लड़के के सामने पड़े हुए तसले का अर्थ।''[42]

रघुवीर सहाय 'पितृ देवोभव' संस्कृति को स्वीकार करते हुए ''कुछ पत्ते कुछ चिट्ठियाँ'' कविता संग्रह को अपने पिता को समर्पित करते हैं – ''शक्ति दो, बल दो, हे पिता, जब दुःखों के भार से मन थक जाय/पैरों में कुली की सी लपकती चाल छटपटाय/इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर घर तक पहुँचा आयें। कोट की पीठ मैली न हो/ऐसी दो व्यथा ......।''[43] ''लोग भूल गये हैं''- कविता-संग्रह को अपनी पत्नी विमलेश्वरी सहाय को समर्पित कर नारी मर्यादा को अभिव्यक्ति दी है।

रघुवीर सहाय जातिवाद, साम्प्रदायिकता, रूढ़ियों, अन्ध विश्वास आदि सामाजिक कुरीतियों के सदा विरोधी रहे हैं। जातिवाद पर किया गया व्यंग्य – ''राष्ट्र को महासंघ का संदेश है/जब मिलो तिवारी से – हँसो – क्योंकि वह भी तिवारी है/जब मिलो मुसद्दी से/खिसियाओ जात-पाँत से परे/रिश्ता अटूट है/राष्ट्रीय झेंप का।''[44] **शासन व्यवस्था के दोगले चरित्र का पर्दाफाश** करता है। कवि जाति-पाँति की

दुर्व्यवस्था पर तीखा प्रहार करते हुए कहता है कि जब कभी सत्ता बड़ी जातियों के हाथ से निकलकर छोटी जातियों के हाथ में आ जाती है तब इसकी आलोचना होने लगती है। यह आलोचना यथास्थिति को ही बनाये रखना नहीं चाहती है वरन् पीछे की ओर पलायन को आधुनिकता के रंग में रंग देना चाहती है।[45] बुद्धिजीवियों, कवियों और शासकों के दोहरे चरित्र पर कठोर आघात करने वाले कवि रघुवीर सहाय यह चाहते हैं कि समाज में जाति से रहित एक समरसता का वातावरण बने। किन्तु इसके विपरीत लोगों की वाणी और कर्म में बहुत दूरी बनी है- "शासन को बदलने के बदले अपने को/बदलने लगे और मेरी कविता की नकलें/अकविता जायें। बनिया बनिया रहे/ बाम्हन बाम्हन और कायस्थ कायस्थ रहें/ पर जब कविता लिखे तो आधुनिक हो जायें / खीसें बा दे जब कहो तब गा दें ।"[46]

रघुवीर सहाय ईश्वरवादी कवि नहीं है । वे ईश्वर के बराबर होने का साहस रखते हैं। वे ईश्वर से बराबरी का रिश्ता कायम रखना चाहते हैं- "वह बड़ा है मुझसे पर वह मुझसे इतना ज्यादा बड़ा रहे/यह रिश्ता देर तक चल नहीं सकता है/बार-बार त्यागूँगा अपने को/उसके करीब होना है बराबर।"[47] कर्मवादी रघुवीर वस्तुतः अपने कर्म पर दृढ़ विश्वास रखकर ईश्वर हो जाना चाहते हैं । इनका यह ईश्वरत्व प्राप्त करना दार्शनिक मुक्ति नहीं है, वरन् मनुष्य की प्रगति के अन्तिम सोपान की प्राप्ति की बलवती इच्छा का द्योतक है । इसीलिए खाने वाले अन्न के रस में वे ईश्वर की कृपा को लाना नहीं चाहते- "खाने के पहले कृतज्ञ होता हूँ मैं/खाने के बाद भी। कहाँ आ जाते हो श्रेय लेने को/हर-बार/ईश्वर ।"[48]

निर्भय होने के लिए रघुवीर सहाय भय से मुक्ति की कामना नहीं करते हैं । उनकी दृष्टि में मुक्ति एक झूठ है- "नहीं, मुक्ति भय से न चाहिए/यदि निर्भय होना है/मुक्ति एक झूठ है।"[49] भारतीय संस्कृति का गुणोगान करने वालों को उत्तर देते हुए यह कहने

वाले- "हत्याएँ, चीथड़ें, खून और मैल आज भारतीय संस्कृति के मूल्य हैं"- रघुवीर सहाय सतीप्रथा जैसे सामाजिक अभिशाप के विरोध में शंकराचार्य के सड़े-गले विचारों की घोर निन्दा करते हैं- "उनके लिए धर्म और धार्मिक में कोई अन्तर नहीं है, जवकि सामान्य लोक-भाषा में अधर्म वही है जिसे शंकराचार्य धार्मिक बता रहे हैं ... शंकराचार्य ने स्वेच्छा से सती होने वाली स्त्री का नाम लेकर उसकी स्वेच्छा की रक्षा करने पर जोर दिया है । मैं उसकी स्वेच्छा की नहीं उसके प्राण की रक्षा करने पर जोर दूँ।"[50] स्वर्ग की कल्पना करने वाले धर्म संघों तथा प्रतीकों का प्रयोग करने वाले लोगों का उपहास करते हुए रघुवीर सहाय कहते हैं कि स्वर्ग धर्मसंघों का मायाजाल है । इस स्वर्ग लोक में अनेक अजनबियों को राजनैतिक शरण पाने की अनुमति भी मिलती होगी। सबसे पहले धर्मसंघ यह काम करते हैं फिर जड़ प्रतीकों का अर्थ समाज के एक अंश में व्याप्त हो जाता है ।[51] वस्तुतः रघुवीर सहाय स्वर्ग लोक की कल्पना को व्यर्थ मानकर सम्भवतः इस पौराणिक कथन को सिद्ध करना चाहते हैं कि स्वर्ग और नरक इसी पृथ्वी पर हैं[52] जिसका निर्माण आभिजात्य या साम्राज्यवादियों ने ही किया है ।

साम्प्रदायिकता के घोर विरोधी रघुवीर सहाय का दृष्टिकोण बहुत ही स्पष्ट है । वे समस्या की जड़ में जाकर उसका समाधान करते हैं । वस्तुतः भारत की संस्कृति में कोई अल्पसंख्यक नहीं है । सभी ने समझौते और आध्यात्मिक उद्देश्यों से तथा संघर्ष से एक दूसरे को अपनाया है।[53] धर्म निरपेक्षता और सर्व धर्म समभाव पर कटाक्ष करते हुए रघुवीर सहाय ने अत्यन्त विचारपूर्ण शब्दों में कहा है- "हमारे नेतागण लौकिकता नहीं, बल्कि धर्म निरपेक्षता बल्कि सर्वधर्म समभाव कहना अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि सर्वधर्म समभाव में सभी सम्प्रदायों की संकीर्णताएँ बनाये रखने का योग रहता है जबकि लौकिकता धार्मिक नेतृत्व को उसकी ठीक जगह पर रखकर जीवन में कर्म और आनन्द की लोकतन्त्रीय योजना करती है।[54] रघुवीर सहाय सभी गरीब, पीड़ित व दुःखी जन के

प्रति संवेदनशील हैं चाहे वह किसी भी धर्म का क्यों न हो । वे पूरे समाज के पिछड़ेपन को दूरकर एकता की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहे हैं।[55] धर्म की रक्षा के नाम पर शोषितों को आतंकित कर उन्हें शरणागत होने के लिए बाध्य करने वाले तथाकथित प्रतिष्ठित जनों पर कवि ने तीखे प्रहार किये हैं । रघुवीर सहाय की सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि हिन्दू व मुसलमान दोनों धर्मो के वास्तविक स्वरूप को समझकर उसके पाखण्डों पर प्रहार करती हुई कहती है कि दोनों समाज कर्मकाण्ड के वास्तविक स्वरूप को भूलकर केवल अर्थ और भावहीन चिल्लाहट को जीवन का लक्ष्य मानते हैं- "मैं जहाँ रहता हूँ, हिन्दू और मुसलमान/दोनों बेसुरे हैं/भजन और कीर्तन/करते हैं, ढोलक और चिमटे की/ढक-ढक सुन पड़ती है/भजन के शब्द नहीं/अजान दी जाती है/हरियाणवी लोकगीत सुन पड़ता है/ दोनों समाज कर्मकाण्ड का उच्चारण/भूल गये/उनकी पकड़ में चिल्लाहट आती है ।"[56]

सहाय जी की कविताएँ आत्म प्रसूता हैं । इसलिए उनमें लोक-जीवन की सच्चाई है, कृत्रिमताएँ नहीं है । उनकी कविताएँ जातिवाद, क्रान्तिवाद, अगड़ा-पिछड़ावाद के फूट की विभीषिका से बड़ी विभीषिका को प्रस्तुत करती हुई कहती है कि जो मारा जा रहा है और जो बचा हुआ है- इन दोनों की फूट की स्थिति जब तक बनी रहेगी ,भारत की अधोगति होती रहेगी- "हिन्दू और सिख में/बंगाली असमिया में/पिछड़े और अगड़े में/पर इन सबसे बड़ी फूट/जो मारा जा रहा है और जो बचा हुआ/उन दोनों में है ।"[57]

रघुवीर सहाय भारतीय रीति-परम्परा के बाह्य रूप को न मानकर उनके आन्तरिक रूप को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि दया, दान, परोपकार जैसी रीतियाँ गरीब और अमीर के बीच खाई पाटने का काम करती हैं । इसके लिए कानून की अपेक्षा नहीं रहती, वरन् कुछ मान्यताएँ होती है, लेकिन कानून और रीतियों- दोनों के सहयोग से भेद-भाव को दूर किया जा सकता है । एक का रास्ता पकड़ने पर कानून में

चोरी बढ़ती हैं और रीतियों में पाखण्ड पनपता है।[58] वस्तुतः रीतियाँ जिनमें सहजता होती है वे ही सांस्कृतिक धरोहर को अक्षुण्ण रखती है और जिनमें पाखण्ड का मुलम्मा चढ़ने लगता है, वे केवल दिखावे तक ही सीमित रहती है । इसीलिए रघुवीर सहाय यह स्वीकार करते हैं कि "जिस संस्कृति में शोषण और दमन नहीं है वही अविष्कार की संस्कृति है । वही तो हर अनुभव में मनुष्य की गरिमा और स्वाधीनता अर्थात् एक जीवन शैली खोजती रहती है जो संस्कृति का दिखावा नहीं करती ।"[59]

रघुवीर सहाय की दृष्टि में सम्प्रदायवाद का समापन तभी सम्पन्न हो सकता है जब हिन्दू आधा हिन्दू हो, आधा मुसलमान और मुसलमान भी आधा मुसलमान हो, आधा हिन्दू । ऐसी संस्कृति जो मानवीय-मूल्यों के प्रभाव से मिली-जुली कही जा सकती है, राष्ट्र और राज्य के लिए नया पर्याय बन सकती है । वे कठमुल्ला हिन्दू बनने वाले को सचेत करते हुए कहते हैं कि इक्कीसवीं सदी में क्या यही हिन्दू टुकड़ों में बँटे हिन्दुस्तान पर शासन कर सकेगा ?[60]

रघुवीर सहाय 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे लोकप्रिय ग्रन्थों के रूढ़-परम्परावादी विचारों का विरोध करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में परम्परा का उतना महत्व नहीं है जितना कि तत्कालीन परिस्थितियों में यथार्थ की ओर ध्यान आकृष्ट करना जरूरी है।[61] वे राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक व आर्थिक-किसी भी प्रकार के ढोंग से मुक्त समाज की रचना करना चाहते हैं । इसीलिए वे इस कृत्रिम समाज के हाहाकार में कम से कम एक बार अट्टहास अवश्य करना चाहते हैं- "ढोंग के ढोल जो डुंड बजाते हैं उस हाहाकार में/यह मेरा अट्टहास ज्यादा देर गूँज खो जाने के पहले/मेरे सो जाने के पहले/उलझन समाज की वैसी बनी रहे ।"[62]

रघुवीर सहाय वास्तव में आम-जीवन के हृदय में प्रविष्ट कवि हैं । इनकी प्रत्येक कविता में कहीं न कहीं आम-आदमी की मर्मान्तक पीड़ा अन्तर्निहित है । क्रूर शोषण ने

जिस गरीब आदमी को चिथड़ा-चिथड़ा करके सड़को पर फेंक दिया है उसी चिथड़े में अपने को समाहित कर लेने वाले- ("मैं चिथड़े-चिथड़े हो गया हूँ/यही मेरी पहचान है")[63] रघुवीर सहाय जीवित रहने के लिए परायी पीड़ाओं को बार-बार सहना ही अकेला उपाय मानते हैं ("सहना पराई पीड़ाओं को बार-बार/जीते रहने का अकेला उपाय है")[64]। उन्हें महती व्यथा है कि गाँधी के शिष्य ही हिंसा का देश भर में प्रचार कर गॉव-गॉव[65] में कमजोर लोगों की हत्या कर रहे हैं और उनके मारे जाने पर कोई रोने वाला भी नहीं है केवल भाग्य से बची हुई विधवा को छोड़कर।[66] किसी भी गुलाम और गरीब देश को अपनी स्थिति सुधारने के लिए पाँच बरस बहुत बरस होते हैं।[67] किन्तु इस देश की स्वतन्त्रता को गुजरे हुए अनेक वर्ष व्यर्थ हो गये हैं । इस देश की प्रत्येक व्यवस्था से रघुवीर सहाय अत्यन्त व्यथित हैं । यथास्थितिवाद उन्हें किसी प्रकार सह्य नहीं है। जो शासक गरीबों के हाथ में सींचने के लिए पानी न देकर हथियार देता हुआ दमन चक्र चलाता रहता है और शोषितों की न्यायोचित मांग को बन्दूक की गोली से भूनता रहता है उसको संवेदनाशील कवि उखाड़ फेंकना चाहता है । आज स्थिति यह हो गयी है कि कोने-कोने में होने वाली लूट ने जमीन के अन्दर तक मिट्टी को तोड़ दिया है।[68] जिस अनाथ और शोषित व्यक्ति की स्वप्न में भी कभी तस्वीर नहीं छपती है उसकी हत्या की गयी लाश की तस्वीर अवश्य छपती है । जिनके पास चेहरा नहीं, वे ही समाज पर राज कर रहे हैं । भविष्य दृष्टा रघुवीर सहाय ठीक ही कह रहे हैं कि यदि हमारी यही स्थिति रही तो "कल किसी और बड़े देश के गुलाम हो जायेंगे/हम अपने देश के उजाड़ों में खोजते रहेंगे अपना चेहरा "।[69]

वस्तुतः आज का मनुष्य इतना संवेदनशील हो गया है कि वह आदमी नहीं है । इसीलिए रघुवीर सहाय कहते हैं कि यह देश अपने मनुष्यों को आदमी नहीं बना सकता है।[70] वे अपनी रचनाओं से मानवीय सत्य की स्थापना कर यथास्थितिवाद को बदल देना

चाहते हैं । यही उनकी रचनाओं की विशेषता है । स्वतन्त्रता के बाद किया गया चालीस वर्षों का लेखा ज़ोखा रघुवीर सहाय के शब्दों में- "आजादी के चालीस साल भौतिक उपलब्धियों के साल होंगे, हुआ करें । हमें यह जानकर कोई क्रान्तिकारी खबर नहीं मिलती कि अब हम कितना इस्पात और सीमेन्ट पैदा कर रहे हैं । हम कितना रोजगार पैदा कर रहे हैं यह जानने लायक बात है और इसी के साथ यह भी हमारी कितनी नयी प्रतिभा अपने आपको रचनात्मक कार्य में लगा पा रही है और आविष्कार कर पा रही है- चाहे साहित्य में चाहे विज्ञान में और सबसे बढ़कर हम यह जानना चाहेंगे कि राजनीति के द्वारा हमने मनुष्य को स्वतन्त्रता की कितनी समझ दी है । अगर चालीस में हमने यही निष्कर्ष निकाला है कि समाज के टुकड़े-टुकड़े करके उन्हें एक जगह से संचालित करना राष्ट्र कहलाता है तो हमने गुलामी का केवल स्वातन्त्र्योत्तर संस्करण तैयार किया है ।" कितना सत्य है उनका यह कथन कि हमारे राष्ट्र की वास्तविक तस्वीर "गुलामी का केवल स्वातन्त्र्योत्तर संस्करण" है ।71

गिरिजा कुमार माथुर की कविताओं में लोक संवेदना :-

मेरे पास सिर्फ शब्द हैं/जो समय के अस्त्र हैं/
.... इसलिए अब फिर/वहीं से शुरू करता हूँ/
जहाँ से चीजों की सही शक्ल/साफ दिखने लग जाती है ।
जब अपने से बड़े दुःख की आवाज/शब्द में उतर आती है ।1

अपनी उपर्युक्त पंक्तियों में साँस लेते हुए और उसे वास्तविक रूप में चित्रित करने वाले गिरिजाकुमार— जिनकी दृष्टि में "कविता सिर्फ आत्माभिव्यक्ति नहीं है, वह मानसिक क्रिया नहीं है न आत्मनिष्ठ-कल्पना विलास ही है- उसका सरोकार एक वृहत्तर दुनिया से है, एक पूरे जीवन-ब्रह्माण्ड से है । जो है, उसकी पहचान उसे पूरी तरह वाणी दे सकना और जो नहीं है- होना चाहिए- उसकी तलाश"2—समकालीन कवियों में

अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं ।

'जो है'- यह यथार्थ है और इस यथार्थ का ज्ञान राजनीति की समझ के बिना सम्भव नहीं है । यह यथार्थ दार्शनिक नहीं है वरन् सामाजिक, आर्थिक, और राजनैतिक जीवन की विसंगतियों तथा विद्रूपता का सही बोध है । मार्क्सवाद ने सत्ता के स्वरूप, राजनीति, समाज के आर्थिक आधार, ठोस यथार्थ, वर्ग-चेतना, इतिहास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया दमन और शोषण से मानवीय समता और स्वाधीनता के नये मार्ग को खोल दिया है।[3] मार्क्सवाद से प्रभावित गिरिजा कुमार माथुर ने अपने देश की जन-परम्परा और सांस्कृतिक मिट्टी से मार्क्सवाद को नया स्वरूप प्रदान कर तथा उसमें अपने को आत्मसात कर, उससे अपनी कविताओं को आलोकित और अनुप्राणित किया है । कविता का यथार्थ मात्र राजनैतिक व्याख्या नहीं है, वरन् सत्य का वह साक्षात्कार है जिसमें मानवीय संवेदनाओं के साथ-साथ अतीत कालीन परम्परा, सांस्कृतिक धरोहर, राजनैतिक आडम्बर तथा आम आदमी की प्रत्येक साँस का पुनर्मूल्याकंन अभिव्यक्त होता है । प्राचीन के सभी अवयव मनमोहक नहीं होते, न व्यर्थ ही । नवीन न हेय है न ध्येय ही। इन दोनों में जो साधारण जनों के दुःख-दर्द को, उनके प्रति होने वाले अन्याय-परम्परा से मुक्ति को, समरसता एवं यथासाध्य समता को तथा आदमी को आदमी समझने की समता को विकसित कर सके, वही श्रेय है और प्रेय है । कविता कभी यह दावा नहीं कर सकती कि वह सब कुछ कर देगी, जो वह कहती है। लेकिन बौने हाथों को इतना बड़ा करने की सामर्थ्य देती है कि वे दुर्लभ्य फलों को प्राप्त कर सकें ।

गिरिजा कुमार माथुर की कविता हारे थके लोगों को प्रेरणा देने के लिए उनके अन्तस्थल को भेदकर पृथ्वी पर पैर रखती है । इनकी कविता रँगी-चुनी, अधखुली, आधी **ढकी, खुशबूदार फूल बाँधे जूड़ो से, कसे तंग रेशमी कपड़ों, सजे लानों के बीच बिछे** मखमली स्वागत कालीनों से जन्म नहीं लेती वरन् यह उस वामा की जमीन से उत्पन्न

होती है जो तपी हुई सुनहली शाम सी नंगे पाँव पगडण्डी पर अपनी कमर में दराँती खोंसे हुए तथा सिर पर जिन्दगी के गट्ठर को ढोती हुई गाँव, घर की ओर लौटती है। माथुर जैसे कवि की कविता देख सकती है कि फासिस्टी-शक्ति अपने हाथ से इंसानों को गीले कपड़े सा निचोड़ती रहती है । शोषकों के दरवाजे पर पंक्ति-बद्ध होकर बलि चढ़ने के लिए बाध्य करती है उनकी "पेट की भूख" । यही भूख गरीब-शोषित जन की सारी शक्ति और सम्पूर्ण मेधा को निष्क्रिय कर देती है । मजबूरी में उसे शोषकों के द्वारा निर्मित सांचे में ढलना पड़ता है ।

गिरिजा कुमार माथुर को शोषित किसान, श्रमिक और दलितों से अगाध प्रेम है । कवि ने एक ही बसन्त को दो चित्रों में बड़ी ही कुशलता से चित्रित किया है । जिसकी आँखो में स्वर्णिम ज्योति है वह सरसों के पीले-पीले फूलों में बसन्त के आगमन का दर्शन कर प्रसन्न है किन्तु दीन-हीन किसान उन फूलों के सौन्दर्य को नहीं वरन् उस आकाश की ओर देखता है जो कुछ बूँदे इन फसलों पर डाल दे और इसकी सुरक्षा ओलों से हो जाय तो अच्छे दामों में वह सरसों को बेचकर अपनी पुत्री के हाथ को पीला कर सकेगा।[4] गिरिजा कुमार माथुर की संवेदना उस किसान की विवश आत्मा के प्रति है, जो अपनी पुत्री के विवाह की चिन्तानल में जल रही है । कवि की 'घासवालियों का वसन्त' शीर्षक कविता ने जिस यथार्थ को उपस्थित किया है वह सचमुच हृदय-विदारक है । रूखे बालों वाली तथा मटमैली धोतियों में अपनी लज्जा को आवृत करने वाली दो औरते मैली चादर की झोली को कंधे पर लटकाए हुए खुरपा और खुरपी लेकर चुपचाप पार्क में घुस जाती है । माली के ऊँघते रहने पर वे क्यारियों के आस-पास की दूब को खुरपी सें खोदकर झोली में भरती जाती हैं । उन्हें पुष्पित-पुष्पों में बसन्त का सौन्दर्य नहीं दिखाई पड़ता वरन् उगी हुई घास में भूख की आग की लपटों वाला "बसन्त" दिखाई पड़ता है क्योंकि यही घास उनके लिए रात की रोटी का आधार बनती है ।[5]

गाँव की मिट्टी में जन्म लेने वाले गिरिजा कुमार को उस वसन्त- जिसमें लोग रँगरेलियाँ मनाते हैं- में भी किसानों की उस भूमि की याद आती है जो पानी के विना उनके हृदय की भाँति दरक गयी हैं, उन आँखो की याद आती है जिनमें भूसा की किरकिरी भर जाती है, उन मजबूर किसानों की याद आती है जिनके अनाज को सस्ते दामों पर लूट लिया जाता है।[6] गिरिजा ने अपनी आँखो से देखा है कि शोषित-दलित रामबहादुर जैसा इन्सान जब अन्याय के खिलाफ हक माँगने के लिए आगे पाँव निकालता है तब उसी पर पहला और आखिरी बार होता है । उसके लिए न कोई शोक-सभा होती है और न कोई प्रस्ताव पास होता है । बस कुछ चंदों से उसके बाप, पत्नी और नासमझ बच्चों की सूनी आँखो से अनवरत् बहते हुए आँसुओं को पोछने का खोखला प्रयास किया जाता है।[7] कवि नहीं चाहता है कि उसका बेटा भी किसी दैनिक का छोटा समाचार बने । कवि की यही संवेदना कविता को जीवन्त बना देती है । कवि माथुर ने ठीक ही कहा है कि पीड़ा की कोई भाषा नहीं होती, अंधी सुरंग सा एक प्रश्न होता है । वे दो वर्षो से देखते आ रहे हैं कि मामूली आदमी फटी हुई बेवाई वाले पाँव की गतिहीनता को लेकर किसी सड़क के किनारे खरहरी जमीन पर किसी वृक्ष के नीचे गठरी बने बैठा है । 'सब कुछ बदल रहा है' के शोर में उसकी पशु गंधी शोक की रात[8] की न समाप्ति हुई है और न होगी । एक-एक आदमी यहाँ पर चलती फिरती कब्र है ।[9]

गिरिजा कुमार माथुर की "मशीन का पुर्जा" कविता एक ओर पूँजीवाद के वैभव का चित्र प्रस्तुत करती है वहीं दूसरी ओर औसत मध्यवर्गीय आदमी की व्यथा को अभिव्यक्त करती हुई कह रही है कि जब ठिठुरन से सूरज की भी गर्मी जम जाती है और सारा नगर लिहाफों में सिकुड़ा रहता है, ऐसे समय में भी तीन सर्दियों को झेलने वाले रफू किये गये स्वेटर को पहने हुए विवश आदमी काँपता हुआ उठकर अपने काम पर लग जाता है । उसके लिए जाड़े की मिठास जहर बन गयी है- "ठिठुरन से सूरज

की गर्मी जमी हुई है/सारा नगर लिहाफों में सिकुड़ा सोता है,/पर वह मजबूरी में काँपता आया है -- जाड़ों के दिनों की मिठास/अब जहर हुई है ।"[10]

अनादिकाल से ही 'सभी को सुखी' बनाने का नारा दिया जा रहा है, किन्तु नारा देने वाले ही भेष बदलकर शोषण करते रहते हैं । वस्तुतः जैसे मौसम में मूलभूत परिवर्तन नहीं होता है, घूम-फिरकर वही-वही वापस आते रहते हैं और उनका सम्मान होता रहता है[11] उसी प्रकार लोकतन्त्र शब्द समाजवादी शब्द में अपने को ढालकर राजतन्त्र के शोषणवाद को विभिन्न रूपों में जीवित रखे हुए हैं। राज्यों की पद्धतियों के निर्माता के हाथ में सर्व नियंतृत्व शक्ति निहित रहती हैं, वे सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान के साधनों को अपने अधिकार में रखकर करोड़ों लोगों के भाग्य को अपनी मुट्ठी में बंद रखते हैं । ये पूँजीवाद व्यवस्था के पोषक शासक अर्ध-सत्यों के क्रूर पंजों में जनमानस को जकड़कर उसे वैचारिक कोड़ों से मारकर चलाते रहते हैं और लोकमत को अपने दल के अनुरूप गढ़ने के लिए अथक प्रयास करते है।[12] पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम है कि मनुष्य पर सूर्य-ग्रहण का प्रभाव है। चारो ओर युद्ध राक्षस डोल रहे है। नभ में शक्ति की भुजा तनी है और दूसरी ओर शक्ति हीन आदमी असहाय है। अर्द्ध-सत्य के द्वारा सत्य की हत्या की जा रही है । हर नृशंसता को जनता की इच्छा कहा जा रहा है। क्रूर-नियंत्रण के परदे में हथौड़े की चोटों से समष्टि की भयावह मूर्ति ठोकी जा रही है । कोटि जनों के रक्त, मांस-मज्जा आदि को गली हुई धातु का केवल कच्चा माल समझा जा रहा है । शासक अपने दलवाद की निहाई पर मानव आत्मा को टीन सा ठोंक पीटकर एक सरीखा जस्ते का ब्लॉक बना रहा है ।[13]

गिरिजा कुमार माथुर द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था पर किये गये प्रहारों में आम आदमी **की छटपटाहट है उसकी मानसिक व्याकुलता और न चाहने पर भी भोगने की विवशता** है। आम आदमी प्यास से तड़प रहा है किन्तु उसके आस पास हत्यारे कुएँ हैं, जिनसे

वह प्यास नहीं मिटा सकता वरन् उसमें गिर सकता है । उसे अंधेरी वन्द दुनिया में न चाहते हुए भी जीना पड़ता है- "मुझे बेहद प्यास लगी है/पर आसपास हत्यारे कुएँ हैं/जिनमें मैं सिर्फ गिर सकता हूँ/घुप अन्धेरे वाली/एक अन्धी बन्द दुनिया है/जो मैंने न रची थी/न माँगी थी- वह दुनिया मेरी है ।"[14]

कैसी विडम्बना है कि असली बौने की दृष्टि में जितने साधारण जन हैं, बौने हैं । सभी शासक आम आदमी को बौना ही बनाकर रखना चाहते हैं क्योंकि आम आदमी का बौनापन राज्यों को क्लर्क, कारखानों को मजदूर, तोपों को भोजन, पार्टीवालों को 'यस मैन' मतवादों को बुद्धू, संघवादों को साँचे-ढले आदमी और नवीन राजाओं को सस्ता गुलाम देगा। आम आदमी की व्यथा कभी दूर नहीं हो सकती । क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था के लिए ही युग-युग से यह आदमी जीता आ रहा है । उसके गगनचुम्बी महलों की नींव यही लोग हैं । यही उनके इतिहास की स्याही हैं । यही उनकी विजयश्री के घायल सिपाही हैं । इन्हें वस्तुतः घायल सिपाही ही रहकर जीना होगा और दैत्यों का काम निभाकर बौना ही बना रहना होगा।[15] भारत की लोकतांत्रिक व्यवस्था जो वस्तुतः शोषण तंत्र है, ने केवल जिगर बढ़े लाइलाज बच्चों, व्यर्थ नौकरी तलाशते हुए पढ़े अध-पढ़े लड़कों, सड़क के किनारे पंक्तिबद्ध बैठी घाघरा फैलाये हुए बेशरम लुगाइयों, कोढ़ खाई सामाजिकता, जातीय-शील के खोखले ढोल पर गँवार असलियत की थप्पड़ और अनेक प्रकार की विकृतियों को पाल-पोसकर बड़ा किया है ।[16]

गिरिजा कुमार माथुर का मर्माहत मन क्रूर-शासन व्यवस्था से पीड़ित आम आदमी के प्रति संवेदनशील होकर कहता है- "इतिहास के घोघे! तुम्हें क्या चाहिए-/ मलबा और मौत- आजादी या दलाली/ढफली या गुलामी/आदमी या कठपुतली।"[17] संवेदनशील कवि के बाहर और भीतर से लगातार एक साथ वह मलवा गिर रहा है जो शासन व्यवस्था का अभिशाप है । वह देखता है कि वक्त की सलाई बुझी जा रही है और वह कुछ

करने में समर्थ नहीं है ।

गिरिजा कुमार माथुर की दृढ़ आस्था कहती है कि धूल की वरसात में वड़ी-वड़ी राजधानियाँ मिट जाती हैं । शोषकों के हाथों से पूरी दुनिया छिन जाती है । आम-आदमी के आग के होंठ जब खुलते हैं तब एक व्यास, तुलसी, गेटे या गालिब पैदा होकर जन-क्रान्ति का रूप लेता है । किसी बाहरी गणित से इतिहास के पहिये हाँके नहीं जाते हैं । आदमी के सनातन जीव-कोषों की ईप्सा और उसके खोखले नियमों की आग ही जल्लाद बनकर मियम-नियामकों को मौत के घाट उतारती हुई नूतन-सृष्टि करती है । यह अवश्य है कि इस फैसले में देरी भले ही लगती है लेकिन सब कुछ साफ हो जाता है । एक समय ऐसा आता है कि क्रूर शासन-तन्त्र के पक्ष में न गवाह मिलते हैं, न वकील ही । न जिरह होती है न बहस । न जारी किये हुए फरमान और फतवे काम आते हैं न नकाबें, न चमड़ी पर चढ़ाये हुए पर्दे और न अफलातूनी चेहरे ही। एक समय ऐसा आता है कि सब उलट जाता है-

"बेबाक इस हिसाब में/ऐसा अक्सर हो जाता है/अदा किये हुए पार्ट आपस में बदल जाते हैं/कत्ल किये हुए नाम फिर जिन्दा हो जाते हैं/जो कल तक थे जज/वही मुजरिम हो जाते हैं ।"[18]

एक दिन ऐसा आयेगा कि खेतों से सनातन अग्नि उठकर उषा सी मुक्तिप्रदा बन जायेगी और यन्त्रणा देने वाली लोहे की दीवार पिघलकर नष्ट हो जायेगी ।[19]

सभी शब्द जालों को[20] काटकर सार्वजनिक दर्द को नयी आँच पहनाने वाले[21] कवि गिरिजा कुमार समाजवाद के मुखौटे को धारण करने वाले क्रूर शासकों को ललकारते हुए कहते हैं कि तुमने आम आदमी के लिए जो अँधेरा दिया है उसी से एक रोशनी उत्पन्न होगी, जो तुम्हारे अन्याय के महल को राखकर देगी । तुम इसे किसी प्रकार नहीं रोक सकते हो ।[22] कोई भी क्रूर शासन उस धूप को नहीं रोक सकती, जो किसी झरोखे से

अवश्य भीतर आ जायेगी और अंधेरे में होने वाले पापों का पर्दाफाश करेगी । यह (क्रान्ति की) रोशनी कहीं फूल बनकर, कहीं किरण बनकर, कहीं हवा और जल की झारन बनकर आम लोगों को सुख प्रदान करेगी । इस रोशनी में इतनी शक्ति होगी कि इसके द्वारा भूखे को रोटी और अंधे को आँख मिल जायेगी । इस रोशनी की आग को कौन रोक सकेगा? यह सभी रास्तों के बन्द कर दिये जाने पर भी—"गाँव से गली से/फुटपाथ से/जमीन से/मिट्टी से बीज से/राख की दीवार फाड़/मरम्मक अग्नि-पक्षी सी/उड़ती चली आयेगी/कितनी रोकोगे आग/"—खामोश पैरों से चुपचाप आयेगी और शासकों द्वारा किये गये अन्याय को गिन-गिन कर उसके नियामकों को विनष्ट कर देगी ।[23]

कवि माथुर आने वाले नये नामधारी शासकों की दोगली नीति पर स्पष्ट शब्दों में कटाक्ष करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक बार वक्त एक विटप के नीचे आकर नया आसन बिछाता है और हर बार गरीबी, अशिक्षा आदि को दूर करने का बीड़ा उठाने वाला एकदम बौना हो जाता है । उनकी प्रतिभा का आकार कच्चा रहता है । जब ये शासक मिले हुए अमृत-घट के रस को आम आदमी को बाँटे बिना स्वयं पीने लगते हैं तब यह अमृत विष बन ज़ाता है क्योंकि समय का रथ ज्यादा रूक नहीं पाता है और चूका हुआ क्षण कभी लौटकर नहीं आ पाता है ।[24]

दूर टिमटिमाते गाँवों के उठते हुए तमाम दर्द तथा जात-पॉत की धक्काशाही से मर्माहत लोग आजादी को मेला ठेला और तमाशा ही मानते हैं । इस आजादी ने नये शब्दों के माध्यम से जातिवाद के धंधे को कल्पतरू बना दिया है, गोत्र, बिरादरी, पंथ, प्रान्त और भाषा के व्यापार से अपने को आजादी के रक्षक मानने वालों ने अपने को कालजयी बनाने का प्रयास करते हुए देश के भविष्य को मँझधार में छोड़ दिया है । आम-आदमी की जीवन-धारा एक बाँझ वर्जित प्रदेश में पहुँच गयी है । आज यह स्थिति है कि हर दरवाजा बिक्री को तत्पर है । नस्ल, रंग, जाति और धर्म के वितण्डावाद को

तोड़कर[25] मुक्त वातावरण में साँस लेने वाला कवि अत्यन्त पीड़ित होकर कहता है–

"जातिवाद का जहर किसी ने/घर-घर में फैलाया है/

वर्तमान है वृद्ध/भविष्यत आने से कतराया है/

उठती है तूफानी लहरें तट का है आभास नहीं ।

पृथ्वी है, सागर, सूरज है, लेकिन अभी प्रकाश नहीं ।"[26]

गिरिजा कुमार माथुर कट्टर सम्प्रदायवाद, जाति-प्रथा, रूढ़ियों आदि से मुक्त होकर नूतन संसार में जीना चाहते हैं । वक्त तेजी से आता है और उसके प्रवाह में जो कुछ सड़ा गला है सब ढह जाता है । वस्तुतः यह सच है कि जब बहुत कुछ टूटता है तभी नया बनता है । जन्म से ही जात-पाँत, ऊँच-नीच आदि द्वन्द्वात्मक भावना से मुक्त[27] रहने वाले कवि माथुर जी बूढ़ी रूढ़ियों की कड़कड़ाती रीढ़ और घुनी अनुभूतियों को नये गरजते स्वर में उपस्थित करते हैं।[28] उनकी रचनायें उस आधुनिकता वाद को स्वीकार नहीं करती है, जिसमें मानवीय-संवेदना, भावना और मूल्यों का कोई स्थान नहीं है और जिसमें निर्ममता, क्रूरता, कुटिलता शोषण तथा दानवीय प्रवृत्तियों का अट्टहास हो रहा हो।[29] कवि को विश्वास है कि–

"धरती की सुन्दरतम/सृष्टि इन्सान है/संशय, भय, घृणा/युद्ध, लिप्सा शैतान है। सामूहिक मृत्यु, त्रास/कुण्ठा, दमन, अवसाद/दुनिया पर मतवादों के जघन्य अनाचार/ मिथ्या आदर्शों के प्रेतों विकृतियों पर/शव साधक पन्थों पद्धतियों पर/जड़वादी पंजों में जकड़ी संस्कृतियों पर जीत इन्सान की/पृथ्वी की गाथा/इतिहास की कहानी है ।"[30]

गिरिजा कुमार माथुर वस्तुतः प्रेम के कवि हैं । उनकी कविता में 'सेक्यूलरिज्म' पर उनका आग्रह रहा है[31] और इससे उनका मतलब है एक ऐसी कविता, जिसका सम्बन्ध ईश्वर या किसी देवी देवता से न होकर मनुष्य से और केवल मनुष्य से हो। मनुष्यता की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति उन्हें प्रेम में दिखाई पड़ती है।[32] गिरिजा कुमार माथुर वस्तुतः

मानवतावादी कवि हैं । यद्यपि इनकी मानवता की छाती पर सत्ता का सिंहासन रखा हुआ है और इनकी आत्मा पर विषधर सा सामन्ती शासन बैठा विष उड़ेल रहा है[33] फिर भी ये अपने अनुभूत सत्य को- जो इनके जीवन की गाढ़ी कमाई है- अर्थ देने के लिए अपना सब कुछ लुटाने को तैयार रहते हैं। क्योंकि इनकी मानवता अरूप भावना वाली नहीं है । इसमें न धर्म-सम्प्रदाय का संघर्ष है न ईश्वर की रहस्यात्मक प्रतिष्ठा में मतवादों का नग्न नृत्य ही है । इनका मानना है कि- "जिस प्रकार धर्म सम्प्रदाय की आँच मानवता का एक व्यापक आलोक-संकेत छोड़कर मिट गयी थी उसी प्रकार आज के मतवादों के समन्वय से भयरहित, कष्ट-त्रास रहित अर्थ-मुक्त मानवता के एक सर्वाङ्गीण दर्शन की उत्पत्ति होगी जिसमें श्रद्धा, निष्ठा, आस्था, विनय-शील, प्रेम, जीवन-सम्मान, सामाजिक न्याय, अन्तःकरण की नैतिक स्वतन्त्रता प्रतिष्ठित होगी । इसी पीठिका पर स्वस्थ, मुक्त मानवता का नया व्यक्तित्व उदित होगा जिसमें बाह्य-अर्थ-व्यवस्था की तुष्ट और परिपूर्ण नींव पर बुद्धि, विवेक मर्यादा और असीम प्रेरणा के नये मानसिक स्तर प्राप्त होंगे ।[34]

गिरिजा कुमार ने इन्हीं मानवीय मूल्यों की अवधारणाओं को लेकर अपनी काव्यधारा को प्रवाहित किया है । प्रकृति के वातावरण में इन्हें मानवीय मूल्यों की मीठी-मीठी गन्ध की अनुभूति होती रहती है, जिसमें डूबकर उसके अन्तरतम सौन्दर्य का रसास्वादन करते हुए वे अपनी कविता को दर्पण बना देते हैं जिससे उसमें वास्तविक संसार दिखाई पड़ने लगता है।[35] इनका प्रकृति वर्णन केवल अभिधात्मक नहीं है वरन् इनकी प्राकृतिक माटी में ग्रामीण जीवन के श्रम की सुगन्ध है । इनकी कविता के शब्द महलों की सजावट नहीं है वरन् उसके अर्थ में मामूली लोगों के जीवन की मर्मभेदिनी पीड़ा है । गाँव के मेलों, त्यौहारों, दूर तक फैले कँकरीली पठारों, ढूहों, हरे-भरे खेतों, गाँवों, गलियारों, बच्चों के घरौंदो, रूखे फूल पत्तों और वन-कन्याओं के सीधे सरल जूड़ों

में इनकी कविता के शब्द प्रवेश कर[36] हाड़ तोड़ते हुए किसान, मीलों तक पानी के लिए जाने वाली औरतों और लठैतों द्वारा बहू-बेटियों की सरेआम होने वाली बेइज्जती वाले संवेदनशील अर्थो को अभिव्यक्त कर सभ्य समाज के दिगम्वर चरित्र को सबके सामने रखते हैं ।[37]

गिरिजा कुमार माथुर की 'मटियाली धरती' गाँव की धूसर, साँवर मटियाली, काली, आसमान के घेरे में धूप से बुझी हुई और जंगलों से मिली हुई धरती है । इस पर उपजे नीम, आम, वट, पीपल के वृक्षों पर निखरे-निखरे मौसम आते रहते हैं । कच्ची मिट्टी के गाँव के वक्ष पर धूप क्रीड़ा करती रहती है और फसलों में दूध बनकर उसी के रूप में मिल जाती है । प्रत्येक अन्न के दानों में चन्द्रमा अपना अमृत भर देता है।[38] इसी मटियाली धरती को नया बसंत रंगीन बनाता रहता है किन्तु आज किसान की मटियाली धरती की रेखा के ऊपर गोल रक्त पत्थर के टुकड़े के समान सूरज ठिठक रहा है । वहाँ का वातावरण जमे हुए हिम की चट्टानों सा हो गया है और मृत सूरज अतल में गिर रहा है ।[39]

गिरिजा कुमार माथुर प्राकृतिक दृश्यों में अपने को विलीन कर उसके एक-एक दृश्य को अपनी कविता में साकार करते हैं। उनकी दृष्टि में मिट्टी अपनी जगह पर निश्चल पड़ी आनन्दित है। अपने पत्तों में लिपटा हुआ पौधा धूप और हवा का सेवन करता हुआ मगन है । जल बेरोक-टोक बहता हुआ प्रसन्न है। कीट पक्षी और लताएँ सब आनन्दित हैं लेकिन कवि के आस-पास की दुनिया हजारों चाबुकें लिए हुए दिन-रात पागलों के समान दौड़ती रहती है। इन्ही पागलों की दुनियाँ ने पहाड़ों के सौन्दर्य को नीलाम कर दिया है, फल-फूल से लदे जंगलों को काट डाला है, नदियों किनारे बँधी नाव के मछेरों के छप्पर में, गाँव के खपरैलों, रूआसे घरों में आग लगा दी है जिसके कारण जंगल सांय-सांय करता हुआ अभिशप्त बन गया है।[40] 'ढाकवनी' कविता ग्राम्य जीवन की

सुन्दर किन्तु दर्दभरी कहानी कहती है । किसानों का जीवन भिखारी और प्रेत के समान है । उन्हें दिन-भर श्रम करने के पश्चात भी पेट भर भोजन नहीं मिलता है- "भूख की मनहूस छाया/जबकि भोजन सामने हो/आदमी हो ठीकरे सा/जबकि साधन सामने हो/धन वनस्पति भरे जंगल/और यह जीवन भिखारी/शाम नूल का घूमता है/भोथरे हैं हल कुल्हाड़ी ।"[41] इसी प्रकार 'दियाधरी' कविता प्राकृतिक वर्णन में भी ग्रामीण माँ की वत्सलता का मनोरम चित्र उपस्थित करती है- "वत्सल छाती सी पहाड़िया/दूध पिलाने आतुरा/बच्चे सा सूरज सो जाता/लेकर मुँह में आँचरा/नम रहती पलास की चोली/रिसती बूँदे दूध की/माटी घास अमरता पाती चरागाह की रूँद की ।"[42] 'शाम की धूप' शीर्षक कविता गाँव के जीवन की व्यथा कथा है । गाँव में पग-पग पर कठिनाई है । घर से खलिहान तक न अन्न है न पहनने को वस्त्र । गुड़-दाल, चीनी, नमक तक नहीं है तो दूध घी की चर्चा ही व्यर्थ है । मौत सी संकटों की छाया अधिक नीचे तक आ गयी है और घरेलू अंगीठियों की आग बचाकर डँसना चाहती है ।[43]

गिरिजा कुमार माथुर को पीड़ा इस बात की है कि नरक की जिन्दगी जीने वाले किसान, श्रमिक और आम आदमी अन्ध विश्वासों के चक्कर में अपने सोने जैसे जीवन को राख बना रहे हैं । वे अपने रूग्ण बच्चों का भी झाड़-फूँक से (मटमैले बच्चे/बिन इलाज/झाड़-फूँक)[44] इलाज कराकर अपने हाथों से ही उसे मौत के मुँह में ढकेल देते हैं। इनकी दृष्टि में भ्रष्ट मन्त्र व्यर्थ का पाखण्ड है ।[45] करे शीश के समान मंत्र उड़ रहे हैं और आहुति प्यासी जिह्वाओ सी उड़ रही है।[46] विभिन्न प्रकार के मत-मतान्तर भोली-भाली आम जनता को अन्ध विश्वास रूप कुएँ में झोंककर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हुए अज्ञान को ही जन्म दे रहे हैं ।[47]

गिरिजा कुमार माथुर मूल्य विहीन रात वाली परम्परा के नहीं वरन् मानवतावादी मूल्यों की परम्परा के समर्थक हैं । उन्हें असीम व्यथा है कि मूल विहीन परम्परा, जिसमें

आडम्बर, पाखण्ड, धर्म के नाम आम जनता को ठगा जाता है, कुण्डली मारकर बैठी हुई परम निरंकुश नयी अग्नि के दाह में मूल्यों की परम्परा भ्रष्ट कर रही है- "अभी आज तो मार कुंडली/बैठी मूल्य विहीन रात है।/.... भस्म हो गयी सब परम्परा/परम निरंकुश नयी अग्नि के दाह में ।"[48]

मानवतावादी कवि माथुर सुदूर अतीत के उस मानवतावादी मूल्यों को-(फेंक दिये थे हमने/अनगिन-जीर्ण-वसनों से/सारे क्षुद्र स्वार्थ/क्रूर लोभ, कुटिल अहंकार/फेंक दिये थे दिग्विजयों के हथियार/हिंसा के आसन पर अभिषेकित किया था प्यार")[49]-स्थापित करना चाहते हैं । मानव के अन्तरिक्ष लोक की यात्रा के पश्चात क्या पृथ्वी पर समवेत शान्ति, प्यार पुनः न आ सकेगा ? कवि की पीड़ा आज के मानव से यह प्रश्न पूछती है कि क्या मध्य युग के क्रूर किले में या जन्तु गंधी अंधेरों में फिर से इतिहास की लहर लौट जायेगी।[50] उन्हें वैज्ञानिक प्रक्रिया से उद्भूत वही आधुनिकता प्रिय है जिसमें मूल्य-दृष्टि हो। आधुनिकता के बाह्य आरोप या उसकी अनुकृति उतनी ही दोषपूर्ण है जितना स्वीकृत रूढ़ियों का अनुकरण ।[51]

गिरिजा कुमार माथुर की प्रारम्भिक कविताओं का प्रेम मूर्त और मांसल है । इनकी प्रेयसी ही पत्नी है जिसने अपने ऊपर अपार संकटों को झेलकर अपने तन-मन, रोम-रोम की जीवन-आभा इनके अन्तस्तल में भरी है।[52] जीवन के प्रत्येक चरण में उन्हें प्रेम की वह पिपासा रही है जो प्रत्येक निकष को मिथ्या बनाती हुई अपनी सत्यता को प्रमाणित करती है ।[53] इस प्रणय के सत्य की खोज आत्मा की ओर मुड़ती है तभी प्रेम का वास्तविक स्वरूप ज्ञात होता है और कवि कह उठता है-

"तन का आकर्षण/है पशु का आकर्षण/तू पशुता से ऊपर उठकर/मानव वन/है **बुद्धिज्ञान ज्यादा तुझ में/पशुओं से/इसीलिए नेह** तू लगा/ज्ञान छवियों से/तू मुड़ आत्मा की ओर/देख छवि उसकी/जिस गुण से होती है/पहचान मनुज की ।"[54]

गिरिजा कुमार माथुर अपने प्यार के कलश के सम्पूर्ण जल को अपनी पत्नी के ऊपर उड़ेलते रहे हैं । इतना ही नहीं, उसके प्रदर्शन को न्याय की भाषा देना चाहते हैं ।[55] 'प्यार' को प्यार करने वाले माथुर जी पारिवारिक एकता को सम्पूर्ण देश की एकता की आधारशिला मानते हैं । इन्हें बच्चे अति प्रिय हैं । उनके द्वारा फैलाई गयी गन्दगी अब उनमें झुंझलाहट उत्पन्न नहीं करती।[56] वे परिवार को अपनी छाया मानते हैं । वे जहाँ जाते हैं परिवार की छाया उनके साथ जाती है और अंधेरे में उन्हीं में समा जाती है । जब-जब अंधेरा होता है तब-तब वह नारी-शक्ति की प्रतिमूर्ति अपनी पत्नी से मौत की तलवार से लड़ने के लिए शक्ति माँगते हैं ।[57]

गिरिजा कुमार माथुर स्वातन्त्रयोत्तर भारत के प्रमुख कवियों में अमिट हस्ताक्षर हैं जिनके शब्दों में वह अपरिमित शक्ति, प्रेम, त्याग, तपस्या, ममता, करूणा, न्यायप्रियता और मानवीय मूल्यों का दिक्दिगन्त तक व्याप्त हो जाने वाला कालजयी अनुरणन है जिसने कभी भी निराला की इस बात- "सुनो! तुम अपनी कलम पेट से बाँधोगे? तो जो तुम्हारा पेट जिस तरह भरेगा, वैसे ही कलम चलवायेगा"[58]-को मानकर अपने शब्द को बिकने नहीं दिया।[59]आकाश की विद्युत रेखा बनकर प्रत्येक फरेब की जकड़न को उन्होंने नंगा किया है ।

"गाँव पर अब भी अँधेरा पाख है"[60] की दृष्टि रखने वाले माथुर का "बीसवां अन्धकार" एक अधनंगा आदमी के काले कारनामों का कच्चा चिट्ठा है । इन्हें आधुनिक सभ्यता की आदम-प्रवृत्ति अप्रिय है । उनकी दृष्टि आम-आदमी की भूख-बीमारी, गरीबी, गन्दगी, कौड़ियों के मोल बिकती हुई जिन्दगी, दैन्य, दुःख, अन्याय तथा अत्याचार का उन पर होता हुआ वार और धूप, सर्दी और बरसात को सहती उनकी जीर्ण-शीर्ण काया पर है।[61] उन्हें सत्य, शिव और विश्व कल्याण पर विश्वास है । वे मृत्यु को मृत्यु न मानकर आखिरी नींद मानते हुए उसे जीवन की एक चुनौती मानते हैं । इस चुनौती को स्वीकार

करने वाला ही सारे मोहक सपनों के बीच अपने को समझ सकता है और नवीन सपने को पूरा करने के लिए जीता है।[62] पुनर्जन्म पर विश्वास न करने वाले[63] कवि माथुर यह स्वीकार करते हैं कि एक दिन मानव का शरीर मिट्टी में मिल जायेगा और मन यहीं पर मनोहर दृश्यों में रह जायेगा । वह बार-बार इन्हीं दृश्यों में जन्म लेगा और उसी में पुनः विलीन हो जायेगा।[64] कवि की दृष्टि में मन विराट है वह प्रकृति के प्रत्येक उपादानों- नयी-नयी कोपलों, घास, फूलों, सन्नाटे को तोड़ने वाले झींगुरों आदि- के रूप में बार-बार जन्म लेकर भूखे, प्यासे, सताये गये पीड़ित- शोषित जनों की व्यथा को हरता रहेगा । अन्त में उसकी यही अभिलाषा है- "जितने अधूरे छूट गये हैं मेरे काम/पूरा करने को उन्हें उकसायेगा/नये रूपों में/और अच्छी दुनिया को देखने/यह मन/यहीं-यहीं रहता चला जायेगा ।"[65]

पृथ्वी का प्रत्येक प्राणी द्वन्द्वों में जीता है किन्तु आम आदमी का द्वन्द्व भोगात्मक मात्र होता है । उसके द्वन्द्व में पीड़ा, संत्रास, भय पलायन अन्याय आदि का आधिक्य होने के कारण वही उसकी साँस बन जाता है । ये ही तत्व शोषकों की क्रीड़ा है । संवेदनशील कवि माथुर का हृदय उस द्वन्द्वात्मक टकराहट के परिणाम स्वरूप कुछ नयी कराह लेकर बहिर्भूत होता है । यही कराह उनकी कविता बनती है । भारत के आदि कवि वाल्मीकि का हृदय जब क्रौञ्च की पीड़ा नहीं सह सका और कविता के रूप में उन्होंने अपने आक्रोश को अभिव्यक्त किया तो संवेदनशील कवि माथुर का हृदय आम आदमी की पीड़ाओं से आँख मूँदकर कैसे कल्पना लोक में तैर सकता है । वह कवि कवि नहीं जो वर्तमान से आँख मूँदकर केवल स्वप्नों के संसार में विचरण करता हुआ मिथ्यावादी आडम्बरों का सृजन करता है । यथार्थ दृश्य अतीत के दर्पण में देखकर कुछ सीमा तक ही समझा जा सकता है । प्रत्येक अतीत न मोहक है न हेय है । यही स्थिति वर्तमान की है । सजग कवि दोनों के शिवत्व को लेकर एक ऐसे सत्य की सर्जना करता

है जो मानवता के शाश्वत मूल्यों- दया, करूणा, ममता, प्रेम अहिंसा- आदि को स्थापित कर जन-जन के लिए स्वर्णिम भविष्य का निर्माण कर सके । गिरिजा कुमार माथुर इसी सत्य की स्थापना के लिए आजीवन संघर्ष करते रहे हैं और उनका मन भविष्य में भी प्रकृति के विभिन्न रूपों में अवतरित होकर संघर्ष करता रहेगा, जब तक कि सच्ची मानवता की धरा पर स्थापना न हो जाय । गिरिजा कुमार माथुर 'वक्त के सामने' खड़े होकर 'महावृक्ष की पुकार' को सुनते हुए 'खोये वर्तमान की तलाश' में वैश्वानरीय शब्दों के द्वारा हमेशा हमेशा नये प्रकाश का सृजन करते रहेंगे ।

अज्ञेय की कविताओं में लोक संवेदना :-

कवि अज्ञेय का प्रारम्भिक जीवन प्रकृति की लहलहाती हरीतिमा से सम्पन्न सुरम्य वातावरण में बीता था । अतः प्रकृति के प्रति उनका आकर्षण स्वाभाविक ही था । उनके प्रथम काव्य-संग्रह "भग्नदूत" की- "दृष्टिपथ से जाते हो जब", "रहस्य", "असीम प्रणय की तृष्ण", "कहो कैसे मन को समझा लूँ" आदि कविताओं में विराट-प्रकृति के साथ कवि का रागात्मक सम्बन्ध प्रमुख रूप से दिखाई पड़ता है । इसके अलावा "बत्ती और शिखा" व "दीपावली का एक दीप" कविता में समाज की कृतघ्नता उनके लिए असह्य बनती दिखाई पड़ती है। "घट" व "नहीं तेरे चरणों में" कविता में आत्मीय जन के प्रति कोमल प्रतिकार की भावना दिखाई पड़ती है । कवि कुछ कविताओं में 'कवि व कविता' से सम्बन्धित विषयों व आदर्शो का बखान करने लगता है ।

तत्कालीन पराधीन भारतीय परिवेश में "प्रस्थान" व "पराजय गान" कविताएं कवि अज्ञेय को तत्कालीन सामाजिक सन्दर्भो या देश के प्रति आत्मीयता पूर्ण सम्बन्धों से जोड़ती है । अपनी 'प्रस्थान' कविता में कवि देश-हित की खातिर जान-न्योछावर करने वाले सैनिकों को रणक्षेत्र में जाने से पहले जी-भरकर रो लेने को कहता है ताकि युद्ध क्षेत्र में वह इस कमजोरी का शिकार न होकर अपने कर्त्तव्य का निर्वाह भली-भाँति कर

सके। अतः कहा जा सकता है कि कवि के इस संग्रह की कविताएं रहस्य, प्रेम, प्रकृति, सौन्दर्य के साथ-साथ समाज बोध और देश-प्रेम से भी जुड़ी हुई हैं । कालक्रम की दृष्टि से दूसरे काव्य संग्रह "चिन्ता" की कविताओं में कवि अज्ञेय चिरन्तन नारी व पुरूष के सहज आकर्षण को ही प्रमुख रूप से व्यक्त करते हैं । धीरे-धीरे जीवन के विस्तृत पहलू से परिचित होने पर उनकी समझ का दायरा बढ़ा । रहस्यात्मक दुनिया से नीचे उतर कर उन्होंने यथार्थ जीवन का साक्षात्कार किया। फलतः उनकी कविताएं मानवीय जीवन की संवेदनाओं से, युग यथार्थ से जुड़ती गयी । उनके 'इत्यलम' कविता संग्रह के 'बन्दी स्वप्न' खण्ड की कविताओं में तत्कालीन पराधीन भारत की चेतना कहीं बन्दी जीवन के कारण निराशा व अवसाद में डूबी हुई दिखाई पड़ती है तो कहीं क्रान्ति, राष्ट्रीयता की भावना व स्वतन्त्रता की चाह जन-जन में जागृत करती है।[1] इस खण्ड की कविताएँ कवि अज्ञेय के बन्दी जीवन के दौरान ही लिखी गयी थी । अतः बन्दी की व्यथा, पीड़ा, उसकी राष्ट्रीयता व क्रान्ति की भावना का यथार्थांकन करती हैं । इसी संग्रह के 'हिय हारिल' खण्ड की अधिकांश कविताएं विजय प्राप्ति की आशा से आलोकित, पराधीनता से शीघ्र मुक्ति के विश्वास से परिपूर्ण, हारिल की भाँति अपने स्वतन्त्रता के लक्ष्य को दृढ़ता से पकड़े हुए हैं । उनकी "कीर" "निरालोक" "आज थका हिय-हारिल मेरा", "उड़ चल हारिल", "ओ मेरे दिल" आदि कविताओं में स्वतन्त्रता-प्राप्ति की चाह, जो उन्हें सबसे प्यारी है, स्पष्ट देखी जा सकती है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए व्याकुल कवि कही थका जरूर है, पर हताश नहीं है । नयी शक्ति के साथ आगे बढ़ने का उत्साह उनमें सर्वत्र दिखाई पड़ता है । अतः स्पष्ट है कि पराधीन भारत की जनचेतना की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील कवि देश व जनता के प्रति रागात्मक सम्बन्ध रखता है ।

'वंचना के दुर्ग' खण्ड की "वर्ग-भावना-सटीक" शीर्षक कविता उच्चवर्गीय शोषण की प्रवृत्ति पर मर्मान्तक व कटु व्यंग्य करती है । कविता की मूल-संवेदना उन दो

पंक्तियों में है जहाँ कवि यह कहता है कि उच्चवर्गीय व्यक्ति ने अधम व्यक्ति के पास मैथुन सुख के अलावा और कोई सुख नहीं छोड़ा,[2] क्योंकि उनके सारे सुख तो उन्होंने निर्दयता पूर्वक छीन लिए हैं । एक कविता में कवि ने मानवता के शव पर आसीन तथा श्मशान के देव स्वरूप उन शोषकों को ललकारते हुए घृणा का गान गाया है,[3] जिन्होंने कृषक/मजदूर का शोषण कर उन्हें विचित्र स्थिति में डाल दिया है ।[4]

उनके 'इत्यलम्' काव्य संग्रह की एक महत्वपूर्ण कविता है 'घृणा का गान' जो पराधीन भारत में शोषकों के अत्याचार व समाज में व्याप्त छूआछूत, ऊँच-नीच की भावना पर कटाक्ष करती हुई तत्कालीन समाज की विसंगतियों को उजागर करती है व शोषित जन के प्रति हार्दिक संवेदना व्यक्त करती है —

"तुम जो महलों में बैठे दे सकते हो आदेश-
मरने दो बच्चे, ले आओ खींच पकड़कर केश
नहीं देख सकते निर्धन के घर दो मुट्ठी धान-
सुनो, तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान ।"[5]

"मिट्टी की ईहा" की कविताओं में अज्ञेय की अनेक विचारधाराएँ परिलक्षित होती हैं । मिट्टी के बीच उगने वाले बसन्त के अड्कुर रूप शोषित के क्रान्ति-स्वर शोषकों को दार्शनिक रूप में भौतिक जीवन की चकाचौंध में सत्य का आभास कराते हैं –

"कितना तुच्छ है तुम्हारा अभिमान,
जो कि मिट्टी नहीं हो
जो कि मिट्टी को रौंदते हो
जो कि ईहा को रौंदते हो,
क्योंकि मिट्टी ही ईहा है ।[6]

देश को आजादी तो मिली पर ऐसी कि, मानव से मानव की आँख मिलने पर गिलगिली घृणा उत्पन्न हो जाती है।[7] साम्प्रदायिकता व बैर की बुनियाद पर खड़ी आजादी ने खून की नदियाँ ही बहायीं । जिस बैर को अपने स्वार्थ की खातिर राजनीतिज्ञों ने पाला-पोसा । आज उसमें घृणा की खेती पककर तैयार है। नयी पीढ़ी को पकी हुई यह घृणा की खेती ही विरासत में मिली है।[8] अज्ञेय की "शरणार्थी" शीर्षक कविताएँ स्वतन्त्रता के कुछ समय बाद भारत-पाकिस्तान के बीच हुए युद्ध के दौरान शरणार्थी हुए व्यक्ति की दुर्दशा का अत्यन्त संवेदना पूर्ण व सजीवांकन करती है। युद्ध की विभीषिका से प्रभावित आम-आदमी शरणार्थी बन कर दर-दर की ठोकर खाने को मजबूर है। गाँव या शहर कहीं भी उनके रहने का ठिकाना नहीं है । त्राहि-त्राहि करते ये शरणार्थी 'कैसे अपने-आपको इन खतरों से बचायें'[9] -इसी चिन्ता में बिना रूके अपरिचित पथों पर बढ़े जा रहे हैं । बूढ़े, बच्चे सभी इस गम्भीर त्रासदी के शिकार हैं । सिर झुकायें, पीठ पर गट्ठर लादे, गोद में बच्ची लिए, अपनी मिट्टी से दूर होने की पीड़ा को समेटे इन शरणार्थियों की विवशता का कवि मूक साझीदार हैं ।[10]

भारत-पाक दंगे के दौरान लिखी गयी "गाड़ी रूक गयी" कविता में कवि उन्हें धिक्कार रहा है, जो साम्प्रदायिक एकता में बाधक बनकर मनुष्य के नाम पर कलंक है। कविता की वस्तु इस प्रकार है- चलती हुई गाड़ी के अचानक रूक जाने पर पड़ताल करने पर पता चलता है कि किसी को छुरा मारकर बाहर फेंक दिया गया है । मनुष्य का इस प्रकार अपमान करने वालों के प्रति कवि में तीव्र आक्रोश है।[11] आधुनिकता की होड़ में पशुओं की खाल से ढके हुए इन मनुष्यों के भयंकर रूप के पीछे का इन्सान अभी पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ है, तभी तो कवि कहता है कि इनके अन्दर अभी खरा इन्सान है, पर वह दरिन्दों द्वारा सुला दिया गया है । आओ उन्हें जगा दें, उनके ऊपर चढ़ी पशुओं की खाल उतार दें ताकि ये पुनः मनुष्य बनकर मनुष्य के हित में सोच सकें

"किन्तु भीतर कहीं/भेड़-बकरी, बाघ-गीदड़, साँप के बहुरूप के अन्दर/कहीं पर रौंदा हुआ अब भी तड़पता है/सनातन मानव-/खरा इन्सान-/क्षण भर रूको तो उसको जगा लें ।"[12]

छब्बीस जनवरी के प्रथम पुनीत पर्व के अवसर पर कवि युगों-युगों के स्वप्न को साकार होते देख आह्लादित है । अपने देश के नागरिकों को सम्बोधित करते हुए वह कह रहा है कि स्वतन्त्र भारत का यह आलोक पर्व तुम्हारे ही स्नेह व तुम्हारे ही रक्तदान का प्रतिफल है । इसे सँवार कर रखना भी हम सबकी प्रतिज्ञा होनी चाहिए-

"आज हम अक्लान्त, ध्रुव, अविराम गति से बढ़े चलने का कठिन व्रत धर रहे हैं/आज हम समवाय के हित, स्वेच्छया आत्म अनुशासन नया वर रहे हैं ।"

इसी कविता में आगे वे कहते हैं-

उत्तरोत्तर लोक का कल्याण ही साध्यः/अनुशासन उसी के हेतु है।[13] स्वतन्त्रता के बाद भी लोक का कल्याण ही हमारा लक्ष्य है । अतः हम अनुशासित रहे तो निश्चय ही इस लक्ष्य (लोक-कल्याण) की प्राप्ति हो सकेगी ।

स्वतन्त्रता के बाद लोक-कल्याण के नाम पर अनेक कार्य किये गये, पर उसका लाभ गरीबों, दलितों के जीवन में कोई खास परिवर्तन न ला सका । उनकी गर्दनें शोषकों या जीवन दाता के पैरों तले दबी रही । अज्ञेय शोषक भैया[14] कविता में शोषकों पर व्यंग्य करते हुए उन्हें आमन्त्रित करते हैं कि वे आयें और अपनी काली करतूतों के माध्यम से शोषितों के रक्त को पियें । साथ ही वे यह भी कहते हैं कि अगर उनके रक्त में कोई दोष है तो इसके लिए वे जिम्मेदार नहीं । क्योंकि आज उनकी जो स्थिति है वह उनके जीवनदाताओं की ही देन है । कविता के अन्त में शोषितों में भी संघर्षशक्ति आने का संकेत देते हुए कवि कहता है कि मेरे रक्त में जो ढलते इस्पात की धार है अर्थात आज जो मैं इतने उग्र स्वभाव का हो गया वह भी तुम्हारी ही देन है । तुम मुझसे क्यों डर

रहे हो?तुम्हीं ने तो मुझे निर्मित किया है । निर्माण करने वाला ही काल बनकर आता है।

'श्रम कोई और करे, खाये कोई और'- इस विडम्बना पूर्ण व्यवस्था से दुःखी कवि उन कृषक-मजदूरों के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त कर रहा है जिसके श्रम का लाभ सेत में खाने वाले महाजन को मिल रहा है।[15] कवि "हवाई यात्रा" का जोखम भरा खेल भले ही खेल रहा है, पर उसकी निगाह से वह किसान परे नहीं है, जो हर वक्त दूसरों के लिए अन्न जुटाने में अपने श्रम की पूँजी व्यय करता है । कवि यह स्वीकार करता है कि मेरा यह हवाई खेल किसान के सामने बेहद तुच्छ है जो अपने आगे पीछे की सैंकड़ों पीढ़ियों को जीवनदान दे रहा है-

"उस अपने आड़ी किसान की जोखम मुझसे बहुत बड़ी है-

मैं जो अपनी एक जान को ही चिपटे हूँ-

वह अपने आगे-पीछे सैकड़ों पीढ़ियाँ दाँव-दाँव पर बढ़ा देता है ।"[16]

कवि ऊँची उड़ान भरने वाले व्यक्तियों को सम्बोधित करते हुए उन्हें यथार्थ धरती को देखने व समझने की सलाह देते हुए कहता है कि वह उड़न खटोले की दुनिया से नीचे उतरकर उन्हें देखे, जो उनके जैसे ही इन्सान है पर अन्तर इतना है कि उनकी आँखे व्यथा से नम हैं।[17] "मैं वहाँ हूँ" कविता में कवि का संवेदनशील हृदय उन सभी के लिए द्रवित है जो अपने लिए तो कुछ भी नहीं जुटा पाते, पर दूसरों के लिए जीविका के साथ-साथ विलासिता के साधनों की आपूर्ति में अपना जीवन लगा देते हैं -

"यह जो मिट्टी गोड़ता है, कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है

उसकी मैं साधना हूँ ।

यह जो मिट्टी फोड़ता है, मड़िया में रहता है और महलों को बनाता है

उसकी मैं आस्था हूँ ।[18]

कालिख पुते खानों में उतरने वाला, कचरा ढोने वाला, झल्ली लेकर घूमने वाला,

गदहे हाँकने वाला, तन्दूर झोंकने वाला, रद्दी बटोरने वाला, वासन माँजने वाला, रिक्शा में अपना प्रतिरूप लादे खींचने वाला हर "पीड़ित श्रमरत मानव/अविजित दुर्जेय मानव/कमकर श्रमकर, शिल्पी, स्रष्टा"[19] की व्यथा का कवि सहभोक्ता ही नहीं वरन् उन्हें उनके दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला साक्षात् संघर्ष ही है-

"मैं संघर्ष हूँ जिसे विश्राम नहीं,

जो है मैं उसे बदलता हूँ, जो मेरा कर्म है, उसमें मुझे संशय का नाम नहीं"[20]

"इतिहास की हवा"[21] कविता में आधुनिक जीवन की मूल्यहीनता व सामाजिक अस्त व्यस्तता को शब्दों में पिरोया गया है । कवि ने इतिहास के उन पृष्ठों को खोला है, जिन पर ताजमहल बनाने वाले के हाथ काट लिए जाने व गुरूदक्षिणा में एकलव्य का अंगूठा मांग लिए जाने की करूण कथा अंकित है । सामाजिक असमानता का मर्मान्तक दृश्य तत्कालीन समाज में अपने को दोहरा रहा है । आज का द्रोण किसी एक शिष्य के अधिकार का हरण नहीं करता, वरन वह सम्पूर्ण समाज का भला नहीं चाहता । जो पददलित है, उनके लिए पहले तो वह कुएँ खुदवाता है ताकि अपनी छवि उनके बीच बना सके । फिर वही द्रोण चुपके से उनके कुएँ में भाँग डाल देता है ताकि वह अपने विवेक से उचितानुचित का निर्णय न कर सके । अपने इस कार्य के द्वारा द्रोण पददलितों के विवेक को खरीद लेता है, फिर तो ये पददलित गुरू के इशारे पर अपने ही समान अन्य पददलितों की झोपड़ियों में आग लगाने में संकोच नहीं करते।[22] इस कविता में कवि ने सांकेतिक रूप से यह भी कहने का प्रयास किया है कि गरीब ही जब गरीब का दुश्मन बन जाये तो सामाजिक विषमताओं को कैसे दूर किया जा सकता है ।

अपनी फटेहाल स्थिति को छिपाने के लिए रात में निकलकर भीख माँगने वाले व दर-दर की ठोकर खाने वाले लोगों को देखकर कवि आधुनिक सभ्यता पर तीखा व्यंग्य करता है । जहाँ एक ओर शहरों में हर नुक्कड़ पर पक्के पेशाबघरों व सुन्दर

कचरा-पेटियों की व्यवस्था है तो दूसरी ओर इसका निर्माण कर्ता ही कूड़े से भी बदतर जिन्दगी जी रहा है । कवि "महानगरः रात" कविता में तथाकथित सभ्य माने जाने वाले लोगों से प्रश्न करता है, जो गरीबी, फटेहाली की इस स्थिति के लिए सीधे जिम्मेदार हैं -

"बोलो, उसको देने को है

कोई उत्तर

होगा?"[23]

स्वतन्त्रता के इतने वर्ष बीत जाने के बाद भी सभी का पेट नहीं भर पाया है । भूख की पीड़ा से छटपटाते लोगों के लिए ऐसी स्वतन्त्रता का क्या मूल्य? ये हमारे देश के तथाकथित कर्णधारों का ही किया धरा है जिनको अपनी जेबों के अलावा किसी का दुःख-दर्द दिखता ही नहीं । तभी तो खेतों में फैली हरियाली किसानों के दिल तक नहीं पहुँच सकी । हर वह चीज खाली है जो भरी होनी चाहिए । "हरा भरा है देश" कविता में कवि का संवेदनशील हृदय यह देखकर द्रवित है कि खेत तो हरे भरे हैं मगर खलिहान खाली हैं । अभावग्रस्त लोगों की आँखे तो भरी हैं किन्तु उनके पेट खाली हैं, बनिये के कागज तो भरे हैं, पर टेंट खाली है । व्यवस्था की मार से जो पहले ही मरे हुए जैसे हैं, वह जी कर भी क्या करें? जिसको पीने के लिए पानी नसीब नहीं, वह किसी से बदला लेने की ताकत कहाँ से जुटायेगा । अभावग्रस्त जिन्दगियों के लिए जिम्मेदार ऐसे लज्जाहीन, हृदयहीन व्यक्तियों को अपनी करनी का फल अवश्य ही भुगतना होगा, ऐसा कवि का विश्वास है-

"पकेगा फल, चखना होगा

उन्हीं को जो जीते हैं आज

जिन्हें है बहुत शील का ज्ञान-

नहीं है लाज ।"[24]

जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में जुटे व्यक्ति को सामाजिक असंगतियों को जानते हुए भी मौन रहना पड़ता है, क्योकि इन्ही विसंगतियों के बीच ही उनकी जीविका के स्रोत हैं जिसे वह खोना नहीं चाहता । राजा जी के बाग में एक कुआँ है जो सुरक्षा कवच से ढ़का है जिसका जल अत्यन्त मीठा व स्वच्छ है। राजा के सेवक के लिए एक नदी है जिसके पानी में लोग नहाते हैं, कपड़े धोते हैं, उसी में उनके पशु नहाते हैं, अगर कोई मर जाय तो वही उनका दाह संस्कार भी होता है। कुआँ जो सार्वजनिक सम्पत्ति है, राजा जी का ही अधिकार है। आम-आदमी के लिए तो वह एक सपना है। अज्ञेय की "बाँगर और खादर"[25] कविता इस कटु सामाजिक सच्चाई पर मूक प्रहार करती हैं। इसी तरह उनकी "औद्योगिक बस्ती"[26] कविता बड़े-बड़े उद्योगों में काम करने वाले अभावग्रस्त मजदूरों की विवशता को स्पष्ट करती है यह जानते हुए भी इस काम में उनकी आयु तेजी से कम होती जा रही है, फिर भी वे अपने-आपको मजबूरी वश उसमें झोंके रहते हैं।

एक छोटा बच्चा, जिसे अभावों ने समय से पहले ही "अनुभव परिपक्व" बना दिया है, पाठक की संवेदना को गहराई से संस्पर्श करता हैं । बच्चा अपनी माँ से यह आस लगाये बैठा है कि वह अगली दीवाली में 'टीन का लट्टू' लेगा। वह छोटी सी उम्र में यह महसूस कर रहा है कि माँ इस स्थिति में नहीं कि वह टीन का लट्टू खरीद सके, तो वह अपनी माँग कुछ कम करते हुए कहता है कि 'माँ' मुझे 'कागज की फिरकी' तो ले देना। अन्ततः बच्चा कहता है कि मुझे वो भी नहीं चाहिए, और फिर वह जिस चीज की माँग करता है वह कविता में बच्चे की 'अनुभव परिपक्वता' व घर की कारूणिक दशा का बिम्ब एक साथ-खड़ा करती है -

"-अच्छा, माँ, मुझे खाली मिट्टी दे दो-

मैं कुछ नहीं माँगूँगा:

मेले जाने की हठ नहीं ठानूँगा ।

जो कहोगी मानूँगा ।"[27]

१९६५ में हुए भारत-पाक युद्ध के यथार्थ से कवि अपनी लेखनी को अलग न रख सका, जिसे जन-जन के सहयोग के बिना नहीं जीता जा सकता था । युद्ध के बाद की तबाही- रौंदे हुए खेत, जहाँ-तहाँ पड़ी मौत की मशीने, जलते गाँव, नहरों के टूटे कगार, बैर की जलती पगडण्डियाँ-ये सभी जन-हानि को ही द्योतित करते हैं। कवि नतमस्तक हो उस जन के प्रति आभार व्यक्त करता है जिसके बिना यह जीत सम्भव नहीं थी –

"देश के जन-जन का/यह स्नेह और विश्वास

जो हमें बताता है/कि हम भारत के लाल है-

x x x x x

हमें बल दो, देशवासियों, क्योंकि तुम बल हो"।[28]

"अन्धकार में जागने वाले"[29] शीर्षक कविता में कवि उस हर योद्धा की जिन्दगी का मूक साक्षी है जो देश की खातिर युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए दुश्मनों की राह में विस्फोटक बिछाता है और युद्ध भूमि में मारा जाता है । इसी कविता में कवि उस अभावग्रस्त जीवन को वाणी देता है, जो युद्ध से बेखबर है, और जिनकी सुबह रोजी-रोटी के लिए जद्दोजहद से शुरू होती है ।

किसी भी सभ्य राष्ट्र के लिए दासता बहुत बड़ा कलंक है । आजादी के इतने वर्षो के बाद भी यह दास-वृत्ति नष्ट नहीं हो पायी । जीवित धड़कनों का सौदा मानवता का भयंकर अपमान है । माताएँ, बहनें, बहुएँ व बेटियों की खरीद-फरोख्त से उत्पन्न शब्दातीत व्यथा कवि के अन्तर्मन को पीड़ा पहुँचाती है। अपनी "दास-व्यापारी"[30] कविता में कवि उन पर अपना आक्रोश व्यक्त करता है, जिनकी रंगरेलियों के कारण यह व्यापार चलता है । अन्य अनेक सामाजिक बुराईयों में जातिगत भेद-भाव, धर्म व सम्प्रदाय के नाम किये जाने वाले कृत्य देश को खोखला करने के प्रयास में जुटे हुए हैं । "अहं राष्ट्री

संगमनी जनानाम्" कविता में कवि ने उस समाज पर व्यंग्य किया है, जहाँ सभी जातिगत भावना से भरे हुए हैं । हर जाति के लोगों के एक न होने पर कवि को कहीं वह समाज नहीं दिखा, जो किसी देश की एकता व सुदृढ़ता के लिए अनिवार्य है । वह देश से पूछता है-

"देस रे देस/तेरे सिर पर कोल्हू/इसका भार तू कैसे ढोयेगा/

जिसे पेरेंगे जाट, बाम्हन, बनिया, तेली, खत्री/....

कब बनेगा तू राष्ट्र ।"[31]

देश के सुविधा-भोगी लोगों का अभारतीय वस्तुओं के प्रति प्रेम कवि के लिए दुःखद है । अपनी "जनपथ x राजपथ" कविता में कवि पाश्चात्य सभ्यता रूपी भैंस को राजपथ पर बैठकर जुगाली करते हुए देखकर व्यंग्य करता है-

"राष्ट्रीय राजमार्ग, प्रादेशिक पशुः/योजना आयोग वाले करें तो क्या करें ?/विचारे उगाते हैं/आयातित रासायनिक खाद से/ अन्तर्राष्ट्रीय करम कल्ले ।"[32]

"केले का पेड़"[33] "देखिये न मेरी कारगुजारी"[34] कविता में कवि खुशामदी उन लोगों पर व्यंग्य करता है जिनकी अपनी रीढ़ की हड्डी है ही नहीं । जब तब वह अपने हित की खातिर दूसरों के चरणों में झुके रहते हैं, और इसे ही अपना सौभाग्य समझते हैं ।

हमारे देश में निर्माणकर्ता, जिसके श्रम की बुनियाद पर महलों व पुलों का निर्माण होता है उसका समाज में क्या मूल्य है। "जो पुल बनायेंगे" कविता इसका कटु अहसास कराती है।[35] कवि निरन्तर श्रम द्वारा कुछ नया निर्मित करते रहने वाले की महत्ता को भलीभाँति समझता है ।[36]

अज्ञेय अपनी कविताओं में एक ओर तो शोषकों के दुष्कृत्यों पर प्रहार करते व **शोषितों की पीड़ा, उनके मर्मान्तक दुःखों के प्रति सहानुभूतिशील दिखते हैं, वहीं दूसरी** ओर ग्राम्य-जीवन के बीच नित नूतन दिखाई पड़ने वाली उन्मुक्त प्रकृति को अनुभूतियों

में उतारते हैं, और फिर अत्यन्त सहज शब्दों में, लोक लय के सहारे उसे अभिव्यक्ति देते हैं । विभिन्न ऋतुओं में होने वाले परिवर्तनों से कवि भलि-भाँति परिचित है । तभी तो वह प्रभावकारी व सहज भाषा के माध्यम से हर-ऋतु को सजीव कर देता है । गाँव से तादात्म्य बनाये रखने वाले कवि अज्ञेय की प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ उन्हें लोक के अत्यन्त निकट ले आती हैं । "कतकी पूनो" (कार्तिक पूर्णिमा) की शीतल चाँदनी में फलाँग भरती शशकों की जोड़ी, फुहार सा झर रहा कुहरा, अकासनीम, मालती व कास की आभा मन को सहज ही आकर्षित करती है । उस स्वच्छ चाँदनी में ग्राम्य बाला के मन की हुलास, जो अपने प्रियतम की राह देख रही है, इस प्रकार प्रकट हो रही है जैसे चोरों की परछाई न चाहते हुए भी उभर जाती है ।[37]

'बसन्त की बदली', 'शरद', 'रात सावन की', 'क्वार की बयार', 'सो रहा है झोंप', 'सबेरे-सबेरे', 'तुम फिर आ गए क्वाँर', 'चाँदनी जी लो', 'झरने के लिए', 'सन्ध्या-तारा', 'प्रथम-किरण', 'पानी बरसा' आदि कविताएं[38] कहीं प्रकृति का सुमधुर बिम्ब उपस्थित कर मन को मोहती है, तो कहीं मानव के सुख-दुःख की सहचरी बनकर उनमें स्नेह व प्रेम का संचार करती है । "चाँदनी जी लो"[39] कविता में कवि शरद चाँदनी के सुमधुर हास से क्षण के लिए ही सही, अन्तर्मन को प्रफुल्लित करने की सलाह दे रहा है।

आरम्भ से लेकर काव्य-यात्रा के अन्तिम चरण तक की उनकी कविताओं में प्रकृति इस प्रकार छायी हुई है, जैसे पुष्प में सुगन्ध ।

कवि सिर्फ ग्रामीण प्रकृति की सहजता में ही अपने को नहीं डुबाये रखता । गाँव में रहने वालों की सहज जीवन-शैली, उनकी समस्यायें, उनके दुःख-दर्द, रीति-रिवाज, विश्वास व परम्परायें भी कवि की संवेदनशील दृष्टि से परे नहीं रहे हैं । "हमारा देश" कविता ग्रामीण-संस्कृति से उनके लगाव व शहराती सभ्यता पर तीक्ष्ण व्यंग्य करती है -

"इन्हीं तृण-फूस छप्पर से

ढँके ढुलमुल गँवारू

झोपड़ों में ही हमारा देश बसता है ।

x x x x

इन्हीं के मर्म को अनजान

शहरों की ढ़की लोलुप

विषैली वासना का साँप डँसता है ।"[40]

उपेक्षित पर्वतीय गाँव की दुर्दशा पर कवि का संवेदनशील मानस कहता है कि शहरों में तो समृध्दि का ज़ाल सा फैला है, पर इन पर्वतीय गाँवों में सामान्य वस्तु भी अनुपलब्ध है । जो उपलब्ध है, वह है- "भूख व बेबसी" । जब शासन के सामने माँगे रखी जाती हैं तो उन्हें सिर्फ झूठे वायदे मिलते हैं ।

"कल के लिए हमें/नाज का वायदा है-/आज ठेकेदार को/हमारे पेड़ काट ले जाने दो;/ कल हाकिम के आयात की/योजना सुनाने आवेंगे-/आज बच्चों को/भूखा ही सो जाने दो ।"[41] और तो और अपने स्वार्थ के लिए प्राकृतिक सम्पदा का लगातार दोहन वहाँ के सौन्दर्य को भी दिन-प्रतिदिन नष्ट करता जा रहा है । कवि के अनुसार अगर इसी प्रकार 'बीस-तीस पचास बरस' और दोहन चलता रहा तो-

"हम तुम्हारे नीचे एक मरू बिछा चुके होंगे ।"[42]

क्योंकि झरने-सोते के सूख जाने व धुँधुआते ट्रकों से निकले धूम-सूत्रों के गुंझर से विषाक्त वातावरण वहाँ बीमारियों को ही उत्पन्न करेगा, जिससे जन-हानि ही होगी ।

अज्ञेय की कविताओं में लोक जीवन में व्याप्त संस्कार, रीति-रिवाज पर्वोत्सवों **विविध विश्वास व मान्यताएँ और इन्हीं के बीच बिखरी हुई भारतीय संस्कृति की छटा** सर्वत्र दिखाई पड़ती है । पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई लज्जाशील भारतीय नारी का

बिम्ब "पूनों की साँझ" कविता में सहज ही मन को आकर्षित करता है-

"पति सेवा रत साँझ/उचकता देख पराया चाँद

लजा कर ओट हो गयी ।"[43]

त्यौहारों के प्रति लगाव को कवि की इन पंक्तियो से भलि-भाँति समझा जा सकता है -

"कल जो जला रहे थे दीप

आज संलग्न भाव से माँज रहे हैं फर्श

कि कैसे दाग तेल के छूटे ।"[44]

जो तेल कल दीप प्रज्वलित करते वक्त गिरा था आज उसे ही साफ कर रहे हैं । इन कार्य को करने में उनके मन में कोई मलाल नहीं है । तेल पोछने में दिखाई पड़ने वाली उनकी संलग्नता त्यौहारों के प्रति उनकी अटूट आस्था को व्यक्त कर रही है । किसी उत्सव में तोरण सजाना, पाहुनों को पत्तर में भोजन कराने की लोक-रीतियों से सजी-सँवरी कविता अज्ञेय की इन रीतियों में आस्था को व्यक्त करती है -

"अम्बार है जूठी पत्तलों का; निश्चय ही पाहुन आये थे ।

बिखरी पड़ी है डालियाँ-पत्तियाँ; किसी ने तोरण सजाये थे ।"[45]

भगवान बुद्ध के मद्धिम स्वरों को दुहराते हुए कवि कहता है कि तितीर्षा ही तीर्थों का निर्माण करती है । मन्दिरों में तो कुछ नहीं होता, वहाँ तीर्थ यात्री की श्रद्धा ही मूर्ति को अर्थवत्ता प्रदान करती है । कवि को जन-सामान्य की तीर्थो के प्रति आस्था अनुचित नहीं लगती, क्योंकि उससे कोई हानि नहीं है। इतना जरूर है कि जो अन्दर से जितना दानी है वह उतने की प्राप्ति का ही हकदार है ।

"कुछ मिलेगा, अवश्य मिलेगा,

पर उतना ही जितने का तू है अपने भीतर से दानी ।"[46]

अज्ञेय की सम्पूर्ण कविताओं को देखने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि संवेदना के साथ-साथ सजग बौद्धिकता होने के कारण कवि की अनुभूतियाँ गहराई तक न जाकर सतह को ही भली-भाँति देख सकी हैं । कहने का तात्पर्य यह नहीं कि उनमें लोकानुभूतियाँ थी ही नहीं । इतना अवश्य है कि वे लोक जीवन में उस गहराई तक नहीं पहुँच सके, जिस गहराई तक लोक जीवन के बीच पलाँव बढ़ा हुआ व्यक्ति पहुँच सकता है ।

निष्कर्ष :-

इन सभी कवियों की रचनाओं में लोक जीवन की अनकही वेदनाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण है । सत्ताधारी व पूँजीपतियों के प्रति इनके मन में अत्यन्त आक्रोश है जो आम-आदमी की निम्नतर स्थिति के जिम्मेदार है । इन्हें प्रेम है गाँव की मिट्टी से, किसानों के दुर्गन्ध-युक्त पसीने से, जो अन्न के रूप में परिवर्तित होकर पूँजीपतियों की भूख मिटाता है । उन्होंने अपनी कविताओं द्वारा चढ़ी हुई रूढ़ियों की प्रत्यंचा वाले अन्ध-विश्वासों के शिव धनुष को तोड़कर दबे हुए लोगों के एक हाथ में हथौड़ा और दूसरे में श्रमशील हंसुए को थमाकर जीने का रास्ता बताया है । इन कवियों को विश्वास है कि एक दिन गरीबों के रक्त से बने हुए शोषकों के गगनचुम्बी भवन-जिनमें सिसकती हुई कितनी ही दलित औरतों की प्रतिष्ठा दफनायी गयी है, मजदूरों की सूखी हुई हड्डियाँ चुनी गयी हैं, दलितों के, शोषित के रंग जगह-जगह पुते हुये हैं और किसानों की आत्माएँ सिसकती हुई मुक्ति के क्षण की प्रतीक्षा कर रही है- धूल में मिल जायेंगे और एक लाल बीज का विरवा पनपकर महान् अक्षयवट बनेगा, जिसकी सुखद शीतल छाया में बैठकर शोषित जन अपने अतीत की नींव पर सुखद भविष्य का निर्माण करेंगे ।

चतुर्थ अध्याय - सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

नागार्जुन

(1) सतरंगे पंखो वाली (कविता संग्रह) – नागार्जुन, "खुरदरे पैर" शीर्षक कविता, पृ0 – 23।

(2) दृ0 वही, पृ0 – 24।

(3) "सामने आकर/रूक गयी चमचमाती कार।

बाहर निकली वासक सज्जा युवतियाँ।

X X X

मुड़ गयी सहसा वापस/............... तीन वोट रह गये फैशन के नाम पर।"

नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक – शोभाकान्त मिश्र, पृ0–122, 123।

(4) तुमने कहा था (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ 0 81।

(5) "श्रम का अपना सु-फल वो/जाने किस–किस को चखाएगा,

वो अपना मन ताश और शतरंज में नहीं लगायेगा।

X X X X

कुछ न कुछ उपजा के चले जाएँ/भले, दूसरे ही उनके उपज के फल पाएँ।"

खिचड़ी विप्लव देखा हमने (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 39–39।

(6) प्यासी पथराई आँखे (कविता संग्रह) – नागार्जुन, "घिन तो नहीं आती" शीर्षक कविता, पृ0 – 29।

(7) युगधारा (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 113।

(8) "नागार्जुन" – डॉ0 प्रभाकर माचवे, पृ0 – 70।

(9) युगधारा (क0 सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 103–104।

(10) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक–शोभाकान्त मिश्र, पृ 0 186।

(11) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक–शोभाकान्त मिश्र, पृ0 – 240।

(12) दृ0 वही, पृ0 – 236।

(13) "मैं तुम्हारी जूतियाँ चमकाऊँगा / दिल बहलाऊँगा तुम्हारा।

कुछ भी करूँगा तुम्हारे लिए....... / मैं तुम्हें अपना चुम्बन दूँगा।"

नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ–2, सम्पादक–शोभाकान्त मिश्र पृ0–202।

(14) दृ0 वही, पृ0 107–108।

(15) माँ–बाप गरीब, न कर सकते प्रतिकार बहरापन का,

सोचा होगा, पकड़ा देंगे कोई पथ जीवन यापन का।

X X X X

जिससे न माँगनी पड़े भीख/लेकिन यह तो बस सपना है।

चलता भी बस कुछ अपना है।"

तालाब की मछलियाँ (क0सं0)– नागार्जुन, पृ0 – 12।

(16) खिचड़ी विप्लव देखा हमने (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 83।

(17) खिचड़ी विप्लव देखा हमने (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 40।

(18) "सामन्तों ने कर दिया प्रजातंत्र का होम,

लाश बेचने लग गये खादी पहने डोम।"

"नागार्जुन" – डॉ0 प्रभाकर माचवे, "प्रजातन्त्र का होम" शीर्षक कविता, पृ0 – 97।

(19) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक शोभाकान्त मिश्र, पृ0 – 83।

(20) "खादी ने मलमल से अपनी साँठ–गाँठ कर डाली है।"

इस गुब्बारे की छाया में (क0सं0) – नागार्जुन – पृ0 – 62।

(21) दृ0 वही, पृ0 – 63।

(22) प्यासी पथराई आँखे (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 36–37।

(23) प्यासी पथराई आँखे (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 55।

(24) दृ0 वही, पृ0 – 55।

(25) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ –2, सम्पादक–शोभाकान्त मिश्र, पृ0–141।

(26) प्यासी पथराई आँखे (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 60।

(27) दृ0 वही, पृ0 – 33।

(28) दृ0 वही, पृ0 – 34।

(29) "अन्दर–अन्दर विकट कसाई, बाहर खद्दर घारी है।"

इस गुब्बारे की छाया में (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 62।

(30) युगधारा (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0' 100।

(31) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ–2, सम्पादक–शोभाकान्त मिश्र, पृ0–139।

(32) "लोकतन्त्र के मानचित्र को रौंद रही है, कील रही है,

सत्तामद की बेहोशी में हाँफ रही है।

ऑय–बॉय बकती है कैसे, देखो कैसे काँप रही है,

यह चुड़ैल है।

महाकुबेरों की रखैल है।"

खिचड़ी विप्लव देखा हमने (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 28।

(33) "जमती अशोक के सिंहों पर वेशर्म उल्लुओं की जमात,

X X X X

रो देती क्रान्ति कुमारी तब, जब होता उसका चीर–हरण

नब्बे प्रतिशत का दस प्रतिशत खुलकर करते तकदीर–हरण।"

तुमने कहा था (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 9।

(34) "नयी ऋचा, नव मंच रचेगी अन्न ब्रह्म की माया

X X X X

युग की पीड़ाएँ हर लेंगी अन्न ब्रह्म की माया।"

नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, पृ0 – 208।

(35) द्र0 वही, पृ0 – 264।

(36) "मेरे साक्षात्कार", – नागार्जुन, पृ0–89।

(37) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, पृ0 – 286।

(38) "पतित बुद्धिजीवी जमात को आग लगा दो ....

वर्ग–शत्रु तो ढ़ेर पड़े हैं / उनकी ही लाशों से अब तुम /

भूमि पाटते चलना ....।"

आखिर हमने ऐसा क्या कह दिया (क0सं0)– नागार्जुन पृ0 198।

(39) "मेरे साक्षात्कार", नागार्जुन – पृ0 – 127।

(40) तालाब की मछलियाँ (क0सं0) नागार्जुन, पृ0 – 2 ।

उद्धृत – "नागार्जुन" – सत्यनारायण, पृ0 – 41।

(41) यों ही गुजरेंगे हमेशा नहीं दिन/बेबसी में खीझ में,

घुटन में, ऊबों में/आयेंगी वापस जरूर हरियालियाँ।"

"नागार्जुन" – डॉ0 प्रभाकर माचवे, पृ0 – 90।

(42) महाभिनिष्क्रमण, उद्धृत – नागार्जुन की काव्य यात्रा – डॉ0 रतन कुमार पाण्डेय, पृ0–30–31।

(43) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक – शोभाकान्त मिश्र, पृ0 – 245।

(44) "नागार्जुन की काव्य यात्रा" – डॉ0 रतन कुमार पाण्डेय, पृ0 – 46।

(45) "यज्ञ के निमित्त पशुओं की सृष्टि की विधाता ने,

यज्ञ के निमित्त ही उन्हें मार गिराया जाता है

इसी कारण मैं तुम्हें मरवाऊँगा

यज्ञ की हिंसा ,हिंसा नहीं हुआ करती।"

मेरे साक्षात्कार – नागार्जुन, पृ0 – 84, 86, 91 एवं 93।

(46) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक शोभाकान्त मिश्र, पृ0 – 140।

(47) द्र0 वही, पृ0 – 42।

(48) "नागार्जुन की काव्य यात्रा" – डॉ0 रतन कुमार पाण्डेय, पृ0–48 पर उद्धृत।

(49) "भूख ही सबसे बडा धर्म है, सबसे बड़ा देवता है।"

"तेरी खोपड़ी के अन्दर" शीर्षक कविता।

उद्धृत – "नागाजुर्न की काव्य यात्रा" – डॉ0 रतन कुमार पाण्डेय, पृ0–49।

(50) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक शोभाकान्त मिश्र पृ0–43।

(51) द्र0 वही, पृ0 58–59।

(52) द्र0 वही, पृ0 – 195।

(53) "फिरकावन्दी जातिवाद का झाड़ेगे यह भूत।"

"गूँजते रहे बड़ी देर तक" कविता।

द्र0 वही, पृ0 – 196।

(54) दृ० वही, पृ० – 162।

(55) दृ० वही, पृ० – 201–202।

(56) दृ० वही, पृ० – 237।

(57) "हरे हरे नए–नए पात/पकड़ी ने ढ़क लिए अपने सब गात।"

दृ० वही, पृ० – 238।

(58) "लाल गुलाबी पत्ते कैसे।

लहलहा रहे हैं / कैसी सुन्दर रात, चॉदनी की

किरणों में नहा रहे हैं ....।"

दृ० वही,पृ० – 19 ।

(59) "पीपल के पत्तों पर फिसल रही चाँदनी

नालियों के भीगे पेट पर, पास ही

जम रही,, धुल रही,, पिघल रही चाँदनी

पिछवाड़े बोलत में टुकड़ों पर ....।"

दृ० वही, पृ० – 238।

(60) "छोटे हैं, बढ़ने का वर दो।

X X X X

राह रोककर खड़े न होना"

दृ० वही, पृ० – 19।

(61) दृ० वही, पृ० – 239।

(62) दृ० वही, पृ० – 21।

(63) दृ० वही, पृ० – 19।

(64) "उसके शीतल तुहिन कणों को/मानसरोवर के उन/स्वर्णिम कमलों पर

गिरते देखा है।"

दृ0 वही, पृ0 – 19।

(65) दृ0 वही, पृ0 – 253।

(66) दृ0 वही, पृ0 – 256।

(67) दृ0 वही, पृ0 – 188।

(68) "तुम खिलो रात की रानी !

X X X X

दिन हुआ कि बस हो गयी मौन तुम सजनी

आई निशा कि फिर खिली कौन तुम सजनी।"

दृ वही, पृ0 – 22।

(69) नीम की दो टहनिया/झाँकती है सीखचों के पार /

यह कपूरी धूप ....।"

सतरंगे पंखों वाली (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 35।

(70) "टिपिर, टिपिर/झर–झर झर .... रिमझिम–रिमझिम रिमझिम।

X X रोप रहे होंगे कोटि–कोटि जन मगन, मन धान।"

तुमने कहा था (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 90।

(71) "गुदगुदा उठते हैं मन–प्राण/बुरा नहीं लगता है

बादलों का घिराव।"

तुमने का था (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 92।

(72) दृ वही, पृ0 – 88।

(73) खिचड़ी विप्लव देखा हमने (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 75।

(74) सतरंगे पंखो वाली (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 25–26।

(75) प्यासी पथराई ऑखे (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 39–40।

(76) "घोर निर्जन मे परिस्थिति ने दिया है डाल।

याद आता है तुम्हारा सिंदूर तिलकित भाल।"

सतरंगे पंखो वाली (क0सं0) – नागार्जुन, पृ0 – 48।

(77) "नागार्जुन की काव्य–यात्रा" डॉ0 रतन कुमार पाण्डेय, पृ0 – 28 पर उद्धृत।

(78) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक – शोभाकान्त मिश्र, पृ0 – 81।

(79) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ – 2, सम्पादक–शोभाकान्त मिश्र, पृ0–303।

(80) "पहले का जो था, उसमें सब बुरा ही बुरा नहीं, आज जो

है उसमें सब अच्छा ही अच्छा नही।"

मेरे साक्षात्कार, नागार्जुन, पृ0 – 127।

(81) नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ–2, सम्पादक शोभाकान्त मिश्र, पृ0 – 93।

(82) दृ0 वही, पृ0 – 41।

(83) मेरे साक्षात्कार – नागार्जुन, पृ0 – 127।

केदारनाथ अग्रवाल

(1) आग का आईना (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० – 18–19।

(2) "शहर, यह तो मुझे रोटियाँ देता है और/केन का दमदार पानी देता है।"

आग का आईना (क०सं०) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० – 19।

(3) "चम्मचों से नहीं/आकन्ठ डूबकर पिया जाता है/दुःख को दुःख की नदी में/और तब जिया जाता है। आदमी की तरह आदमी के साथ/आदमी के लिए।"

आग का आईना (क०सं०) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ०–25।

(4) दृ० वही, पृ० – 39।

(5) कहें केदार खरी–खरी (क०सं०) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ०–133।

(6) "नौ सौ हैं घोड़े का दाम/तेरा (आदमी का) घेला नहीं छदाम।"

कहें केदार खरी–खरी (क०सं०) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० – 20।

(7) दृ० वही, पृ० – 62।

(8) दृ० वही, पृ० – 66।

(9) कहें केदार खरी–खरी (क०सं०) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० – 84।

(10) दृ० वही, पृ० – 94।

(11) दृ० वही, पृ० – 102।

(12) "हाथी सा बलवान/.................. सूरज सा इंसान .... सुन ले री सरकार, कयामत ढ़ाने वाला और हुआ/एक हथौड़ा वाला घर में और हुआ।"

कहें केदार खरी–खरी (क०सं०) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० – 113।

(13) दृ० वही0,पृ० – 101।

(14) आग का आईना (क०सं०) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० – 81।

(15) दृ0 वही, पृ0 – 87।

(16) बोले बोल अबोल (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल – पृ0 47।

(17) कहें केदार खरी–खरी (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–81।

(18) दृ0 वही, पृ0 – 144।

(19) "अश्रु विगलित है जनतन्त्र की जनता।"

अपूर्वा (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 66।

(20) दृ0 वही, पृ0–6 ।

(21) दृ0 वही, पृ0–78।

(22) "चाँदी सोने के जूतों में/पका रहे हैं खीर।"

कहें केदार खरी–खरी (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–125।

(23) दृ0 वही, पृ0 – 50।

(24) "डालर को पीस दिया/जाहिल आबादी ने/डालर का खून किया।"

दृ0 वही, पृ0 – 153।

(25) कहें केदार खरी–खरी (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 120।

(26) "बँधी मुट्ठियाँ/उठे हजार हाथ भीड़ के/जन का ज्वार सड़क पर उमड़ा/नगर/सिंह का गरजा तड़पा।"

"हे मेरी तुम" (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 46।

(27) गुलमेंहदी (क0सं0) केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–55।

(28) दृ0 वही, पृ0–55।

(29) दृ0 वही, पृ0–67–68।

(30) 'प्रगतिशील काव्य धारा और केदारनाथ अग्रवाल" – डॉ0 राम विलास शर्मा पृ0–174।

(31) द्र0 वही, पृ0–180।

(32) द्र0 वही, पृ0 – 199।

(33) "सिपाही का डंडा/तोड़ता है अंडा/शान्ति का दिया हुआ/

अंडे से निकल आया/असंतोष/भभक उठा रोष/लहर उठा झंडा/

क्रांति का।"

द्र0 वही, पृ0 – 125।

(34) प्रगतिशील काव्य धारा और केदारनाथ अग्रवाल – डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0 – 126।

(35) प्रगतिशील काव्य धारा और केदारनाथ अग्रवाल – डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0–118।

(36) द्र0 वही, पृ0 – 119–120।

(37) द्र0 वही, पृ0 – 120।

(38) द्र0 वही, पृ0 – 213।

(39) कहें केदार खरी–खरी (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, कैफियल, पृ0–12।

(40) "केदारनाथ अग्रवाल" – सम्पादक– अजय तिवारी, पृ0–155।

(41) फूल नहीं रंग बोलते हैं (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 72।

(42) "पेट के पालने का/हो रहा आतुर उपचार/सुनती हुई/भूखोद्वार का मन्त्रोच्चार।"

बोले बोल अबोल (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 24।

(43) द्र0 वही, पृ0–112।

(44) "नहीं सहारा रहा धरम का और करम का।"

बोले बोल अबोल (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–94।

(45) "धर्म निरपेक्ष देश की जनता/देखती रहती है बधोत्सव/और गद्–गद् होती है भीड़/ समाप्त हो गया एक वार्षिक सांस्कृतिक तमाशा।"

कहे केदार खरी खरी (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 19।

(46) आग का आईना (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 81।

(47) दृ0 वही, पृ0 – 27।

(48) अपूर्वा (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 68।

(49) आग का आईना (क0सं0) केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–72।

(50) दृ0 वही, पृ0–72।

(51) कहें केदार खरी–खरी (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–35।

(52) दृ0 वही, पृ0–93।

(53) दृ0 वही, पृ0–92।

(54) अपूर्वा (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0– 81।

(55) "पेड़ नहीं/पृथ्वी के वंशज हैं/फूल के लिए/मानव के अग्रज हैं।

फूल नहीं रंग बोलते हैं (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 35।

(56) दृ0 वही, पृ0 – 48।

(57) दृ0 वही, पृ0 – 47।

(58) "एक बीते के बराबर/यह हरा ठिगना चना/बाँधे मुरैठा शीश पर/

छोटे गुलाबी फूल का/सजकर खड़ा है।"

फूल नहीं रंग बोलते हैं (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 2।

(59) गुलमेंहदी (क0सं0)–केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 21।

(60) फूल नहीं रंग बोलते हैं (क0सं0)–केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 – 103।

(61) दृ0 वही पृ0 – 19।

(62) "जमुन जल तुम" – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–9 (कैफियत के बाद)।

(63) दृ0 वही, पृ0 – 121।

(64) दृ0 वही, पृ0 – 101।

(65) अपूर्वा (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–29।

(66) फूल नहीं रंग बोलते हैं (क0सं0) केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–162।

(67) आत्मगंध (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–4 (भूमिका)।

(68) आत्मगंध (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–119।

(69) दृ0 वही, पृ0 – 151।

(70) दृ0 वही,पृ0 – 87।

(71) फूल नहीं रंग बोलते हैं (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0–78।

(72) दृ0 वही, पृ0–103।

त्रिलोचन

(1) "त्रिलोचन के बारे में – सम्पादक – गोविन्द प्रसाद, पृ0 – 222।

(2) "शब्द जहाँ सक्रिय है" – नन्द किशोर नवल (शिला संधि का दूर्वाङ्कुर), पृ0 – 50।

(3) "वे आँसू जो औरों के तप–ताप पर झरे

जीवन के पौधे इस कारण हरे–भरे।"

अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0–52।

(4) "खेतों और कारखानों में जीवन–धारा / लहराती है, सत्य उजागर है अब सारा।"

दृ0 वही, पृ0–103।

(5) "है धूप कठिन सिर ऊपर/थम गयी हवा है जैसे/दोनों दूब के ऊपर।

रख पैर सींचते पानी/उस मलिन हरी धरती पर/मिलकर वे दोनो प्राणी /

दे रहे खेत मे पानी।"

धरती (क0सं0) – त्रिलोयन, पृ0 – 20।

(6) "भाव उन्ही का सबका है जो थे अभावमय/पर अभाव से दबे नहीं जागे स्वभावमय।"

दृ0 वही, पृ0 – 149।

(7) ताप के तापे हुए दिन–त्रिलोचन, "आरर डाल" शीर्षक कविता, पृ0–54।

(8) "दुःख से दबे हुए मानव आ मैं ले लूँ/ तेरा सब दुःख तू हल्का होकर सिर ताने/

आसमान में, इस दुनिया को अपनी माने।"

"शब्द जहाँ सक्रिय है" – नन्द किशोर नवल, पृ0– 52 पर उद्धृत।

(9) ताप के तापे हुए दिन (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0–54।

(10) फूल का नाम है एक (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 41।

(11) बुढ़िया से मैंने कहा – अम्मा, सारी चीजें इकट्ठे बाँधकर मुझको दे दीजिए।

बुढ़िया असीसती हुई चली गयी। "

त्रिलोचन के बारे में – सम्पादक गोविन्द प्रसाद, पृ0 – 117।

(12) दृ0 वही, पृ0 186।

(13) दृ0 वही, पृ0 187।

(14) दृ0 वही, पृ0 – 187।

(15) दृ0 वही, पृ0 187–188।

(16) शब्द जहाँ शक्रिय है" – नन्द किशोर नवल, पृ0–54 पर उद्धृत।

(17) "और पूँजी खींच–खींच कर सब दुनिया की । मुट्ठी भर पूँजीपति पहले से अधिक मोटे होते चले जा रहे हैं।"

धरती (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 97।

(18) "तब जनता उनसे उस धन का उद्धार करके/जीवन के नये भवन/निर्माण करेगी।"

धरती (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 97।

(19) "अगर न पीड़ा होती तो भी क्या मैं गाता।
यदि गाता तो क्या उसमें ऐसा स्वर आता।"
अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0–92।

(20) दृ0 वही, पृ0 – 20।

(21) सबका अपना आकाश (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 42।

(22) दृ0 वही, पृ0 – 43।

(23) दृ0 वही, पृ0 – 17।

(24) अनकहनी भी कुछ कहनी है। (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 29 ।

(25) दृ0 वही, पृ0– 28।

(26) साक्षात्कार (पत्रिका) 1990 जून, पृ0—89 पर उद्धृत।

(27) "एक दूसरे के दुःख को अपना ही जाने, अपना माने

और दुःख कम करने के लिए समाज समान बनायें।"

धरती (क0सं0) — त्रिलोचन, पृ0—75।

(28) दृ0 वही, पृ0 — 89।

(29) दृ0 वही, पृ0 — 96।

(30) ताप के तापे हुए दिन (क0सं0) — त्रिलोचन, पृ0 — 65।

(31) अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) — त्रिलोचन, पृ0— 14।

(32) दृ0 वही, पृ0 — 77।

(33) "मैं अपने युग का समाज का जन जीवन का

अभिव्यक्तिमय एक व्यक्ति हूँ जाग्रत मन का

दृ0 वही, पृ0 — 76।

(34) दृ0 वही, पृ0 — 71।

(35) दृ0 वही, पृ0 — 25।

(36) धरती (क0सं0) — त्रिलोचन, पृ0 — 121।

(37) "शब्द जहाँ सक्रिय है" — नन्द किशोर नवल (शिलासंधि का दूर्वाङ्कुर पृ0 — 55 पर उद्धृत)

(38) दृ0 वही, पृ0 56—57 पर उद्धृत।

(39) धरती (क0सं0) — त्रिलोचन, पृ0 — 32।

(40) दृ0 वही, पृ0 — 74।

(41) दृ0 वही, पृ0 — 57।

(42) दृ0 वही, पृ0 – 129।

(43) फूल नाम है एक (क0सं0) त्रिलोचन, पृ0 – 21।

(44) अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 48।

(45) दृ0 वही, पृ0 – 28।

(46) दृ वही, पृ0 – 77।

(47) दृ0 वही, पृ0 – 86।

(48) दृ0 वही, पृ0 – 86।

(49) दृ0 वही, पृ0 – 42।

(50) फूल नाम है एक (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 6।

(51) "त्रिलोचन के बारे में" – सम्पादक गोबिन्द प्रसाद, पृ0 – 100।

(52) अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 100।

(53) दिगन्त (क0सं0) – त्रिलोचन पृ0 – 56।

(54) सबका अपना आकाश (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 37।

(55) अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 97।

(56) दृ वही, पृ0 – 97।

(57) धरती (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 25।

(58) दृ0 वही, पृ0 – 27।

(59) दृ0 वही, पृ0 – 34।

(60) अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 19।

(61) सबका अपना आकाश (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 33।

(62) "शब्द जहाँ सक्रिय है" (क0सं0) – नन्द किशोर नवल, पृ0 – 53 पर उद्धृत।

(63) दृ0 वही, पृ0 – 54 पर उद्धृत।

(64) दृ0 वही, पृ0 – 53।

(65) त्रिलोचन के बारे में – सम्पादक गोविन्द प्रसाद, पृ0 – 186।

(66) शब्द जहाँ सक्रिय हैं – नन्द किशोर नवल पृ0 – 62 पर उद्धृत।

(67) अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 90।

(68) दृ0 वही, पृ0 – 64।

(69) अनकहनी भी कुछ कहनी है (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 8।

(70) धरती (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 – 82।

(71) दृ0 वही0, पृ0 – 27।

(72) वर्तमान साहित्य (पत्रिका), अगस्त 1992, पृ0 – 28।

(73) दृ0 वही, पृ0 – 28।

(74) "त्रिलोचन के बारे में" – सम्पादक गोविन्द प्रसाद, पृ0 – 28।

धूमिल

(1) "बीस साल बाद और इस शरीर में/सुनसान गलियों से चोरों की तरह गुजरते हुए/अपने आपसे सवाल करता हूँ –
क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है।"
संसद से सड़क तक (क0सं0) धूमिल, पृ0 – 10।

(2) दृ0 वही, पृ0 – 16।

(3) दृ0 वही, पृ0 – 44।

(4) दृ0 वही, पृ0 – 114।

(5) "बच्चे भूखे हैं/माँ के चेहरे पत्थर/पिता जैसे काठ, अपनी ही आग में /
जले हैं ज्यों सारा घर।"
कल सुनना मुझे (क0सं0) – धूमिल, पृ0 – 98।

(6) दृ0 वही, पृ0 – 66।

(7) संसद से सड़क तक (क0सं0) – धूमिल, पृ0 – 91।

(8) "मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद/मालगोदाम में लटकी हुई/उन बाल्टियों की तरह है / जिस पर आग लिखा है और उसमें बालू और पानी भरा है।"
संसद से सड़क तक (क0सं0) – धूमिल, पृ0 – 139।

(9) "मैं रोज देखता हूँ कि व्यवस्था की मशीन का/एक पुर्जा गरम होकर/अलग छिटक गया है और/ठण्डा होते ही/फिर कुर्सी से चिपक गया है। उसमें न हया है/न दया है।

X X X X

कानून की भाषा बोलता हुआ/अपराधियों का एक संयुक्त परिवार है।"
संसद से सड़क तक (क0सं0) – धूमिल, पृ0 – 125–126।

(10) "इसीलिए मैं फिर कहता हूँ कि हर हाथ में/गीली मिट्‌टी की तरह–हाँ–हाँ मत करो/तनो/अकड़ों/अमरबेलि की तरह मत जियो। जड़ पकड़ो/बदलो – अपने आपको बदलो/यह दुनिया बदल रही है।"

संसद से सड़क तक (क0सं0) – धूमिल, पृ0 – 48।

(11) " न कोई छोटा है/न कोई बड़ा है/मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है/जो मेरे सामने/मरम्मत के लिए खड़ा है।"

दृ0 वही, पृ0 – 37।

(12) दृ0 वही, पृ0 – 38।

(13) "चोट जब पेशे पर पड़ती है/तो कहीं न कहीं एक चोर कील।

दबी रह जाती है/जो मौका पाकर उभरती है/और उँगली में गड़ती है।"

दृ0 वही, पृ0 – 39–40 ।

(14) "और भाषा पर/आदमी का नहीं, किसी जाति का अधिकार है।"

दृ0 वही, पृ0 – 41।

(15) "कटघरे का कवि धूमिल" – डॉ0 ग0तु0 अष्टेकर, पृ0 – 157।

(16) "कटघरे का कवि धूमिल" – डा0 ग0तु0 अष्टेकर, पृ0 26 पर उद्‌धृत।

(17) " संसद से सड़क तक (क0सं0) – धूमिल, पृ0 – 7 व 12।

(18) कल सुनना मुझे (क0सं0) – धूमिल, पृ0 –51।

(19) संसद से सड़क तक (क0सं0) – धूमिल, पृ0 – 63।

(20) दृ0 वही, पृ0–66।

(21) "जिस उम्र में/मेरी माँ का चेहरा/झुर्रियों की झोली बन गया है।
उसी उम्र की मेरे पड़ोस की महिला/के चेहरे पर/मेरी प्रेमिका के चेहरे सा/लोच है।"

दृ0 वही0, पृ0 17–18।

(22) आजकल (पत्रिका) मार्च 1980, पृ0 – 8।

(23) संसद से सड़क तक (क0सं0) – धूमिल पृ0 – 13।

(24) "कटघरे का कवि धूमिल" – डॉ0 ग0तु0 अष्टेकर, पृ0–19 पर उद्धृत।

(25) "धूमिल और उसका काव्य संघर्ष" – ब्रह्मदेव मिश्र, पृ0 – 45।

(26) "अनाज में छिपे उस आदमी की नीयत/नहीं समझते
जो पूरे समुदाय से/अपनी गिजा वसूल करता है।"

संसद से सड़क तक (क0सं0) धूमिल, पृ0 – 17।

(27) "यह रात है सिर्फ रात/इसका स्वागत करो/यह तुम्हें/शब्दों के नये परिचय की ओर लेकर/चल रही है।"

दृ0 वही, पृ0 – 48।

(28) दृ0 वही, पृ0 – 16।

(29) "मूत और गोबर की सारी गंध उठाये/हवा बैल के सूजे कंधे से टकराये /
X X X X / लगता है यह गाँव नरक का/भोजपुरी अनुवाद है।"

"गाँव" शीर्षक कविता – धूमिल, "वाग्देवी" (प्रतिनिधि काव्य संकलन) – सम्पादक नरेश मेहता, से उद्धृत, पृ0 535।

(30) कल सुनना मुझे (क0सं0) – धूमिल, पृ0 99।

मुक्तिबोध

(1) चाँद का मुँह टेढ़ा है (कविता संग्रह) मुक्तिबोध, शीर्षक – 'पता नहीं', पृ0 – 34।

(2) दृ0 वही, शीर्षक – 'अंतकरण का आयतन', पृ0 – 208।

(3) दृ0 वही, शीर्षक – 'इस चौड़े ऊँचे टीले पर' पृ0 – 230।

(4) "नुकीला एक कीला तेज/ गहरा पड़ गया औ धँस गया इतना/

कि ऊपर प्राण–भीतर तक घुस आया/लगी है झनझनाती आग/

लाखों बर्र –काँटों ने अचानक काट खाया है/

ब्रणाहत पैर को लेकर/भयानक नाचता हूँ, शून्य/मन के टीन–छत पर गर्म।

दृ0 वही, शीर्षक – चकमक की चिंगारियाँ, पृ0 – 157।

(5) भूरी–भूरी खाक धूल (कविता संग्रह) मुक्तिबोध, 'सूरज के वंशधर' शीर्षक, पृ0–172।

(6) "उद्विग्न रात/के हाथों से/अँधियारे नभ की राहों पर/

है गिरी छूटकर/गर्भपात की तेज दवा/

X X X X X

गहरे कराहते गर्मों से/मृत बालक ये कितने जनमे, बीमार समाजों के घर में।"

चाँद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) मुक्तिबोध, 'डूबता चाँद कब डूबेगा'- शीर्षक, पृ0 69–70।

(7) "चिथड़ा में सद्योजात एक बालक सुन्दर/आत्मारूपी माता ने जाने कब त्यागा/

.... देखा–बालक ! अनुभव – बालक !! /

चट उठा लिया अपनी गोदी में/वापस खुश–खुश घर आया।"

दृ0 वही, पृ0–72।

(8) "सिकुड़ते हुऐ घेरे में वे तन–मन/दबते–पिघलते हुए एक भाप बन गये/ एक कुहरे के मेह।"

दृ0 वही, शीर्षक–'एक भूतपूर्व विद्रोही का आत्मकथन', पृ0 – 82।

(9) "सामन्ती घराने की जागीरदार/बूढ़ी सी सास ज्यों/स्वयं पिशाचिनी का प्रचण्ड रूप ले/ विद्रोहिणी विधवा निज बहू की पीटी गयी/ पीठ पर बैठकर/ जबर्दस्त हाथ में/गरम–गरम लोहे की श्लाका से पीठ दागती है, त्यों .... रामू के जन–जन का हिय भी/ पल–पल में दागा है।"

भूरी–भूरी खाक धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध, "जिन्दगी का रास्ता",–शीर्षक, पृ0–184।

(10) "चाहे जलधि, पर्वत, हजारों मील की दूरी/हमारे बीच में आ जाय/ फिर भी मानसिक अदृश्य सूत्रों से/ हमारी आत्माएँ परस्पर बात करती हैं ....

गहन मस्तिष्क–कोषों में/हृदय के रूधिर कोषों में।"

भूरी–भूरी खाक धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध 'गुँथे तुमसे, विंधे तुमसे',–शीर्षक, पृ0 – 34।

(11) "हरिजन–गलियों में/लटकी है पेड़ पर/कुहासे के भूतों की आँवली चूनरी/चुनरी में अँटकी है कंजी आँख गंजे सिर टेढ़े मुँह चाँद की।" चाँद का मुँह टेढ़ा (क0सं0) – मुक्तिबोध, पृ0 – 53।

(12) "वेदना में हम विचारों की/गुँथे तुमसे/विंधे तुमसे/व आवेष्टित परस्पर हो गये/ कर्मण्य–क्षिप्रा–तीरपर। कोई नहीं थे हम तुम्हारे किन्तु/सहचर हो गये।"

भूरी–भूरी खाक धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध, 'गुँथे तुमसे, विंधे तुमसे' शीर्षक, पृ0–34।

(13) "नैतान विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकोः।

"श्रमद् भागवत पुराण" 7/9/44।

(14) चाँद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) – मुक्तिबोध, 'चम्बल की घाटी में', शीर्षक, पृ0–253।

(15) "झुके हम और अज्जलि भर/ लगे पीने/ तुम्हारे साथ/ उस झरते हुए जल--रूप/द्युति निष्कर्ष को।
भूरी--भूरी खाक धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध, 'गुँथे तुमसे विंधे तुमसे' शीर्षक, पृ0 – 35।

(16) "इसी बैलगाड़ी को/बहुत दूर तुम/खींच रहे हो शहरी अँधेरे में।................
अपन दोनों भाई हैं। और दोनों दुःखी हैं।" द्र0 वही, पृ0 23, 26।

(17) "श्री--हीन दीन। सच तुम्हारे बिना बंजर होगा आसमान। ऊजड़ होगी सारी जमीन।"
दृ वही, पृ0 – 73 ।

(18) "वह तुम्हें कभी नहीं / अपने ठण्डे प्याऊ पर/ स्नेह से पिलाती जल हृदय का/प्राण का !! ।" दृ0 वही, पृ0 – 20।

(19) "जो मारे–मारे से हमारे–से/ ईट के सिरहाने अकेले लेटते हैं/ धूल के बवण्डर सा वक्त समेटते हैं.....उन्हीं के साथ मेरी पटरी बैठती है। उनके साथ। हाँ, उन्हीं के साथ/ यह बिजली भरी ठठरी लेटती है।" पृ0 – 91। द्र० वही ।

(20) "गरीबिन माँ ने ही बेचे हुए/खाते हुए मार और करते हुए काम नित/
उदास पाँच बरस के बालक के / दर्द भरे फटेहाल जीवन सा जिसमें/
पुचकार का रस/मिला नहीं, फिर भी/पढ़ने के शौक और जानने की चाह ने/
मुसीबतें बढ़ा दी।" दृ0 वही, पृ0 – 178 ।

(21) दृ0 वही, 'जिन्दगी का रास्ता'- शीर्षक, पृ0 – 178, 179, 181।

(22) "कदाचित मेरी भी अस्थि कभी किसी काम आ जाये
जनों के हाथों में खिलाफ जानवरों के।" दृ. वही, पृ0 – 197।

(23) चाँद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) – मुक्तिबोध पृ0 – 109।

(26) दृ0 वही, पृ0 – 58।

(27) "सटर–पटर सामान को धरे हुए शीर्ष पर/पुरूष उबारता–धरे हुए टोकरियों में बिलखते बच्चों को।"

भूरी–भूरी खाक धूल (क0सं0) मुक्तिबोध,'सूरज के वंशधर'-शीर्षक पृ0 – 172 ।

(28) "खण्डहरनुमा जिन्दगी के ऑगन में एक ओर/शक्तिशाली विचारों की / लहलहाती तुलसी खड़ी है आज ।।" दृ वही – पृ0 – 173।

(29) "पूँजीवादी शक्तियाँ/.......... शासन के चाकू से/विद्रोहिणी बुद्धि की त्रिकालदर्शी आँखें काटकर/निकाल देना चाहती है .... अवरूद्ध जीवन को अकस्मात् किसी ने / सत्य की शक्ति दी / 'औ' हिम्मत की राह दी"

दृ0 वही, 'जिन्दगी का रास्ता'-शीर्षक, पृ0 184–185।

(30) चाँद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) – मुक्तिबोध, पृ0 – 68।

(31) "कण्डे की लाल आग/टिक्कड़ लगी सेंकने .... आत्मा में फैलती है/ ईमान की भाप बन।।" भूरी–भूरी खाक धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध, 'इसी बैलगाड़ी को'-शीर्षक, पृ0 – 25।

(32) दृ0 वही, पृ0 – 24।

(33) "मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना" – नंद किशोर नवल, पृ0 137 पर उद्धृत।

(34) "सूखे कठोर नंगे पहाड़ .... ले उठा सबल निज कंधो पर/

सॉवले अनुर्वर खल्वाटों को बुद्धि–हीन,

जोर से भूमि से दे उखाड़।"

भूरी–भरी खाक धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध 'सूखे कठोर नंगे पहाड़', शीर्षक, पृ0–217।

(35) "नष्ट कर लोक–शशि–ग्रास–मग्न
सौ राहु–केतु।"

दृ0 वही, पृ0 – 228।

(36) "गलियों के अंधेरे में एक ओर/मैं थक कर बैठ गया/
अँधेरे में डुबे मकानों के छप्परों पार से/
रोने की पतली सी आवाज/सूने में काँप रही दूर तक/
कराहों की लहरों में पाशव प्राकृत।
वेदना भयानक थरथरा रही है।" – चाँद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) मुक्तिबोध पृ0 – 278–279।

(37) "साँझ उतरी रंग लेकर उदासी का/पर्वतों के पास।"
भूरी–भूरी खाक धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध, पृ0 – 106।

(38) "इस तुलसी बन में आग–लगी।
क्यों मारी–मारी फिरती।" चाँद का मुँह टेढ़ा है। (क0सं0) मुक्तिबोध, पृ0–117।

(39) भूरी–भूरी खाक धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध, 108, 109, 111।

(40) दृ0 वही, पृ0 174–175।

(41) "कर्म के फल पर नहीं – कर्म पर ही अधिकार
सिखाने वाले का वचन का आडम्बर/पावडर में सफेद अथवा गुलाबी।
छिपे बड़े–बड़े चेचक के दाग मुझे दीखते हैं।
सभ्यता के चेहरे पर।" चाँद का मुँह टेढ़ा है। (क0सं0) मुक्तिबोध, शीर्षक–मुझे याद आते हैं।' पृ0 – 96।

(42) "संस्कृति के सुवासित आधुनिकतम वस्त्रों के/अन्दर का बासी वह/ नग्न अति बर्बर देह/ सूखा हुआ रोगीला पंजर मुझे दीखता है/ .... गर्भवती नारी का। जो पानी भरती है वजनदार घडों से/....... मजदूरी करती है .... पुत्रों के भविष्य के लिए।" दृ0 वही, पृ0 96–97।

(43) भूरी–भूरी खाक–धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध, पृ0 – 175 ।

(44) "इस नगरी के किले–कँगूरे–बुद्धि खत्म कर, शीश कटाकर/मात्र उदर ले सिर्फ पेट ले........ अपने मालिक के ये चाकर/घर बैठे आदर्श घोखते... ।" भूरी–भूरी खाक–धूल (क0सं0) – मुक्तिबोध पृ0 – 146–147।

(45) दृ0 वही, पृ0 162–163।

(46) चाँद का मुँह टेढ़ा है। (क0सं0) – मुक्तिबोध पृ0 – 137, 138, 139।

(47) "प्रतापी सूर्य हैं वे सब प्रखर जाज्जवल्य/पर, यह क्या अँधेरे स्याह धब्बे सूर्य के भीतर।" दृ0 वही, पृ0 – 202।

(48) भूरी–भूरी खाक–धूल, (क0सं0) – मुक्तिबोध, पृ0 16–17।

(49) चाँद का मुह टेढ़ा है (क0सं0), – [मुक्तिबोध, पृ0] 149।

(50) दृ वही, पृ0 – 137।

(51) दृ0 वही, 'मुझे याद आते है'-शीर्षक, पृ0 – 99।

(52) "मजूर लोहार के अथाह–बल/प्रकाण्ड हथौड़े की दीख पड़ती है चोट/..................... एक अति भव्य देह/प्रचण्ड रूप श्याम .... काल मूर्ति/क्रान्तिशक्ति, जनयुग!!" दृ0 वही, 'मुझे याद आते हैं' शीर्षक, पृ0 – 100।

(53) मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना – नंद किशोर नवल, पृ0 32–33।

(54) ''घर आ जाता है कि द्वार खटखटाता/अन्तर से 'आयी' की ध्वनि सुन पड़ती है/
अपना उर–द्वार खटखटाता हुआ/निश्चय–सा संकल्प सा करता हूँ।''
चाँद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) – मुक्तिबोध, 'मुझे याद आते हैं'-
शीर्षक, पृ0 – 100।

रघुवीर सहाय

(1) "यथार्थ यथास्थिति नहीं" – रघुवीर सहाय, सम्पा० सुरेश शर्मा, पृ0–11।

(2) "कुछ समय लगेगा सुख के दिन आते–आते/आओ हम मेहनत से निपटा लें गाते–गाते।"

"रघुवीर सहाय का कविकर्म" – सुरेश शर्मा, पृ0–3 से उद्धृत।

(3) आत्महत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0–78।

(4) दृ0 वही, पृ0 – 77, 78।

(5) दृ0 वही, पृ0 – 89।

(6) "एक फटा कोट एक हिलती चौकी एक लालटेन/दोनों, बाप मिस्तरी, और बीस बरस का नरेन/दोनों पहले से जानते हैं पेंच की मरी हुई चूड़ियाँ/नेहरू–युग के औजारों को मुसद्दीलाल की सबसे बड़ी देन।"

दृ0 वही, पृ0–86।

(7) दृ0 वही, पृ0 – 86।

(8) दृ0 वही, पृ0 – 86।

(9) दृ0 वही, पृ0 – 13।

(10) दृ0 वही, पृ0 – 62।

(11) लोग भूल गये हैं (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 84–85।

(12) दृ0 वही, पृ0 – 102।

(13) कुछ पते, कुछ चिठ्ठियाँ (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 56।

(14) आत्महत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 68।

(15) लोग भूल गये हैं (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 62।

(16) दृ0 वही, पृ0 – 66।

(17) दृ0 वही, पृ0 – 38।

(18) दृ0 वही, पृ0 – 79।

(19) आत्मत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0–22।

(20) "मैले नाखून वाले चीकट लडके ने/नहीं सुना जो मैंने पूछा था/पहले वह चाहता था कि मैं समझ लूँ/कि वह मेरा कौन है।"

दृ0 वही, पृ0 – 82।

(21) "फूटकर चलते फिरते छेद/भूमि की पर्त गयी है सूख/मौरते बाँधे हुए उरोज/पोटली के अन्दर है भूख।"

दृ0 वही, पृ0 – 62।

(22) "आसमानी चट्टानी बोझ/ढो रही है पत्थर की पीठ।"

दृ0 वही, पृ0 – 62।

(23) "खड़ा है बूढ़ा राम गुलाम .... प्रतिष्ठित राजाराम/मारते वही जिलाते वही/वही दुर्भिक्ष वही अनुदान/विधायक वही, वही जनसभा/सचिव वह, वही पुलिस कप्तान।"

दृ0 वही, पृ0 – 63।

(24) "वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे" – रघुवीर सहाय, पृ0 – 87।

(25) "अर्थात्" – रघुवीर सहाय, सम्पादक हेमन्त जोशी, पृ0–63।

(26) "देखो खेत की मेड़ पर खड़े होकर दूर–दूर तक फैली रेत।"

आत्म हत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 83।

(27) दृ0 वही, पृ0 – 83।

(28) "वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे" – रघुवीर सहाय, पृ0 104–105।

(29) अर्थात् – रघुवीर सहाय, पृ0 43–44।

(30) कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0–22।

(31) दृ0 वही, पृ0–48।

(32) दृ0 वही, पृ0 – 32।

(33) "नयी कविताएँ : एक साक्ष्य " – रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0 – 38।

(34) यर्थाथ यथास्थिति नहीं – रघुवीर सहाय, सम्पादक सुरेश शर्मा, पृ0 – 72।

(35) दृ0 वही, पृ0 – 72।

(36) रघुवीर सहाय का कविकर्म – सुरेश शर्मा, पृ॰ 14 (परिशिष्ट)।

(37) आत्महत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 26।

(38) दृ0 वही, पृ0 – 32।

(39) दृ0 वही, पृ0 – 32।

(40) कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0–26।

(41) यथार्थ यथास्थिति नहीं – रघुवीर सहाय, सम्पा0 सुरेश शर्मा, पृ0 – 70।

(42) लोग भूल गये हैं (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 47।

(43) कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 2।

(44) आत्महत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 69।

(45) "वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे" – रघुवीर सहाय, पृ0 – 84।

(46) आत्म हत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0– 16।

(47) लोग भूल गये हैं (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0–25।

(48) दृ0 वही, पृ0 – 95।

(49) दृ0 वही, पृ0 – 98।

(50) अर्थात् – रघुवीर सहाय, पृ0 – 93।

(51) दृ0 वही, पृ0 – 75, 76।

(52) "अन्नैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते।"

"श्रीमद् भागवत पुराण", 3/30/29।

(53) "वे और नहीं होंगे जो मारे जायेंगे" – रघुवीर सहाय, पृ0 – 144।

(54) दृ0 वही, पृ0 – 142।

(55) दृ0 वही, पृ0 – 116।

(56) कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 – 55।

(57) दृ0 वही, पृ0 – 47।

(58) अर्थात् – रघुवीर सहाय, पृ0–67।

(59) अर्थात् – रघुवीर सहाय, पृ0–68।

(60) दृ0 वही, पृ0– 8, 9।

(61) दृ0 वही, पृ0–153।

(62) आत्महत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0 15–16।

(63) लोग भूल गये हैं (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0–74।

(64) दृ0 वही, पृ0–75।

(65) "गाँधी के शिष्यों ने फिर–फिर कर प्रहार/हिंसा का निश्चित किया देश–भर में प्रचार।"

लोग भूल गये हैं (क0सं0) – रघुवीर सहाय, पृ0–32।

(66) "हत्या कमजोर की/सीधे–सीधे हत्या............. हाँ मारी नहीं गयी/तो विधवा रोती है।"

दृ0 वही, पृ0 – 100।

(67) "पाँच बरस बहुत बरस/होते हैं एक गुलाम/औ गरीब देश में/इतने में गया हुआ/वक्त लौट आता है/एक नये वेश में।"

दृ0 वही, पृ0 – 99।

(68) "लूट ने जमीन के अन्दर तक मिट्टी को तोड़ दिया है।"

दृ0 वही, पृ0 – 103।

(69) दृ0 वही पृ0 – 103।

(70) "यह देश क्यों/कोई भी देश/अपने मनुष्यों को/आदमी बना लेगा।"

दृ0 वही0, पृ0–96।

(71) अर्थात् – रघुवीर सहाय, पृ0–56।

गिरिजा कुमार माथुर

(1) मैं वक्त के हूँ सामने (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 2–3।

(2) "मुझे और अभी कहना है" – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–7।

(3) दृ0 वही, पृ0 – 26।

(4) "अचानक वे किसान/देखने लगे आसमान/................ अब की जेठ/इसी सरसों से बिटिया के हाथ पीले कराना है।"

"मैं वक्त के हूँ सामने" (क0सं0) गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–100।

(5) "दूब घास/बेचेगी चारे को/शाम, तभी उनके लिए आग लाएगी/यही घास रोटी के लिए आटा बन जायेगी।"

दृ0 वही, पृ0–103।

(6) दृ0 वही, पृ0–104–105।

(7) दृ0 वही, पृ0–120–121।

(8) दृ0 वही, पृ0–13।

(9) "मुझे और अभी कहना है" – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 339।

(10) दृ0 वही, पृ0–49–50।

(11) मैं वक्त के हूँ सामने – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 1।

(12) तारसप्तक – सम्पादक अज्ञेय, पृ0–180।

(13) दृ0 वही, पृ0–182–183।

(14) "मुझे और अभी कहना है" – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–180 ।

(15) दृ0 वही, पृ0–182।

(16) "सभी कुछ गड्ड्मड्ड / दिन–रात / हत्या–क्रान्ति / गोश्त–शान्ति / पब्लिक–प्राइवेट / जनता–नेता / चोरी–सीना–जोरी / बेईमान–दिलासे / ऐलान–उधार / वोट–विदेश / गेहूँ–भुखमरी / कागज–हरी क्रान्ति / काला धन–इन्क्वायरी / .... शरारती–आत्म निर्णय / घेराव / और दुश्मन की दलाली।"

दृ0 वही, पृ0 210, 212, 213।

(17) दृ0 वही, पृ0 220।

(18) दृ0 वही, पृ0 238।

(19) दृ0 वही, पृ0 162।

(20) मै वक्त के सामने (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 16–17–18।

(21) "उन शब्दों को खामोश होने दो / सार्वजनिक दर्द को / नयी आँच पहिन लेने दो।"

दृ0 वही पृ0 19।

(22) "धूप हवा नदी आग, आदमी की आवाज / इतिहास के कोठार में कैसे बाँधी जायेगी।

दृ0 वही, पृ0 34 ।

(23) दृ0 वही, पृ0 96,97,98।

(24) दृ0 वही, पृ0 9,10।

(25) "हत्यारी दुनिया में / मैं पैदा हुआ। किसी एक शक्ल में / नस्ल में, रंग में, जाति में, धर्म में / मुझे मत तोड़ों मैं एक अजर गंध हूँ। हर बार मिटकर। फिर सुलगता हुआ रंग हूँ।"

दृ0 वही, पृ0 92।

(26) दृ0 वही, पृ0 21।

(27) दृ0 वही, पृ0 56।

(28) "कडकड़ाये रीढ़/बूढ़ी रूढ़ियों की/झुरियॉ कॉपें/घुनी अनुभूतियों की/उसी नयी आवाज़ की उठती गरज हूँ।"

तार सप्तक – सम्पादक अज्ञेय, पृ0 – 168।

(29) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 14 (भूमिका)।

(30) तार सप्तक – सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 – 181।

(31) "किन्तु तिमिर फिर उभरा/करने अन्तिम अस्त्र प्रहार/धर्म–जाति हिंसा की लेकर/ तक्षक सी तलवार।"

मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 97।

(32) साक्षात्कार (अगस्त 1995) सम्पा0 ध्रुव शुक्ल, पृ0 – 47।

(33) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 71।

(34) धूप के धान (क0सं0) – गिरिजाकुमार माथुर पृ0 – 11 (निवेदन से)।

(35) "मेरी कविता के दर्पण में/झाँक रहा असली संसार

मैं वक्त के हूँ सामने (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–37।

(36) द्र0 वही0, पृ0–93।

(37) द्र0 वही0, पृ0 105।

(38) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 67, 68।

(39) द्र0 वही, पृ0 59, 60।

(40) मैं वक्त के हूँ सामने (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 68।

(41) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 132।

(42) द्र0 वही,, पृ0 – 167।

(43) द्र0 वही, पृ0 – 84, 'शाम की धूप' शीर्षक।

(44) मैं वक्त के हूँ सामने (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 104।

(45) "तप भ्रष्ट मन्त्र सा विफल हुआ।"

शिलापंख चमकीले (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 44।

(46) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 346।

(47) "एकाक्षी,, ठण्डे, चमकीले यम से/मत सिद्धान्त शिकंजे/काठ मानकर जकड़े हैं इंसान को .... ठप्पेदार ज्ञान के फोके चूसे टुकडे फेंक सामने।"

मुझे और अभी कहना है (क0सं0) गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 337।

(48) दृ0 वही,, पृ0 – 338, 339।

(49) दृ0 वही,, पृ0 – 282।

(50) दृ0 वही,, पृ0–284।

(51) तार सप्तक – सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–167।

(52) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–23 (भूमिका)।

(53) दृ0 वही,, पृ0–81।

(54) दृ0 वही,, पृ0–137।

(55) "न्याय की तरह ही प्यार/न केवल दिया जाय/प्रदर्शित भी किया जाय।"

दृ0 वही,, पृ0 – 198।

(56) "आज न बच्चे घर में हैं कूड़ा करने को/..................../पहले इस कूड़े करकट से/मन में झुँझलाहट होती थी/आज वही बच्चों का कूड़ा याद आ रहा ।"

दृ0 वही, पृ0 81–82।

(57) "शक्ति दो मुझको सलोनी प्यार से/लड़ सकूँ मैं मौत की तलवार से।"

धूप के धान (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 93।

(58) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–22 (भूमिका)।

(59) "शुक्र है / तमाम दबावों के बावजूद / अपनी तरह देख सकता हूँ अपना आस–पास।
शुक्र है। मेरा शब्द अब भी है मेरे पास।" मैं वक्त के हूँ सामने (क०सं०)-गिरिजा कुमार माथुर, पृ० 119 ।

(60) "मुझे और भी कहना है" – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 275।

(61) द्र0 वही,, पृ0 – 124।

(62) "मृत्यु नहीं है नींद आखिरी / बूँद भर धड़कता आलोकित अन्तराल है /
जीवन का– / वह एक चुनौती है। इस सारे मोहक सपने के बीच / खुद को समझने की।"
दृ0 वही, पृ0 – 247।

(63) मैं वक्त के हूँ सामने (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर, (वक्तव्य, अन्तिम पृष्ठ)।

(64) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 287।

(65) दृ0 वही,, पृ0 – 289।

अज्ञेय

(1) 'कीर की पुकार', 'बन्दीगृह की खिड़की', 'अखण्ड ज्योति', 'गा दो', 'विश्वास' आदि शीर्षक कविताएँ।

उद्धृत – सदानीरा – 1, सम्पादक अज्ञेय (अज्ञेय की सम्पूर्ण कविताओं का संकलन)

(2) "हमलोगों का एक मात्र श्रम है,'सुरतिश्रम''

उस अंत्यज का एकमात्र सुख है, मैथुन सुख।"

सदानीरा 1, सम्पादक अज्ञेय, ('वर्ग–भावना सटीक' शीर्षक)

(3) ''तुम, सत्ताधारी मानवता के शव पर आसीन।

जीवन के चिर रिपु, विकास के प्रतिद्वन्दी प्राचीन।

तुम श्मशान के देव! सुनो यह रणभेरी की तान।

आज तुम्हें ललकार रहा हूँ, सुनो घृणा का गान।''

सदानीरा–1, सम्पादक अज्ञेय, ('घृणा का गान' शीर्षक)

(4) ''न हमें पशुओं–सा मरना मिला/न प्रभुओं सा जीना।

न मिला देवताओं–सा अमरता में/सोम–रस पीना।

हम तीनों को/जिलाते रहे, मिलाते रहे/वह बड़ा वृत्त बनाते रहे।

जिसकी धुरी से हम/लौट–लौट आते रहे।''

नदी की बाँक पर छाया। (क0सं0) – अज्ञेय, ('परती तोड़ने वालों का गीत' शीर्षक), पृ0–19।

(5) सदानीरा 1, सम्पा0 अज्ञेय, (''घृणा का गान' शीर्षक)

(6) सदानीरा 1, सम्पा0 अज्ञेय ।

(7) सदानीरा 1, सम्पादक अज्ञेय, पृ0–213, ('शरणार्थी–1, : मानव की आँख' शीर्षक)

(8) सदानीरा–1, सम्पादक अज्ञेय पृ0–214, ('शरणार्थी–2 : पक गयी खेती' शीर्षक)

(9) सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय ('शरणार्थी – 3 : ठाँव नहीं' शीर्षक)

(10) "गोद में बच्ची लिए/उस हाथ से देते सहारा किसी बूढ़े या कि रोगी को–/...............

/तुम भी जीव हो बेबस।"

सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–216, ('शरणार्थी–6 : समानान्तर सॉप' शीर्षक)

(11) "धिक ! पुनः धिक्कार !

और यह धिक्कार।

हिन्दू हो या मुसलमां नहीं, यह धिक्कार

आक्रोश है अपमानिता/मेरी मनुजता का।"

सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–221, ('शरणार्थी–7 : गाड़ी रूक गयी' शीर्षक)

(12) सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–216 (शरणार्थी – 6 : समानान्तर साँप, शीर्षक)।

(13) सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–243–244, ('जनवरी छब्बीस' शीर्षक)।

(14) "डरो मत, शोषक भैय्या ! पीलो/.............. मेरा रक्त मीठा तो है, पर पतला या हल्का भी हो/इसका जिम्मा मैं तो ले नहीं सकता/................ ताजा जैसे भट्ठी से ढ़लते गले इस्पात की धार/............ मुझसे क्या डरना ?"

सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 259–260, ('शोषक भैया' शीर्षक)

(15) "कट गयीं पूलें हमारे खेत की/कोठरी में लौ बढ़ाकर दीप की।

गिन रहा होगा महाजन सेंत की।"

सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 – 252 (हवाएँ चेत की" शीर्षक)

(16) सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 251–252 ('हवाई यात्रा' शीर्षक)।

(17) ''उतरो थोड़ा और ..../खड़ा मिलेगा वहाँ सामने तुमको/अनपेक्षित प्रतिरूप तुम्हारा/नर, जिसकी अनझिप आँखें में नारायण की कथा भरी है।''

इन्द्रधनुष रौदे हुए थे (क0सं0) (हवाई यात्रा: ऊँची उड़ान, शीर्षक) ~~सदानीरा~~-1

सदानीरा-1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0-290 (~~हवाई यात्रा, ऊँची उड़ान शीर्षक~~)

(18) सदानीरा -1;सम्पा0 अज्ञेय पृ0 - 270, ('मैं वहाँ हूँ' शीर्षक)

(19) दृ0 वही, पृ0 - 271।

(20) दृ0 वही, पृ0 - 271।

(21) दृ0 वही, पृ0 - 272।

(22) पुरखों के झोपड़े में आग हम लगाते हैं/घर-घर का भेद हम लाते हैं।

अपने को पराया-नहीं आप का ! - बनाते हैं।

सदानीरा-1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 - 273 ('इतिहास की हवा') शीर्षक)

(23) सदानीरा-1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0-289, ('महानगर : 'रात' शीर्षक)

(24) सदानीरा-1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0-314 ('हरा-भरा है देश' शीर्षक)

(25) सदानीरा-2, अज्ञेय, पृ0-60 ('बाँगर और खादर' शीर्षक) ।

(26) दृ0 वही, पृ0-37 ('औद्योगिक बस्ती' शीर्षक)

(27) सदानीरा-2, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0-106 ('अनुभव-परिपक्व' शीर्षक)।

(28) सदानीरा-2, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 - 157 ('युद्ध विराम' शीर्षक)।

(29) दृ0 वही, पृ0 - 159 ('अंधकार में जागने वाले' शीर्षक)।

(30) "दो ही तो सच्चाइयाँ हैं/एक ठोस, पार्थिव, शरीरी–मांसल रूप की ;/
एक द्रव, वायवी आत्मिक – वासना की धधक की/
बाकी आगे मृषा की, आत्म–सम्मोहन की/...............।
हमें चलता कीजिए/फिर रंगरेलियाँ मनाइएं।"
सदानीरा–2,सम्पा0अज्ञेय पृ0–209 ('दास व्यापारी' शीर्षक)

(31) सदानीरा–2, अज्ञेय, पृ0 – 205, (अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम्'-शीर्षक)

(32) सदानीरा–2, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0 – 213।

(33) दृ0 वही,, पृ0 – 223।

(34) सदानीरा –2, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–301।

(35) "जो पुल बनायेंगे/वे अनिवार्यतः/पीछे रह जायेंगे/सेनाएँ हो जायेंगी पार/
मारे जायेंगे रावण/जयी होंगे राम;/जो निर्माता रहे/इतिहास में/बन्दर कहलायेंगे।"
सदानीरा–2, अज्ञेय पृ0–307 ('जो पुल बनायेंगे,'–शीर्षक)।

(36) "उन्होंने/घर बनाएं/और आगे बढ़ गए/जहाँ वे/और घर बनायेंगे।"
सदानीरा–2, अज्ञेय, पृ0–219 ('उन्होंने घर बनाये'-शीर्षक)

(37) "छिटक गयी है चाँदनी/मदमाती उन्मादिनी/........ पकी ज्वार से निकल शशों की
जोड़ी गयी फलाँगती/........... कुहरा झीना और महीन/झर–झर पड़े अकास नीम/
उजली लालिम मालती/गन्ध के डोरे डालती,, मन में दुबकी है हुलास ज्यों परछाई
हो चोर की–/ तेरी बाट अगोरते ये आँखें हुई चकोर की।"
सदानीरा–1, अज्ञेय पृ0–225, (कतकी पूनों'शीर्षक)।

(38) 'शरद' (शीर्षक), वही, पृ0–56, 'सो रहा है झोप' वही, पृ0 – 58। पानी बरसा वही, पृ0–54। ''रात सावन की' सदानीरा–2, पृ0 379–380।
'क्वाँर की बयार', 'सबेरे–सबेरे' सदानीरा–1–पृ0–230।
'तुम फिर आ गये क्वाँर', 'चाँदनी जीलो', 'झरने के लिए', 'प्रथम किरण'
सदानीरा–1, पृ0–246–247, 250, 'संध्या तारा', वही–पृ0–257 आदि।

(39) ''भर–भर कर अँजुरी पी लो/वरसी शरद चाँदनी/मेरा अन्तःस्पन्दन तुम भी क्षण–क्षण जी लो/शरद–चाँदनी वरसी अँजुरी भरकर पी लो।''
('चाँदनी जी लो' शीर्षक) सदा नीरा–1–पृ0– 247।

(40) सदानीरा–1, पृ0–232 ।

(41) सदानीरा–2, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–309, ('नंदादेवी–2' शीर्षक)।

(42) दृ0 वही, ('नंदादेवी–6' शीर्षक)।

(43) सदानीरा–2, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–27।

(44) सदानीरा–1, सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–276 ('गोवर्द्धन' शीर्षक)।

(45) दृ0 वही,, पृ0–277 ('सीढ़ियाँ' शीर्षक)।

(46) सदानीरा–2; सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–166–167 ('यात्री' शीर्षक)।

पंचम अध्याय

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी–कविता में लोक–संवेदना के विविध आयामों की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त माध्यम – [पृ०सं० – २५७ - ३५२]

(क) लोक–बोलियों में प्रयुक्त विविध शब्द।

(ख) लोक–जीवन से गृहीत उपमान, प्रतीक और बिम्ब।

(ग) लोक–धुन

(घ) लोक–प्रचलित कहावतें व मुहावरें।

प्राचीन काल से यह विवाद चला आ रहा है कि कविता की आत्मा भावपक्ष है या कला पक्ष? पाश्चात्य और पौर्वत्य विचारकों ने कविता की आत्मा क्या है ? इस पर अपने-अपने दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया है किन्तु कविता केवल कला नहीं है वरन् निर्जीव रूप में एक ऐसा सजीव चित्र है जो मनुष्य की प्रत्येक श्वसन क्रिया को महत्वपूर्ण बनाती है । वस्तुतः कविता की भाषा ही समाज में आदर्शो, यथार्थ चित्रण और क्रान्ति की आग को प्रज्जवलित करने में सफल होती है ।

किसी भी कवि के लिए अपने भाव को अभिव्यक्त करने के लिए सबसे बड़ी समस्या भाषा की होती है । जो कवि जितना बड़ा होता है, उसकी भाषा की समस्या उतनी ही गुरूतर होती है । प्रत्येक कवि द्वन्द्वात्मक युद्ध में निर्द्वन्द्व होने का प्रयास करता है । महाकवि तुलसी के सामने समस्या थी कि वह अपनी रचना संस्कृत में करे या हिन्दी में ? हिन्दी में किस बोली या भाषा को माध्यम बनावें । इसी प्रकार प्रत्येक कवि जब रचना करने बैठता है तो द्वन्द्वों में अपने को घिरा पाता है । स्वानुभूत प्रत्यक्ष की भाषा और कविता की भाषा के द्वन्द्व की पृष्ठभूमि में ही अपने को स्थापित करना पड़ता है । नागार्जुन जैसा कवि, जो संस्कृत का विद्वान है- अपनी कविता के लिए लोकभाषा के शब्दों को बड़ी सहजता से चुनता है । गिरिजा कुमार माथुर और रामविलास शर्मा जैसे आंग्ल भाषाविद् कवि को भी अपनी भाषा की तलाश करनी पड़ी । रघुवीर सहाय व अज्ञेय ने भाषा के आकर्षण के कारण ही लिखना आरम्भ किया ।

इन कवियों ने लोक-जीवन की भाषा के माध्यम से उन्हीं की पीड़ा, उनके हास-परिहास, उल्लास-प्रेम आदि भावों को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया । यह बात सच है कि जब कवि किसी भाव को द्योतित करना चाहता है तब उसकी बुद्धि के समक्ष शब्दों का समूह अहमहमिकया भाव से आने लगता है । कुशल कवि का सही

चयन ही पूर्ण अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है । प्रत्येक भाषा के शब्दों की अपनी विशेषता है । प्रत्येक शब्द का अपना विशिष्ट अर्थ होता है, उसके लिए पर्याय नहीं दिया जा सकता है । पर्याय उस अर्थ को हृदय में प्रविष्ट नहीं करा सकता है जिसे कवि व्यक्त करना चाहता है । आम आदमी की अपनी शब्दावली होती है जिसमें वह साँस लेता हुआ अपने भाव को स्पष्ट करने का प्रयास करता है । इसलिए कुशल कवि जिनकी स्थिति को उपस्थित करना चाहता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि उसकी 'बोलियों' का वह अपनी कविता में प्रयोग करे । इन सभी कवियों ने इसका सार्थक प्रयोग किया है कुछ प्रयोग सामन्तवादियों को भले ही अश्लील लगे हों किन्तु उन प्रयोगों में कवि की जो पीड़ा है उसे दूसरे शब्द नहीं अभिव्यक्त कर सकते हैं। मनोवेग की स्थिति अनियंत्रित होती है, उसका मूल्यांकन उन्हीं स्थिति की ध्वनियों से किया जा सकता है ।

स्वातन्त्र्योत्तर इन कवियों ने नये उपमानों का प्रयोग कर कविता को एक नयी दिशा दी है । इन उपमानों में लोक जीवन की पीड़ा और पूँजीवादी व्यवस्था की क्रूर-क्रीड़ा व्यञ्जित होती है। कुछ कवियों ने प्रतीक और बिम्बों के मोह का परित्याग करने का प्रयत्न किया। वस्तुतः उनकी रचनाओं में इनका सर्वथा अभाव नहीं है । साधारण जनों के जीवन से सम्बन्धित प्रतीक और बिम्बों के माध्यम से कविता द्वन्द्वात्मक जीवन की विकट कहानी ही व्यक्त नहीं करती है वरन् पाठक या श्रोता को निर्द्वन्द्वात्मक स्थिति तक पहुँचाकर एक ऐसा मार्ग प्रदान करती है जो पुराने प्रतिमानों को ध्वस्त कर नूतन सर्जनात्मक क्षमता के साथ नया संसार बना सके, जहाँ समता, करूणा, दया, प्रेम, मैत्री, सहिष्णुता, कर्तव्यशीलता तथा सहभागिता की अविकल धारा बहती रहे और संसार का प्रत्येक व्यक्ति मनुष्य बन सके । आदमी को आदमी की तलाश है पर आदमियों के बीच में रहने वाले आदमी को आदमी नहीं मिलता, मिलता है उसे एक ऐसा अधनङ्गा आदमी, जो रूप-रंग से मानव प्रतीत होता है, किन्तु उसके कर्म दानवीय होते हैं जिसके

कारण उसके भय से पत्ता भी न खड़क सके। लोक प्रचलित शब्दों, लोकोक्तियों, मुहावरे ध्वनियों, उपमानों, बिम्बों और प्रतीकों के किये गये सार्थक प्रयोग संवेदनाओं को और प्रभावशाली बना देते हैं । स्वातन्त्र्योत्तर इन कवियों ने लोक जीवन से सम्बन्धित काव्य रूपों का प्रयोग कर उनके जीवन के बाह्य एवं आन्तर स्वरूप के विविध प्रकार के चित्रों को प्रस्तुत किया है । कहावतें जीवन के अनुभूत सत्यों को सूक्ति रूप में वर्णित करने में सक्षम हैं । मुहावरों में अर्थ गाम्भीर्य समाया रहता है । ये मुहावरे और सूक्तियाँ ग्रामीणों के जीवन की कडुवाहट, मिठास, तिक्तता, उष्णता, आत्मीयता, करूणा आदि को अभिव्यक्त करती हैं । भाषा की अपनी गम्भीरता, अर्थवत्ता, सम्प्रेषणीयता और कलात्मकता होती है जिसके हृदय में हठात् प्रवेश नहीं किया जा सकता है । इन कवियों ने अपनी रचनाओं में ग्रामीण जन, मजदूर, दलित आदि की भाषा के विविध अनुगूँज आयामों के द्वारा उनके जीवन की संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने का सफल प्रयत्न किया है ।

नागार्जुन की कविता और भाषा संवेदना :-

कवि नागार्जुन की मातृभाषा मैथिली और पितृ-भाषा संस्कृत है । इसके अतिरिक्त पालि, अर्द्ध-मागधी, अपभ्रंश, सिंघली, तिब्बती, मराठी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, सिन्धी आदि भाषाओं के जानकार होने के कारण नागार्जुन सभी भाषाओं को पढ़ने में रूचि रखते हैं । इसलिए इनकी रचनाओं में यत्र-तत्र सभी भाषाओं के शब्दों का सार्थक प्रयोग हुआ है । अपने अंचल तथा अपनी धरती से घनिष्ठ रूप में जुड़े रहने पर भी वे वैश्विक कवि हैं। क्योंकि उनकी संवेदना न वैयक्तिक है न आञ्चलिक, वरन् सार्वजनीन वैश्विक वातावरण की नवीन उपज है जिसकी सुरभि विश्व के सभी सहृदयों को आह्लादित करती है । नागार्जुन की संस्कृतनिष्ठ कविताओं में भी लोकभाषा के सुन्दर प्रयोग को देखकर यही प्रतीत होता है कि मानों पूनम के चाँद की कालिमा चन्द्र की

शोभा वृद्धि कर रही है ।

कवि ने लोकभाषा के माध्यम से सामान्य जन जीवन की संवेदनाओं को अति कुशलता से अभिव्यक्त किया है । वे पत्तर (पत्तल) जोड़ने वाले से अपने मन को जोड़कर अपने सपने को उन्हीं के समान बुनते हैं । वे जानते हैं कि दीन-दलित की घुटन ठहाकों (उन्मुक्त हँसी) में घुलती है किन्तु आधुनिक कवि की घुटन नींद-विहीन रात्रि की घड़ियों में चुरती (धीरे-धीरे पकती) रहती है। चितकबरी (कई रंगो का मिश्रण) चाँदनी में खोने वालों की अपेक्षा फसलों में हुलसित (प्रसन्न) हो जाने वाले किसान अच्छे हैं ।[1] सूक्ष्मदर्शी कवि नागार्जुन गाँवों के प्राइमरी स्कूल की फटी भीत (दीवाल), चूती (टपकने वाली) छत तथा आले (दीवार में बनी हुई छोटी सी आलमारी) पर नाचती हुई विसतुइया[2] (छिपकली) को चित्रित कर ग्रामीण छात्रों की दुर्दशा को अभिव्यक्त करते हैं । यह सब इसलिए है कि टेकरी (शासन की कुर्सी) पर मादा भेड़िया (सरकार) बैठी हुई है।[3] इन्हीं के कारण गेहुँअन (कोबरा साँप) का पोआ (बच्चा) समाज को डँसता रहता है ।[4]

धरती पुत्र नागार्जुन के मन में धरती के प्रति करूणा है । वे इसे पेन्हाई (दूध देने के लिए तत्पर) गाय नहीं समझते हैं।[5] महानाश के मसीहा को न वरण करने वाली धरती से उत्पन्न होने वाली अन्न-ब्रह्म की माया कवि की दृष्टि में डायन है । इस माया को प्राप्त करने के लिए भुक्खड़ (भूखे लोग) जब कूच करेंगे, तब संसार थर्रायेगा।[6] कवि नागार्जुन के मन में गट्ठल (गँठीले) घट्टे (काम करने वाले से कड़े हो जाने वाले) पैर की फटी हुई बेबाइयाँ खुबी (धँसी) हुई हैं।[7] "तुम तो नहीं गयी थी आग लगाने" शीर्षक कविता में कवि ने लोक-भाषा के 'चीथड़ा'[8] शब्द का प्रयोग (तुम्हारे हाथ में पेट्रोल का गीला चीथड़ा नहीं था) कर जाँघ पर गोली लगी हुई उस औरत की बेबसी और गरीबी तथा शासन की क्रूरता का वीभत्स चित्रण किया है जिसका इस संसार में कोई सहायक नहीं होता है । भविष्य-द्रष्टा कवि दीन-जनों को 'ढोर-डँगर' (पशुओं) के समान हाँकने

(संचालित करने) वालों पर आक्रोश व्यक्त करते हैं -

" क्या वे हमें ढोर-डँगर की तरह । डण्डे दिखा दिखाकर हाँकेंगे ?"[9]

"यह उन्मत प्रदर्शन" शीर्षक कविता में लोकभाषा के शब्द 'छौने'[10] का प्रयोग कर उन्होंने दीनों के प्रति अपनी संवेदना और अन्याय के प्रति घृणा को अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः 'छौना' शूकर के बच्चे को कहा जाता है । लक्ष्णार्थ से सभी पशु के बच्चों को 'छौना' कहते हैं । धनपतियों पर कटाक्ष करते हुए वे कहते हैं कि 'कुबेर के छौने' की शान-शौकत ने दीनों को जूठन चाटने के लिए बाध्य कर दिया है।[11] कवि नागार्जुन ने इसी प्रकार लोकभाषा के अनेक शब्दों - 'बतकही', 'छिनाल' (व्यभिचारिणी), 'खूँसट' (व्यर्थ का), 'फाँक' (चीरा हुआ), 'झबरा' (बालों वाला कुत्ता), 'तलइया', 'अण्डबण्ड', 'तिड़ी विड़ी', 'मुच्छड़', 'कुच्छ', 'बेरूखी' आदि के माध्यम से लोक-संवेदना को अभिव्यक्त किया है । वस्तुतः नागार्जुन लोक की मिट्टी के कवि हैं। इसलिए इनकी रचनाओं में लोकभाषा के शब्दों का अनूठा संगम मिलता है ।

"घिन तो नहीं आती"[12] कविता में ट्रामों की भीड़ में कुली-मजदूरों के बीच किसी तथाकथित अभिजात्य को देखकर कवि द्वारा पूछा हुआ प्रश्न अत्यन्त मार्मिक है- "सच-सच बतलाओ/नागवार तो नहीं लगती है/जी तो नहीं कुढ़ता है/ घिन तो नहीं आती है / क्योंकि तुम्हारा आधार- /दूध का धुला हुआ लिबास है तुम्हारा/निकले हो शायद चौरंगी की हवा खाने/ ये तो बस इसी तरह/लगायेंगे ठहाके, सूरती फाँकेंगे/भरे मुँह बात करेंगे अपने देश कोस की । सच-सच बतलाओ । अखरती तो नहीं है इसकी सोहबत ।" - इस कविता में नागार्जुन ने लोक भाषा के विविध शब्दों - 'नागवार', 'जी', 'कुढ़ता', 'घिन', 'लिबास', 'सूरती फाँकेंगे', 'भरे मुँह, 'देश कोस', 'अखरती' और 'सोहबत' के प्रयोग के द्वारा सामान्य जनों के प्रति अपनी आन्तरिक पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। नागवार (फारसी), लिबास, सोहबत (अरबी) शब्द जो लोकभाषा में प्रयुक्त होते

हैं - कुली-मजदूरों और पूँजीपतियों के बीच की दूरी को द्योतित करते हुये उनके मनोवैज्ञानिक भावों को स्पष्ट करते हैं । कुलियों के कंधो पर चढ़कर जीवन जीने वाले उन्हीं से घृणा करते हैं । कुली और मजदूर चाय से मानसिक थकान को दूर नहीं कर सकते हैं, वरन् वे सूरती (तम्बाकू) फाँककर अपने दुःख-दर्द को दूर करते हैं और आपस में अपने देश-कोस (गाँव-गिराँव) के लोगों से भरमुँह (खुलकर) बात कर ठहाके लगाते रहते हैं । ऐसे लोगों की सोहबत (संगति) किसे प्रिय होगी? उनके प्रेम करने वालों को ही उनकी संगति नहीं अखरेगी (पीड़ा देगी) ।

कवि नागार्जुन ने अनेक भाषाओं के लोक प्रचलित शब्दों का सार्थक प्रयोग किया है । अंग्रेजी भाषा के स्पीड,[13] जंक्शन, वैलेट पेपर, पार्टी, कैम्प, स्ट्रीट, फुटपाथ, सेफ प्लेट,[14] पंक्चर आदि लोक प्रचलित शब्द लोक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति में सहायक बने हैं ।

नागार्जुन ने मैथिल शब्दों- मजरल (बौर आ जाना), सुग्गा, कैठो, आन्हर, भैक्त, अहिबारे, आमक बाग (आम के बाग), गे भइयो, सींध, धिरावा से भी कविता को सँवार कर उसे लोक संवेद्य बनाया है ।

साधारण जनों में असाधारण[15] रूप देखने वाले नागार्जुन का हृदय वस्तुतः आदम का तबेला है,[16] जिसकी सत्रह कोठरियों में ढाई सौ प्राण चुरते रहते हैं । वे दीन-जनों के दुःख से इतने करूणार्द्र हैं कि उनके इस बेहाल जीवन को हैजा या काली माई को समर्पित करने में संकोच नहीं करते हैं । वे 'पब्लिक' की पीठ पर 'वजट' से लदे हुए पहाड़ को देखकर, मास्टर, मजदूर, स्त्री और बच्चों की छाती के हाड़ को गिन-गिन कर मर्माहत हैं ।[17]

लोकभाषा के प्रचलित शब्दों को नागार्जुन कुछ तोड़-मरोड़ कर रखते हैं । इससे उनकी कविता का प्रभाव और बढ़ जाता है । लोक प्रचलित 'दादा' के स्थान पर मार्शल

टीटो के लिए दद्दू (माइ डियर दद्दू हमारे मार्शल टीटो मैत्री की चादर को ज्यादा न पछीचे) शब्द प्रयुक्त कर टीटो का उपहास किया है । इसी प्रकार नागार्जुन मास्को-फास्को (महाप्रभु जान रानक) संकट-फंकट (बाढ़-छकि-पटना), संसद-फंसद (इसके लेखे संसद-फंसद सब फिजूल है) जेल-सेल[18] आदि शब्दों को प्रयोग कर अपने स्वतन्त्र चिन्तन के प्रभाव को अभिव्यक्त करते हैं ।

नागार्जुन की कविताओं में बिम्ब-विधान केवल शब्द चित्र ही नहीं वरन् अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं । बिम्ब और प्रतीकों के माध्यम से कवि सहृदय पाठक के भीतर चिरस्थायी प्रभाव डालने में समर्थ होता है । 'अकाल और उसके बाद' कविता में नागार्जुन ने जिस बिम्ब को प्रस्तुत किया है वह वस्तुतः अत्यन्त संवेदनात्मक है -

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास,
कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास
x x x x x
दाने आये घर के अन्दर कई दिनों के बाद
धुँआ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद
चमक उठी घर भर की आँखे कई दिनों के बाद
कौए ने खुजलायी पाँखे कई दिनों के बाद[19]

इस कविता में जड़ चूल्हे के रूदन ने व्यक्ति की दरिद्रता की पराकाष्ठा को अभिव्यक्त किया है। 'चक्की का उदास' रहना घर में अन्नाभाव को द्योतित करता है । कानी कुतिया भूखी रहकर भी अपने गृह-स्वामी के पास उसकी रक्षा के लिए सोती है । इस पंक्ति से कवि ने यह व्यञ्जित किया है कि मनुष्यों की अपेक्षा पशुओं में स्वामिभक्ति है । कई उपवास के बाद घर में अन्न नहीं 'दाने' आये । 'दाने' का बिम्ब अन्न की अल्पता को अभिव्यक्त करता है । थोड़े से अन्न की प्राप्ति से घर का माहौल बदल

जाता है।घर भर के लोग प्रसन्न हो जाते हैं और कौए भी अपनी पाँख को जूठन मिलने की आशा से खुजलाने लगते हैं ।

"ऐसा क्या अब फिर फिर होगा ?" शीर्षक कविता में कवि ने स्मृति-बिम्ब के माध्यम से सर्वपूज्या नारी के प्रति किये गये कुकृत्य को हृदय विदारक रूप में प्रस्तुत किया है- "ग्रामवासिनी-नगरवासिनी । माताओं बहनों-बहुओं की । सभी निगाहे, झुकी निगाहें ।'..... भीगी-भीगी सहती-सहमी । दहशत भरी निगाहों के ये दृश्य भूल सकूँगा?"[20] – इस कविता में दृष्टि के विभिन्न रूपों के माध्यम से विभिन्न प्रकार के भावों को बड़ी ही कुशलता से अभिव्यक्त किया गया है । एक ही कुत्सित घटना ने माँ-बहनों के हृदय में उठने वाली भाव तरंगों की विवशता को विभिन्न प्रकार की दृष्टियों से द्योतित कर सभ्य समाज के ज्ञानपीठ में होने वाले दानवीय कृत्य के प्रति मर्मान्तक दुःख को व्यञ्जित किया है ।

"गीले पाँक की दुनिया गई है छोड़" कविता में नागार्जुन ने बाढ़ की विभीषिका का बिम्ब प्रस्तुत कर बाढ़ की विनाशकारिणी लीला को शब्दों के माध्यम से भावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया है । कवि ने मल्लाहों को कृष्ण द्वैपायनों का परिवार कहकर उनकी श्रेष्ठता तथा भारतीय संस्कृत के विकृत चित्र को प्रस्तुत किया है।कवि इन मल्लाहों के बीच अपने को खड़ा ही नहीं करता है वरन् वह वहीं का हो जाना चाहता है।[21] 'आदम का तबेला' कविता शोषित जन के यथार्थ जीवन का हृदयस्पर्शी बिम्ब प्रस्तुत करती है । सत्रह कोठरियों में ढाई सौ प्राणी किस प्रकार (चुरपुहे) रह रहे हैं? इसकी कल्पना से ही रूह काँप उठती है । छोटी बच्ची को भी पानी के बदले अँगूठा चूसकर सन्तोष करना पड़ता है । वह खिड़की से लटका हुआ खिलौना मात्र देखती रहती है ।[22]

मर्म पर प्रहार करने वाले प्रतीकों के माध्यम से नागार्जुन अपनी कविताओं में जन सामान्य के जीवन की विषमताओं को अभिव्यक्त करते हैं । "मुर्गे ने दी बाँग" कविता

पूर्ण प्रतीकात्मक है । दड़वे में बन्द रहने पर भी लाल रंग वाला मुर्गा- (यह सुर्ख मुर्ग ठीक वक्त पर बाँग दे रहा है न? ..... यह मुर्ग नहीं, अलार्म घड़ी है जेल की।[23]

) -जो क्रान्ति का प्रतीक है- रात्रि व्यतीत होने और प्रभात (सुख के दिन आने की) की सूचना देकर दीन, दलित और शोषितों को उत्साहित करता है । "छोटी मछली शहीद हो गयी" कविता लोक-जीवन की व्यथा कथा है । 'छोटी मछली' शोषित जन की प्रतीक है । उसकी मृत्यु पर छोटे कर्मचारी (दलित) गण अत्यन्त दुःखी हैं किन्तु पूँजीवादी व्यवस्था के प्रतीक मोती सिंह के मन में उसके प्रति किसी प्रकार की करूणा नहीं है । वह तो अपनी-अपनी क्रूरता की आग में उसे भूनकर खाने के लिए तैयार हैं ।[24] वस्तुतः नागार्जुन ने अपने प्रतीकों के माध्यम से क्रूर शासन तन्त्र पर कड़े प्रहार किये हैं। सभी प्रतीकों में सामान्य जनों के हृदय की असह्य पीड़ा को इन्होंने बिना किसी भय और संकोच के अभिव्यक्त किया है ।

नागार्जुन के उपमानों की तुलना सिर्फ उन्हीं से की जा सकती है । एक कविता– ("बताऊँ? / कैसे लगते हैं / दरिद्र देश के धनिक? / कोढ़ी कुढ़व तन पर मणिमय आभूषण ।")[25] में उन्होंने 'दरिद्र देश के धनिक' के लिए 'कोढ़ी कुढ़व शरीर पर मणिमय आभूषण' का उपमान दिया है । देश को खोखला बनाकर अपना घर भरने वाले धनिकों का उपहास करते हुए उनकी यह कविता देश के प्रति उनके प्रेम-भाव को अभिव्यक्त करती है ।

नागार्जुन जैसा संवेदनशील कवि ही सत्य के स्वरूप को ठीक ढंग से देख सकता है । तभी वे कहते हैं - सत्य को लकवा मार गया है / वह लम्बे काठ की तरह पड़ा रहता है सारा दिन ..... सत्य अब पड़ा रहेगा । लोथ की तरह, स्पन्दन शून्य मांसल देह की तरह ।[26] सत्य लम्बे काठ (सूखी लकड़ी), लोथ (मांस का टुकड़ा) की तरह और स्पन्दन शून्य माँसल देह की तरह निष्क्रिय पड़ा है। कवि ने तीन उपमानों के द्वारा चेतन

प्राणी– जो सत्य बोलने का दावा करते हैं– को पाषाण बना दिया है । यदि सत्यनिष्ठ प्राणी दीनजनों ,शोषित-दलितों व सामान्य जनों पर किये गये अत्याचार को देखकर कुछ बोलते नहीं, मूक बने रहते हैं – वे वस्तुतः शुष्क काठ की भाँति है, अथवा माँस के लोथड़े की भाँति घृणा के पात्र हैं अथवा मृत शरीर ।

मुहावरों व लोकोक्तियों के सुन्दर प्रयोग वाली नागार्जुन की कविताएँ लोक संवेदना को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करती हैं । लोक जीवन से तादात्म्य रखने वाले व भौतिक सुख के लिए लार न टपकाने वाले नागार्जुन को "लोकतन्त्र के मुँह पर ताला"[27](कुछ भी बोलने में असमर्थ बना देना) लगाकर फूले न समाने वाले लोग असह्य हैं । क्रूरशासन के समक्ष घुटने न टेकने वाले[28] नागार्जुन ने ही शासन रूपी 'मगर के आँसू' को बहते हुए सही मायने में देखा है । शासकों या शोषकों का दामन कितना पाक-साफ है? और दुनिया की चादर कितनी मैली है? इसका ज्ञान नागार्जुन को है। तभी तो गरीबों की चिन्ता के नाम पर उनका उपहास करने वाले राजनारायण जैसे नेता शासन को बाहरसे बाँस करने[29](कष्ट देने) के लिए तैयार रहते हैं तथा अपने दुश्मनों की ऐसी-तैसी (मिट्टी में मिला देने) करने के लिए ठकुरसुहाती (चमचागिरी) करते रहते हैं । नागार्जुन की पैनी दृष्टि ही देख सकती है कि खादी ने किस प्रकार मलमल से अपनी साँठ-गाँठ (दोस्ती) कर ली है । इसीलिए धनिकों के यहाँ "तीसों दिन दीवाली" (सुख की घड़ी) मनायी जाती है और गरीबों का चूल्हा ठण्डा रहता है। उनकी "हांडी फूटी" हुई रहती है ।[30]

"आम के आम गुठलियों के दाम" कहावत में नागार्जुन ने स्वार्थी तत्वों की करनी को बड़े ही मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया है – "पके आमों को सहेजो काम आयेंगे । सारवन्ती गुठलियों के दाम आयेंगे ।[31] 'अजगर करे न चाकरी' कहावत को कवि ने अपनी कविता का शीर्षक बनाकर सत्ताभोगी अनेकान्तवादी कवियों का उपहास किया है ।

'शासक की बन्दूक' शीर्षक कविता में "बाल न बाँका कर सके जो जग वैरी होय" कहावत के आधे अंश का प्रयोग कर कवि ने शेष आधे अंश को वर्तमान से जोड़ते हुए नयी उक्ति का निर्माण किया है- "जली ठूँठ पर बैठकर गयी कोकिला कूंक, बाल न बाँका कर सकी, शासन की बन्दूक ।"[32]

नेताओं को "घर के न घाट के"[33] समझने वाले नागार्जुन दलितों के उत्थान के लिए क्रान्ति के 'तिल को सदा ताड़' बनाने के लिए उद्यत रहते हैं - "आये हैं सम्पूर्ण क्रान्ति में/ताड़ बना लेगें तिल से ।"[34]

नागार्जुन की कवितायें बहुआयामी रूप वाली है । इनकी सपाटबयानी कविताओं में भी एक लय का माधुर्य है । "इन्दु जी क्या हुआ आपको"[35] कविता प्रारभ्म से लेकर अन्त तक एक प्रकार की लोक-धुन को प्रस्तुत करती है । ज्यों-ज्यों कविता आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों भावों की गम्भीरता लोक प्रचलित शैली में नादात्मक सौन्दर्य की पराकाष्ठा को प्राप्त करती है । पूरी कविता में लोक-धुन के माध्यम–ज़नून-खून, दंग-रंग, बाप को, पाप को — से साधारण जनों के प्रति कवि की संवेदना को व्यञ्जित कर रही है । 'खूब सज रहे' कविता - "खूब सज रहे आगे आगे पंडे / सरों पर लिए गैस के हण्डे /...चमके काले गंडे/सौ-सौ ग्राम वजन है। कछुए ने डाले अंडे ।"[36] में प्रयुक्त पंडे, हंडे, गंडे आदि शब्दों की लयात्मक ध्वनियाँ विशेष अर्थों को द्योतित करती हुई शासन की विद्रूपता के साथ-साथ जनता के साथ किये गये छलावा को व्यञ्जित कर रही हैं ।

'खाली नहीं और खाली' शीर्षक कविता- "मकान नहीं खाली है/दुकान नहीं खाली है/स्कूल नहीं खाली है, खाली नहीं कालेज/खाली नहीं टेबुल, खाली नहीं मेज... खाली है हाथ, खाली है पेट/खाली है थाली, खाली है प्लेट।"[37] में 'खाली' पद की बार -बार आवृत्ति की गयी है । इस आवृत्ति में पुनरूक्ति दोष नहीं है वरन् अर्थ को प्रभावकारी बनाने के लिए प्रयुक्त है । इस संसार में यदि कुछ खाली है तो दीन-दलितों के हाथ,

पेट,थाली और प्लेट । इसी प्रकार "पीपल के पीले पत्ते" शीर्षक कविता- खड़-खड़-खड़ करने वाले/ओ पीपल के पीले पत्ते/हरे-भरे कुछ भूरे-भूरे टूसों से लद रही टहनियाँ । लह-लह-लह-लह लहा रहे हैं ....।"[38] अपने ध्वन्यात्मक शब्दों के द्वारा पुराने बुर्जुआ सिद्धान्तों को नष्ट कर नयी क्रान्ति के बीज के प्रस्फुटन को अभिव्यक्त कर रही है । पूँजीवादी व्यवस्था के ध्वंस को 'खड़-खड-खड़' लोक-ध्वनि बहुत बारीकी से द्योतित कर रही है तथा 'लह-लह-लह' लोक-ध्वनियाँ सर्वहारा के शासन के प्रभात को द्युतिमान कर रही हैं ।

वस्तुतः नागार्जुन लोक जीवन के सहज चितेरे ही नहीं है, वरन् उनकी कविता स्वयं की भोगी हुई जीवन-निधि है । वे कविता के लिए कविता नहीं लिखते वरन् उनके हृदय का रस स्वयं ही कवित्व का रूप ले लेता है । इसीलिए उनकी भाषा अत्यन्त और सहज है । उनकी सहजता में भावों की गम्भीरता रहती है । कहीं-कहीं कविता तीखा प्रहार करती हुई उनके सात्त्विक क्रोध को अभिव्यक्त करती है । उनकी कविताओं में लोक भाषा के शब्द उसी प्रकार अनेक रहस्य को प्रकाशित करते हैं जैसे नीलाम्बर के तारे । यह कहना अनुचित न होगा कि नागार्जुन जैसे कवि सदियों में होते हैं जो लोक जीवन के दामन को छोड़कर अन्यत्र रमण करने में अपना व सरस्वती का अपमान समझते हैं ।

केदारनाथ अग्रवाल की कविता की भाषा में लोक-संवेदना

जनता का यह चहेता कवि केदारनाथ अपनी कविता की थाती को हृदय में समाहित कर अपनी छाती ताने हुए सबसे पृथक खड़े हैं।[1] इनकी स्वतन्त्र लेखनी कभी किसी भी भौतिक मूल्य पर नहीं बिकी । ये जीवन-पर्यन्त मनुष्यों को साहस, स्वाभिमान अर्थ और वाणी देने के लिए तथा स्वदेश को नवीन रूप में गढ़ने के लिए बिना किसी लोभ के अपनी जीवन्त तथा सहज लेखनी के माध्यम से संघर्ष करते रहे हैं। इनकी भाषा

की रारलता इनके कथ्य को जन-जन तक पहुंचाने में सफल रही है। प्राचीन काल से भाषा, विषय और अभिव्यक्ति का संघर्ष चलता आया है । साहित्यिक भाषा और विषय के विवाद ने कविता की धारा को अनेक रूपो में विभाजित किया है। केदारनाथ यह स्वीकार करते हैं कि आम-आदमी के जीवन से सम्बन्धित साहित्य की भाषा आम-आदमी की ही होनी चाहिए ताकि विषयी को विषय का बोध हो सके । भाषा की सरलता और दुरूहता कविता का बाह्य पक्ष है । भाषा एक इकाई है जो किसी अमूर्त को शाश्वत मूर्त रूप प्रदान करती है । समकालीन कवियों की भाषा संरचना उनके वैयक्तिक गुणों के कारण विविध रूपों को धारण करती है । यह होना भी चाहिए । अनुकृति का लोभ कथ्य को नीरस और अबोधगम्य बना देता है । कवि केदार स्वयं कहते हैं -"कवि कविता को नीचे गिरने से बचाता है । वह उसे भाषा देता है जो कर्त्तव्य और कर्म से उपजी हो और सार्थक हो और दूसरों की समझ में आ सके ।"[2]

वस्तुतः कविता का आलोक उस अन्धकार को जिसे सूर्य भी नहीं मिटा सकता है- मिटाने में सक्षम होता है । कविता शाब्दिक इन्द्रजाल नहीं है जो यथार्थ से दूर ले जाकर वञ्चना के रत्नाकार में उठाकर फेंक दे, अनेक रत्नों की प्राप्ति के लिए । यह एक छलावा हो सकता है और भ्रमजाल हो सकता है ,कविता नही । कविता का सम्बन्ध क्रान्तिदर्शी कवि से है । क्रान्तिदर्शी यथास्थिति वाद का कभी भी पोषक नहीं होता है, वह प्रकृति के प्रत्येक उपादानों में देश-काल, परिस्थिति के प्रत्येक घटक में क्रान्ति, नूतनता का सर्जक होता है । इसी अवधारणा को अपने में समेट कर चलने के कारण केदारनाथ की कविता जितनी उनकी है उतनी दूसरों की भी है ।[3]

जिस कवि की कविता में जनता का स्वर गूँजता रहता है वही कविता राज्य -सुखो को लात मारकर युग जीवन के सत्य के चित्र को चित्रित कर सकती है।[4] पचास वर्ष की अवस्था के बाद भी जिस कवि को गाँव बार-बार बुलाता रहता है ("गाँव अब

भी मुझे बुलाता")[5], उसकी रचनाओं में बरबस लोकभाषा की मधुर ध्वनि क्यों नहीं गूँजती रहेगी। 'कल और आज' शीर्षक कविता-('तकिया-मचिया जन जीवन के लिए कठिन है')- के द्वारा कवि ग्रामीण जन जीवन के अभावों को व्यक्त करता है । 'मचिया' शब्द - जिसका अर्थ होता है 'एकदम छोटी बाँस की बनी खाट' । आम आदमी के लिए 'मचिया' जैसी तुच्छ चीज भी उपलब्ध न होना देश की सम्पन्नता की बात करने वालों पर क्रूर तमाचा है । राजनीति के मक्कारपन ने आम आदमी के पेट को गड्ढा बना दिया-"पेट खलाये..... बोझा ढोते राहें टोते जो गाते हैं रोते निर्धन।"[6] 'पेट खलाये' में 'खलायें' शब्द का अर्थ है- भूख के कारण पेट का धँस जाना', और 'टोते' का अर्थ है- अंधेरे में किसी वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करना । नागार्जुन द्वारा प्रयुक्त लोक भाषा के ये दोनों शब्द एक ओर शोषित की दुरवस्था ('पेट खलाये') का और दूसरी ओर उनके क्रान्तिकारी अदम्य साहस (राह टोते) को व्यञ्जित करते हैं । "फूल नहीं रंग बोलते हैं"[7] संग्रह की यह कविता -"आँख खुली/कर उठा/करेजा कड़का/धूल झाड़कर/सोता मानव/फड़का रात ढली/दिन हुआ/ उजाला दौड़ा/ताबड़तोड़/चला, बज उठा/हथौड़ा"- विविध लोक प्रचलित शब्दों के माध्यम से श्रमिक के जीवन की व्यथा को सहज ही अभिव्यक्त करती है । दिन भर कठिन परिश्रम करने वाले श्रमिक के लिए रात छोटी पड़ गयी है । उसकी आँख देखती है कि उजेला दौड़ रहा है तब उसका करेजा (हृदय) कड़कने (व्याकुल) लगता है कि उसे काम पर जाने में बिलम्ब हो गया है । इसलिए वह फड़कता हुआ ताबड़तोड़ (अतिशीघ्रता से) दौड़ा और जाते ही (बिना विश्राम किये) उसका हथौड़ा बजने लगा ।

अपने मित्र शमशेर की भाँति 'कंधें पर नदी व मूँड़ (सिर) पर नाव'[8] रखकर चलने वाले केदार को यह भली-भाँति ज्ञान है कि भारत के जंगली जनतन्त्र के व्यापक प्रचार और प्रसार में आम आदमी को सामाजिक न्याय नहीं मिल सकता है क्योंकि चारों

ओर किल-किल (कलह या आपस में टकराहट) है । इसीलिए भुक्त भोगी अपने बेटे से कहता है कि यहाँ आम लोगों के लिए 'ठेंगा' (अँगुठा अथवा निराशा) और 'टिलटिल' (दुर्गन्धयुक्त कीचड़ ही कीचड़) है ।9

केदारनाथ की "बोले बोल अबोल" संग्रह की इस कविता में प्रयुक्त लोक-प्रचलित शब्द भूखी लड़की की संवेदना को मार्मिक रूपों में अभिव्यक्त करते हैं --

"आग पर चढ़ी बटुई/खुदुर-खुद/खुद-बुद करती है/भाप है/कि ठेलती-ठालती/कटोरी को/बारम्बार उठाती-बैठाती है/बटुई के मुँह पर/जलती-जलाती/लकड़ियों की धधक में/चूल्हे पर चढ़ा चावल चुरता है / धुंआई बिटिया/अँसुवाई बैठी/कोठे में देखती है/ पेट के पालने का/हो रहा आतुर-उपचार/सुनती हुई / भूखों-उद्धार का मंत्रोच्चार।"10

'बटुई' (चावल पकाने का काँसे का पात्र) आग पर चढ़ी है । उसमें रखे हुए चावल के पकने की ध्वनि को 'खुदुर- खुद' 'खुद-बुद' शब्द से व्यञ्जित किया गया है। भूख व धुयें (धुँआई) से पीड़ित बिटिया (लड़की) अँसुवाई (आँसू में डूबी हुई) आँखों से चावल चुरने (पकने) के इन्तजार में बैठी है । इनकी रचनाओं में अधिकांश स्थलों पर लोकभाषा के शब्द अनायास प्रयुक्त होकर अर्थ को बहुत ही संवेदनशील बना देते हैं । आम आदमी के जीवन से जुड़े हुए कवि की कविता बिना लोकभाषा के शब्दों के अर्थहीन और प्राणहीन लगती है । वह केवल हृदयहीन नारी की भाँति अंलकृत होकर मात्र हाव-भाव ही प्रदर्शित करती है ।

केदारनाथ के प्राण गाँव की माटी में ही बसते रहे हैं । इसीलिए इनकी कविता तभी सुहागिन होती है, जब अपनी माँग में लोक जीवन से ग्रहीत प्रतीकों और माथे पर बिम्बों को धारण करती है । इतना ही नहीं, इनकी कविता-कामिनी लोकजीवन के उपमानों के सुन्दर पुष्पों से अपने केश-पाश को अलंकृत कर उस पाश में सहृदय के मन को बाँधकर हठात्-अपने वश में कर लेती है । "आग का आईना" केदार का एक

महत्वपूर्ण प्रतीकात्मक काव्य है जिसकी अधिकांश रचानाएं आम आदमी की विवशता का यथार्थ चित्रण करती है —– "चरित्र सब चालते हैं / अपनी चलनी में/सोना निकालने के लिए/मिट्टी निकलती है मिट्टी/सोने के भाव न बिकी।"[11] इस कविता में 'चलनी' सोना और 'मिट्टी' तीन प्रतीक हैं। 'चलनी' मापदण्ड या परीक्षण-नियम की प्रतीक है । प्रत्येक व्यक्ति अपनी चलनी में अर्थात् अपने मापदण्ड से इसरों के चरित्र को मापते हैं । उनका जैसा मापदण्ड होगा वैसा ही उनकी दृष्टि में व्यक्ति का चरित्र होगा । सोना निकालने के लिए मिट्टी खोदी जाती है पर उस मिट्टी का क्या मूल्य ? मिट्टी यहाँ वह शोषित-दलित श्रमिक है जो पूँजीपतियों के लिए विलासिता की सामग्री जुटाता है और स्वयं मूल्यहीन जीवन जीता है ।

"कुत्ता कुत्ता है"[12] शीर्षक कविता में कुत्ता उन शोषक नेताओं का प्रतीक है जो गाँव या शहर में कहीं भी रहे, अपनी काली करतूतों से आम आदमी के हाथ की रोटी छीनता रहता है । ऐसे कुत्ते को मारना ही पाप है । इसे मारना ही व्यक्ति का स्वधर्म व कर्त्तव्य होना चाहिए । इस कुत्ते को बूँद-- जो आम आदमी की प्रतीक है--तब तक नहीं मार सकती जब तक वह एकत्रित होकर नद्, सरिता, सागर या जलधर नहीं बन जाती।[13]

प्रगतिशील कवियों ने अपने बिम्ब विधान में यथार्थ के अनुभव को प्रभावोत्पादक एवं अत्यन्त संवेदनशील चित्रों में प्रस्तुत किया है । इन बिम्बों में सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक यथार्थ के बहुआयामीय स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है जिससे उसका प्रभाव आम आदमी के मानस पटल को मथकर उसे सभी प्रकार की चुनौतियों को स्वीकार करने की क्षमता प्रदान कर सके। केदारनाथ के बिम्ब आम आदमी के संघर्षशील व्यक्तित्व को निखारने के लिए प्रस्तुत किये गये है- "मैंने उसको/जब-जब देखा/लोहा देखा/लोहा जैसे तपते देखा/गलते देखा/ढलते देखा/मैंने उसको/गोली जैसा चलते देखा।"[14] इस कविता में कवि के अनुसार ऐसी क्रियाशील नारी के स्वभाव का बिम्ब खींचा गया है।

जो एक ओर तो लोहे की भाँति कठोर हृदय वाली व क्रान्ति की आग को अपने में समाहित किये हुए है वही अन्यत्र अत्यन्त संवेदनशील दिखाई पड़ती है ।

विद्वान् पथ प्रदर्शक होता है और सूर्य अंधकार को दूर करता है किन्तु कवि की निराशा ने इनके अपकर्म को चिन्हित कर पूरे समाज की दुर्दशा को कम शब्दों में अभिव्यक्त किया है- "विद्वान अँधेरा/ढपोरशंखी सूर्य/दोनों हमारे हैं/और हम उनके सहारे हैं/थके हुए हैं/हारे हैं ।"[15] आम आदमी के लिए विद्वान अँधेरा बना हुआ है और सूर्य (देश का प्रधान) ढपोरशंखी बना केवल घोषणाएँ ही करता है, उसे पूरी नहीं करता है। ऐसी स्थिति में साधारण जनता के हाथ निराशा ही लगती है । इसी प्रकार का एक प्राकृतिक बिम्ब अत्यन्त हृदयस्पर्शी है --"मर्माहत है । प्रकृति बिगड़ी राजनीति से/उखड़े पड़े हैं/परार्थी पेड़/सूरज-चाँद-सितारों का मुँह जोहते/इंसान अब फिर रोपते हैं/ अपने और दूसरों को एक समान।"[16] बाढ़ ने सब कुछ ध्वस्त कर दिया है । इस बाढ़ का कारण गन्दी स्वार्थसाधिका राजनीति है । मनुष्य के कुकृत्य के कारण प्रकृति भी मर्माहत है ।

केदारनाथ के बिम्बों के समान ही लोक जीवन के उपमान इनके ग्राम्य जीवन और शोषित श्रमिकों के प्रति सच्चे प्रेम को प्रदर्शित करते हैं । दूध के बुल्ले के समान ("नीम के फूल/दूध की फुटकियों से झरे")[17] नीम के श्वेत और मुलायम पुष्प को कठोर भूमि पर झर कर बिखरते हुए देखकर कवि को यही प्रतीत होता है कि कोई दुखी व्यक्ति का प्यार से स्पर्श कर रहा है ।

कवि केदारनाथ ने औद्योगीकरण के प्रदूषण से दिन की दुर्दशा के चित्रण के लिए मर्मभेदी उपमान के माध्यम से मनुष्य की विवशता को अभिव्यक्त किया है- "दिन है कि हंस हलाहल पर । मंद मधुर तिर रहा है।"[18] विषैले धुँए से आकाश हलाहल के समान है और दिन नीर-क्षीर विवेकी हंस के समान जो सदा निर्मल वातावरण (मानसरोवर) में

रहता है-- विवश होकर आकाश में तिर रहा है । इसी भाँति दूसरी कविता "उदास दिन" में इन्होंने विषाक्त वातावरण वाले दिन के लिए अल्पवेतन भोगी चपरासी, जुए में हारे हुए व्यक्ति और आपे में खोये हुए गदहे को उपमान बनाया है । ऐसी विषम परिस्थिति में धूप परित्यक्ता के समान तथा माँ से बिछुड़े हुए बच्चे के समान कातर है ।[19]

कवि केदार के उपमान जितने लोक-जीवन से जुड़े हैं उतने ही संवेग से लोक-ध्वनियाँ उनकी कविताओं को प्रभावशालिनी बनाती हैं। उनकी कविताओं में लोक-ध्वनियों के शिल्प का सौन्दर्य अनेक भाव-भङ्गिमाओं के साथ अभिव्यक्त हुआ है । प्रकृति के सौन्दर्य को ही इनकी कविता ने नहीं निखारा है, वरन् उसकी अनबूझ-ध्वनियों को मूर्तिमान रूप दिया है । इन्होंने स्वतः कहा है-- "प्रकृति का मेरा निरूपण चित्रोपम निरूपण है । उसमे कलाकारिता है । शब्दों का सौन्दर्य है । ध्वनियों की धारा है । कहीं-कहीं क्लाराकीय अभिव्यक्ति है।बसन्ती हवा में अवश्य गति और बेग है ।"[20] केदार की धरती राधा बनी हुई है । यह फसल की "घाँघरिया" पहनकर और आसमान की ओढ़नी ओढ़कर नाच रही है और कृषक उसका "सँवरिया" बनकर नाच रहा है । मतवाली हवा की थाप पड़ने के कारण पेडों की 'ढुलकिया' बज रही है और पक्षियों के जी भर के फाग काटने के कारण राग की गगरिया रस को ढरका रही है ।[21] यहाँ कवि ने घँघरिया, सँवरिया, गगरिया, खबरिया और डगरिया आदि लोक-ध्वनियों में रागात्मक लय के समावेश के साथ कृषक की संवेदना को अभिव्यक्त किया है ।

केदार के कृषक बुन्देलखण्ड के हैं, जो खाली समय में गुड़गुड़-गुड़गुड़ शब्द करने वाले हुक्का से धुआँ उड़ाते रहते हैं । हुक्का पीते समय 'गुड़गुड़' की ध्वनि निकलती है। यह ध्वनि किसान के हृदय में जलने वाली आग और पानी की ध्वनि है जिसे हुक्का व्यञ्जित कर रहा है । केदार की 'चन्द्रगहना से लौटती बेर', 'बसन्ती हवा', 'हम चलते हैं फिर खेतों में' आदि अनेक कविताएं विभिन्न लोक-ध्वनियों व लोकलय में खेत-

खलिहान व कृषक जीवन को साकार करती सामान्य जन के हृदय को सहज ही आकृष्ट करती हैं ।

लोक-ध्वनियों के सम्पन्न कवि केदार ने लोक प्रचलित कहावतों और मुहावरों के द्वारा लोक संवेदना को इतनी गहराई प्रदान की है कि एक बार उसके रंग में डूबने के पश्चात कोई भी पाठक अपने को उससे असम्पृक्त नहीं रख सकता है। गाँव का महाजन 'गोबर-गनेश'[22] (अत्यन्त भद्दा) की भाँति आसन मार कर ग्रामीणों जनों का शोषण करता हुआ अपना धन बढ़ाता रहता है । ऐसे ही 'गोबर गनेश' स्वरूप गोबरों की काली करतूत के कारण श्रमिक वर्ग अपना "हाड़ बजाता" रहता है और उसका अपना दुःख उरो "नाच नचाता" रहता है ।[23] प्रतिदिन उस पर "गाज गिरती" (विपत्ति पड़ती) रहती है।[24] आम जनता की बड़ी रात (दुःख) काटे नहीं कटती है (दुःख दूर नहीं हो पाता है), इसीलिए केदार ऐसे कुशासन जिसे रामराज्य की संज्ञा दी जाती है- में "आग लगाने" (विनष्ट करने) के लिए तत्पर हैं ।[25] उन्हें ऐसे शोषकों का 'मुँह जोहना' (आस लगाये बैठे रहना) एकदम सह्य नहीं है वरन् ऐसे गधों की "पोल खोल देना"[26] (कुकृत्यों को सबके सामने रख देना) प्रिय है ।

केदारनाथ की सबसे बड़ी विशेषता है कि एक ही कविता में मुहावरों की लड़ी पिरो देते हैं । "कहे केदार खरी-खरी" संग्रह की इस कविता में कवि एक साथ कई मुहावरों का प्रयोग कर उस क्रूर शासन को धिक्कारता है जो कान में रूई डालकर नाक फुलाता और गाल बजाता हुआ देश के भीतर खून बहाता रहता है ।[27]

शोषितों का गला काटते रहने वाले तथा नित्य अपना पंजा पसारने वाले शोषकों को समूल नष्ट कर देने की इच्छा रखने वाले केदार अपनी लोकोक्तियों के माध्यम से आम आदमी के प्रति अपनी संवेदना को व्यक्त करते हैं । "यश-अपयश विधि हाथ" के भाग्यवादी सिद्धान्त के बल पर आम आदमी के ऊपर "हँस कर बिजुरी मारने वाले"

शोषकों को, जो दूसरों के लिए "मौत के कुएँ खोदते" रहते हैं- वे हथौड़ा मार-मार कर समाप्त कर देना चाहते हैं । जो शासन तन्त्र पूँजीवादी और एकतन्त्रात्मक जनतन्त्र को कायम रखना चाहता है वही "अपना सिक्का बराबर चलाना"[28] चाहता है । पहाड़ खोदने वाले श्रमिक जनता के हाथ में जो केवल चुहिया देकर जो अपने को गौरवशाली मानता है और जिसके राज्य में नहर ही पानी पी जाती है, ऐसे शासकों से श्रमिकों का सच्चा साथी केदार बार-बार यही कहता है- "नीचे नीचे नीचे उतरो/सिंहासन से नीचे उतरो / देखो नंगी भूखी रोती/व्याकुल मरती खपती जनता ।"[29]

कवि केदार गाँव में रहने वाली उन स्त्रियों को देखकर अत्यन्त द्रवित हो जाते हैं जो गन्दी कोठरियों में हाँफती और खाँसती हुई अपने भविष्य को निष्फल हाथों से गढ़ती है । बदले में जिन्हें मिलता है खाने के लिए सूखा पिसान, फिर भी वे "पीठ-पेट एक कर" तथा पत्थर रगड़ कर 'हाड़ तोड़ती हुई' मर जाती हैं ।[30]

आम जनता के कष्टों से दुःखी केदारनाथ ने शासन पर कड़े प्रहार किये हैं । पूँजीवादी शासक रूपी घड़ियाल घोड़े पर सवार होकर आँसू गिराता रहता है । इनका घोड़ा पट्टट पड़ा सोता रहता है।[31] इसीलिए कवि आम जनता को घोड़े व घड़ियाल को भगाने की प्रेरणा देकर हाथी हीन राजनीति को स्थापित करने को कहता है। कवि को विश्वास है कि पूँजीवादी शोषक शासक आम जनता को भले ही अस्तित्वविहीन कर देने की इच्छा रखते हों, और मौत के घाट उतारे गये आदमियों को देखकर भोड़ा अट्टहास करते हों, लेकिन जो श्रमिक वर्ग धूल चाटकर बड़ा हुआ है, तूफानों से लड़कर खड़ा हुआ है, जो सोना को खोदकर लोहे को मोड़ रहा हो, सूर्य के रथ का घोड़ा बना हुआ हो, जो जीवन की आग जलाकर आग बना हो जो अपने फौलादी पंजे को फैलाए हुए नाग बना हो और शासन को तोड़ रहा हो वह कभी मर नहीं सकता है,[32] वरन् एक दिन आम जनता ही अपना भाग्य निर्धारित करेगी ।

अनादिकाल से प्राकृतिक और मानवीय चेतना-सृष्टि का क्रम चलता आ रहा है । प्राकृतिक सृष्टि स्वतः प्रक्रिया है अथवा ईश्वर या किसी परम महत् शक्ति की चेतना का परिणाम है जो दृश्य होते हुए भी अदृश्य है, और विविध रूपों में गम्य होकर भी अगम्य है । चेतना सृष्टि मानवीय है । इस सृष्टि की परिणति वैज्ञानिक और यथार्थमूलक है । यह पुरातन सिद्धान्तों को गाँठ में बाँधकर नहीं चलती है वरन उसकी ग्रन्थियों को खोलती हुई सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तथ्यों का साक्षात्कार वैज्ञानिक रीति से करती है ।

साहित्य और कला की सृष्टि चेतनात्मक है । वह अतीत के बीज से भले ही अंकुरित है किन्तु उसके रूप-रंग और प्रभाव में नवीनता रहती है । सजग कवि चेतना के विकास पथ पर चलता हुआ अतीत की ओर मुड़कर मात्र देख लेता है। वह जहाँ से चला रहता है वहाँ नहीं लौटता है, वरन् उसका लक्ष्य बढ़ता ही जाता है । सम्भवतः भविष्य में भी कलाकार और साहित्य का लक्ष्य और बढ़ता ही जायेगा । यह प्रगति उस अनन्त सत्ता की कला के भीतर प्रवेश करने का प्रयास मात्र है ।

कवि केदारनाथ भी नवीन सर्जना के कवि हैं । उनकी कविता की सृष्टि विवेकपूर्ण आदर्शोन्मुख चरित्र की सोपान-परम्परा है । इस परम्परा में सामाजिक दायित्व का वहन और सामाजिक जीवन में सुरूचिपूर्ण सौन्दर्य स्थापना का सामञ्जस्य है । ये प्राकृत सृष्टि के समकक्ष मानवीय सृष्टि को नहीं रखना चाहते हैं ।[33] इसीलिए इन्होंने अपनी भाषा के स्वरूप को नया रूप प्रदान किया है । सत्य को स्थापित करने वाली इनकी भाषा अन्य कवियों से इन्हें पृथक खड़ा करती है । कवि केदार न्यायालय में खड़े होकर सदा न्याय के लिए वकालत करते रहे हैं । यही प्रभाव इनकी कविता की भाषा में है । इस भाषा में सत्य का सूर्य सदा चमकता रहता है । केदारनाथ आम जनता के दुःख दर्द को उन्हीं की भाषा में जिस सरलता से उपस्थित करते हैं, वह अत्यन्त आश्चर्यकारी है -

सुख ना कटै/करम ना फूलै/अन्न अकाल दुआरे झूलै ।

मारे पेट करेजा हूलै/ऐसि राज ना हमको भूलै ।[34]

आम जनता का सुख फर नहीं रहा है और न करम फूल रहा है 'फरै और फूलै' सकर्मक है किन्तु इसे क्रिया बनाकर कवि ने सुख और कर्म को क्रियाशीलता प्रदान की है । सुख भोज्य है, इसलिए उसे फलना चाहिए पर नहीं फलता है गरीबों के लिए। काम साधन है इसलिए वह फूल है । फूल के बाद ही फल लगता है। लेकिन जिस दीन दुःखी के कठोर कर्म में फूल ही नहीं लग रहा उससे फल प्राप्ति की आशा कैसे की जा सकती है ? 'पेट मारना' एक मुहावरा है अर्थात् आम आदमी को भूख से तड़पाना शासन के लिए भले क्रीड़ा हो किन्तु गरीब के लिए कलेजा को विदीर्ण कर देना है । कवि आम जनता के स्वर में स्पष्ट व्यंग्य करता है कि ऐसे क्रूर राज्य को क्या जनता कभी भूल सकती है? अर्थात् उसे माफ नहीं कर सकती है और अवसर आने पर उससे अवश्य ही बदला लेती है ।

कवि केदारनाथ प्रतीक बिम्बों व उपमानों के माध्यम से कविता की संवेदनशीलता को अद्वितीय बना देते हैं । धन-रहित शोषित श्रमिक का जीवन छूँछे (खाली) घड़े के तुल्य है । उसने अपना सर्वस्व देकर पेड़-पौधो (पूँजीपतियों) को सींच-सींचकर बड़ा किया है । आज उसे न कोई हाथ लगा रहा है न अङ्क में रख रहा है और न शीश पर ही चढ़ा रहा है । उसके सारे स्वप्न धूल में मिल गये हैं।[35] एक ही कविता में प्रतीक और मुहावरों के प्रयोग ने शोषित जनों के जीवन के कटु और मर्मभेदी यथार्थ को उपस्थित कर कविता को अन्तहीन संवेदनशील जीवन प्रदान किया है । मौत से बार-बार युद्धकर उसे पराजित कर देने वाले केदारनाथ उस भीड़ से अत्यन्त दुःखी हैं जो अपनी वेदना को अन्तःस्थल में छिपाये हुए अपनी जान को जोखिम से बचाते हुए तथा काटते हुए जूतों के समान कष्ट देने वाले दुष्ट शासकों से परेशान होते हुए भी संघर्ष नहीं करते हैं, वरन् दर्द की बहरी सड़क पर अन्तहीन यात्रा का अन्त खोजते रहते हैं और पास आयी मौतों

को देवी–देवताओं की मनौतियों से रोकने का प्रयास करते हैं।[36] 'काटते हुए जूते' जैसे नवीन उपमानों ने इनकी कविता को जन–जन की कविता बना दिया है जिसकी अनुभूति आम जनता को अधिक होती है क्योंकि उसके पास अपने गतिशील पैरों की सुरक्षा का काटते हुए जूते के अलावा और कोई विकल्प नहीं है ।

कवि केदारनाथ की कविताओं में लोकगीतात्मक लय है, ताल और छन्द है। वस्तुतः इन्होंने प्रकृति की ध्वनियों के अर्थ और रूप को ठीक–ठीक समझकर अपनी कविता का विषय बनाया है । इनकी 'उदास दिन' कविता इनका अपना उदास हृदय है जो दुःखी जनों के ऊपर ढहाये जाने वाले विघ्नों से उदास हैं । इनका एक बित्ता का चना अपना ही एक अल्प प्रमाण वाला उत्साह है जो सिर पर मुरैठा बाँधकर अन्याय से लड़ने के लिए मानों खड़ा है । गेहूँ का पौधा उनका अपना लहलहाता हुआ पौरूष है जो नुकीले भालों से किसानों पर ढाये जाने वाले जुल्मों से युद्ध करने के लिए कमर कस कर खड़ा है ।[37]

परम्परा से भिन्न मार्ग पर चलते हुए इन्होंने स्वकीया प्रेम का जो संगीतात्मक रूप प्रदर्शित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है । इन्होंने युवती से विवाह नहीं किया था वरन् प्रेम से किया है । इनका यह प्रेम महाकवि भवभूति का आदर्श-मूलक प्रेम है जो उत्तरोत्तर आनन्दात्मक परिपाक को प्राप्त होकर एक दूसरे के लिए अपने को समर्पित करता है । जो कवि धरती की ममता के बल पर आकाश में चमकते हुए सूरज से, जीवन की प्रभुता के बल पर अंधकार के द्रोह में शेषनाग से और अपनी अजर अमर कविता के बल पर मृत्युञ्जय के गोद में महाकाल से आँख लड़ा सकता है, उसी कवि की कविता का पानी निराकुल बह सकता है, उसके हृदय का कठोरत्व रूप पत्थर अतल में डूबा रह सकता है, क्षण–क्षण नूतन चिन्तन कर सकता है, आम आदमी के लिए खुला हुआ दिग्पट अशेषत: खुला रख सकता है और आद्यन्त दिग्भ्रम निराला रह सकता है ।[38]

त्रिलोचन की कविता की भाषा में लोक-संवेदना :-

त्रिलोचन की कविताएँ लोकभाषा के बीज से अङ्कुरित होकर पल्लवित एवं पुष्पित हुई हैं । इनकी भाषा पहेली नहीं है वरन् सरल व सहज है । भाषा का जीवन से चोली-दामन का सम्बन्ध होता है । इसीलिए भाषा के साथ की गयी क्रीड़ा आह्लादिनी नहीं होती है।[1] त्रिलोचन की कविताएँ जन-साधारण की भाषा में उपस्थित होकर आम आदमी के हृदय में प्रवेश कर वहीं समाधि ले लेती हैं । घुमन्तू कवि त्रिलोचन की कविताओं को पूँजीपति खरीद नहीं सके , धर्मशास्त्री अपने खारे समुद्र में डुबो नहीं सके और न साहित्यिक नियम अलङ्कारों की श्रृंखला में बाँध सके थे।[2] आम जनता की बोली में अपनी कविता को रूपान्तरित करने वाले त्रिलोचन ही कह सकते हैं कि- "गालिब गैर नहीं है, अपनों से अपने हैं / गालिब की बोली है आज हमारी बोली । है नवीन आँखों में नवीन सपने ।"[3]

त्रिलोचन मूलतः अवध क्षेत्र के हैं। इसलिए इनकी कविताओं में अवधी भाषा का सुन्दर संयोजन है । चाहे 'सानेट' हो या गीत हो या छन्द रहित कविताएँ हों, सब में लोकभाषा के शब्द सम्पूर्ण कविता को उसी प्रकार आह्लादक बना देते हैं जैसे किसी पात्र के जल में डाला हुआ गङ्गा का एक बूँद जल सबको पवित्र बना देता है । अवधी भाषा में लिखा गया इनका बरवै छन्द वस्तुतः 'धरती' के सौरभ को 'शब्द' के माध्यम से 'अनकही' कहानी बनाकर दिग-दिगन्त तक फैलाता रहता है । जीवन के ऊबड़-खाबड़ पैंड़ा (पगडण्डी) पर चलने वाले कवि त्रिलोचन ने (आनई आने अपन रूप मुलान लखसिन पएंडा केस-केस फूल फुलान) छोटे-छोटे मार्ग के फूल-कुश काँटों को अच्छी तरह से देखा है । वे उसे अपनी कविताओं में कैसे भूल सकते हैं। ढाक के पत्तों (उपेक्षित जनों की भाषा) को थाती (कविता) की मर्यादा देने वाले कवि त्रिलोचन[4] सीधी भाषा में बोलते हैं ।

त्रिलोचन ने अपनी रचनाओं को लोक भाषा के प्रचलित शब्दों के प्रयोग से सर्वग्राह्य बना दिया है । माटी और मड़ई (घास फूस का बना हुआ छोटा सा घर) में घुरियान (धूल धूसरित) रहने वाला कवि का जिउ (हृदय) जिधर भी अँजोर (प्रकाश) देखता है, खुरियाने (बछड़ा जन्म लेते समय पहले अगले दोनों खुर और मुँह को निकाल देता है) लगता है।[5] त्रिलोचन का दीन-जन केकुरी मारकर (घुटनों को पेट में रखकर दोनों हाथों से घुटने को दबाये रखना) जाड़ा बिताते हुए धँधोर (जलती हुई आग) तापने वाले (पूँजीपतियों) को चुनौती देते रहते हैं।[6] किसी भी दलित मनुष्य के जीवन का मोल (मूल्य) कूटना (लगाना) सहज नही है ("इस जीवन का मोल बहुत है । मोल कूटना सहज नहीं है"[7]) किन्तु इसका सदा अपमान होता रहता है । त्रिलोचन की ग्राम्या चम्पा भले ही काले 'अच्छर' को नहीं 'चीन्हती' (पहचानती) है ("चम्पा काले-काले अच्छर नहीं चीन्हती") किन्तु अपने जीवन के सर्वस्व 'बालम' (पति) को अपने आँचल में बाँधकर रखना चाहती है ("मैं अपने बालम को संग साथ रखूँगी । कलकत्ते में कभी न जाने दूँगी। कलकत्ते पर वजर गिरे")[8]।

कवि त्रिलोचन ने लोक भाषा के शब्दों जैसे- ग्वैड़े[9] (गौइड़= घर के पास का खेत जो अधिक उपजाऊ होता है), थेथर (निर्लज्ज), हरहा (अनुशासनहीन), पलिहर (बिना बोयी हुई भूमि), नोना (नमकीन मिट्टी), धुँधनी (घुघरी), कोल्हाड़[10] (जहाँ ईख की पेराई होती होकर गुड़ बनता है), इनार (कुआँ), बकैया (घुटने के बल चलना) मड़ई,[11] काढ़ा,[12] झापस, जेवरी, उबहनी, जोत- आदि का जैसा सटीक प्रयोग किया वैसा अन्यत्र नहीं मिलता है । त्रिलोचन की कविता में धरती की मनमोहक गंध है जो गेहूँ, जौ, सरसों जलकुम्भी, पुरइन, पाकड़, दुपहरिया, पीपल आदि को जीवन प्रदान करती रहती है । त्रिलोचन ने एक ही पंक्ति में तत्सम् और लोकभाषा के शब्दों का बड़ा ही मनोरम प्रयोग किया है- "चलता रहा तब तक फरियाई (स्पष्ट होना) प्राची/नस-नस राची/जान-पड़ी,

आर्द्रता आ गयी थी कूनों में ।"[13]

त्रिलोचन ने अपनी कविताओं में लोक उपमानों के माध्यम से जीवन के रहस्यात्मक जगत् को बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त किया है। ठूँठ सा जीवन व्यतीत करने वाले-(रहा ठूँठ सा अकेला/मित्र बनाये नहीं भला इस नादानी का)[14] त्रिलोचन की कामना जब भी पीपल के पत्ते के समान मुँह खोलती थी तब लू का तमाचा चटाक से लग जाता है ("पीपल के पत्ते ने ज्यों मुँह खोला-खोला/त्यों चटाक से लगा तमाचा आकर लू का")[15] वस्तुतः साँवली घटाओं के समान दीन-दुखियों की इच्छाओं के इन्द्रधनुष बन-बनकर मिटते रहते हैं । उनके पैरों के आस-पास बस कीचड़ ही कीचड़ रहता है- (इन्द्रधनुष कितने/इच्छाओं के/बन कर मिटते हैं/साँवली घटाओं के/कीचड़ ही पैरों के आसपास होता है)।[16] त्रिलोचन जब मजदूर की नौकरी के लिए आररडाल[17](जो थोड़े से आघात से टूट जाती है) के उपमान को सम्मान देते हैं तब यही ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण दुःखी मानव के दुःख को वे अपने में समेटने के लिए तत्पर रहते हैं । वस्तुतः दुःखी जनों के सुख के दिन हंस के समान उड़ जाते हैं । उसके पास कोयल सी श्यामा सी केवल निविड़ रात्रि मौन भाव से रहती है।[18] कवि त्रिलोचन यह जानते हैं कि सरसों के फूल सी छा जाने वाली सुन्दरता उसी फूल के समान नष्ट हो जाती है- "सुन्दरता छायी है सरसों के फूल सी - श्री झर जायेगी सरसों के फूल सी।"[19] इसीलिए वे चाहते हैं कि जैसे वायु जननी के समान सभी चराचर को समान भाव से अनचाहे स्नेह प्रदान करती है उसी प्रकार मनुष्य को सभी के साथ एक समान व्यवहार करना चाहिए-("किन्तु वायु जननी सी स्नेहमयी प्राणमयी/सौ-सौ कोमल लहरों से छू-छू कर/कहती सी है जैसे मौन मधुर-)"[20] और प्रज्वलित दीप ज्वाला की भाँति ऊपर की ओर बढ़ते हुए साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और व्यक्तिवाद को नष्ट कर साम्यवाद की स्थापना करनी चाहिए ("तुम पढ़ो जिस तरह दीप्त प्रज्जवल")

त्रिलोचन गाँव की माटी से उपजे कवि हैं । इसलिए इनके उपमानों में उसी माटी का सौरभ है । किसी भी व्यक्ति की व्यथा उसके धैर्य को धीरे-धीरे उसी प्रकार नष्ट कर देती है जैसे नोना (नमकीन मिट्टी) दीवालों को खा जाती है ।

त्रिलोचन के बिम्ब विधान परम्परावादी होते हुए भी नवीन कल्पनाओं के रंगो से चित्रित होने के कारण अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं ।[21] कबीर, सूर, तुलसी की परम्परा की याद दिलाने वाले उनके बिम्ब कथन के प्रवाह में स्वयमेव निर्मित होते चलते हैं, आयासपूर्वक अलग से थोपे गये नहीं लगते हैं ।

लोकमाटी से सजे-संवरे त्रिलोचन के प्रतीक बड़े प्रभावशाली हैं । "सबका अपना आकाश" संग्रह का यह गीत पतझर के माध्यम से नवीन उन्मेष का स्वागत करते हुए नये रूप में जीवन जीने का आह्वान कर रहा है - यह नया पतझर, रहे झर/वे पुराने भाव वे स्वर/मिट रहे वे चित्र धन के/रवि गया जिनको विरचकर/रात में जो स्वप्न देखा/पुष्ट जिसकी भाव रेखा/जा रही है रात तुमको मूर्ति है अपनी बनानी ।[22] त्रिलोचन 'दीप' प्रतीक के माध्यम से बार-बार रात्रि (दीन दुखियों के दुःख) को दूर करने की प्रेरणा देते रहते हैं- "आ गयी है रात, उठो दीप जला दो।"[23] "दीप जलाओ/इस जीवन में रह न जाय मल.. गृह गृह की लक्ष्मी मुस्काओ ।"[24] "सो गया था दीप मैंने फिर जगाया।"[25]

त्रिलोचन ने 'काठ की हाड़ी' प्रतीक के द्वारा भ्रष्टाचार और अन्याय से प्राप्त भोग के सर्वनाश को बहुत सहज ढंग से अभिव्यक्त किया है -

"चढ़ती नहीं दुबारा कभी काठ की हाड़ी
एक बार में उसका सब कुछ हो जाता ।
चमक बढ़ाती और कड़ा रखती है माँड़ी
कपड़े में जब पानी उसको धो जाता है ।"[26]

जिन दीन हीन जनों के जीवन में कभी नया बसन्त (सुख के दिन) न आया हो, सर्वदा लू की लपट चलती रही हो और धूल उड़ रही हो ("नया बसन्त और आया कब याद नहीं है/ अब तो धूल उड़ा करती है, लू की लपट यही है"),[27] जहाँ नगई महरा (मेहनतकश मजदूर) पेट भरने के लिए कुछ भी करने को मजबूर हों,[28] जहाँ मन की चुनी चाह कभी फलती ही दिखाई न पड़ती हो, ("मन की चुनी चाह फलती कहाँ है")[29] फिर भी जो बरगद[30] (पूँजीवाद, पराश्रय) को उखाड़ फेंकने के लिए तत्पर रहते हैं-त्रिलोचन ऐसे ही जन के कवि हैं।

त्रिलोचन की कविताओं में मिलने वाले मुहावरों व लोकोक्तियों ने उन्हें लोक जीवन का अप्रतिम कवि बना दिया है। वे अन्याय की मक्खी देखकर लीलने वाले व्यक्ति नहीं हैं ("देखते हुए मक्खी लीलते नहीं बनता")[31] विपन्न अवस्था में रहते हुए भी इन्होंने किसी को तेल लगाकर (चापलूसी कर) ("बात नहीं है इसमें केवल तेल लगाना")[32] अपना कार्य नहीं साधा क्योंकि "चार दिनों की चाँदनी"[33] में जीना उन्हें पसन्द न था। अपनी बात कहने के लिए उनका पेट कभी भी नहीं फूलता है[34] और न ही वे येन केन प्रकारेण अपना झण्डा फहराना चाहते हैं।[35] मानवता के पुजारी कवि त्रिलोचन ने किसी को उल्लू बनाकर (मूर्ख बनाकर) उसके माल को चापने का कभी प्रयास नहीं किया और न ही कभी "ऊँट के व्याह-में गधे का गीत" गाया - "चापो माल बनाओ उल्लू मौज से जीओ"। ऊँट के ब्याह में गधों की रीति नवाहें चले चलो।"[36] काले धन (पाप की कमाई) से पानी (प्रतिष्ठा) चाहने वालों से त्रिलोचन को घृणा है।[37] 'अपनी गोटी देखने वाले' (अपनी ही भलाई सोचने वाले) जन इस संसार में सुखी रहते हैं। किन्तु त्रिलोचन सिर्फ अपना लेखा-जोखा कभी नहीं रखते हैं। इन्हें अपना ढोल बजाना (प्रशंसा करना) प्रिय नहीं है। ये हाथ पर हाथ रखकर बैठने वाले[38] (निठल्ला बैठे रहना) कवि नहीं है वरन् जीवन की नावों को तरंगों में खेते रहते हैं[39] (संघर्ष करते रहना)। इस संसार में सबको

अपनी हाय-हाय (चिन्ता) है किन्तु कवि त्रिलोचन की आँखे देखती है कि जनता रूपी दिलीप की गाय (नन्दिनी) पर दुःख रूपी सिंह नें आक्रमण कर दिया है । इसीलिए ये जन-जन के दुःख को बाँटने के लिए व्याकुल रहते हैं ।[40]

त्रिलोचन की कविताओं की आत्मा उसकी 'लोकध्वनि' है । कर्म पथ पर निरन्तर चलने वाले इस कवि ने ठीक ही कहा है कि बैठे रहने से मञ्ज़िल की प्राप्ति नहीं हो सकती है-

बइठे-बइठे मञ्ज़िल नाइ नगिचात

रेले आर जहाजे दूसरि बाति"[41]

'बइठे-बइठे' लोक ध्वनि अति आलस्य को द्योतित कर रही है । 'नगिचात'ध्वनि प्राप्ति की ओर बढ़ने को अभिव्यक्त करती है। त्रिलोचन के गीतों में लोक-ध्वनि की अजीब सङ्गति है । "जो उठाई है ध्वजा झुकने न देना" के तुक के लिए इन्होनें 'लुकने न देना' ("जो जगाई शक्ति है लुकने न देना...जो लगाई लौ कभी चुकने न देना")[42] और चुकने न देना ध्वनियों के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि क्रान्ति का ध्वज कभी झुके नहीं, विपत्तियों के कारण कहीं लुके (छिपे) नहीं और वह कभी चुकने (दीपक के तेल की भाँति समाप्त) न पावे|इसी प्रकार एक अन्य कविता में - "व्यूह बनते हैं दलों के एक दल चुनना पडेगा,--एक अपहर्त्ता अपर कर्त्ता तुम्हें गुनना पड़ेगा--सोच लो जो बीज बोओगे तुम्हें लुनना पड़ेगा"[43]--'चुनना' ध्वनि को प्रभावशाली बनाने के लिए 'गुनना' व 'लुनना' दो लोक-ध्वनियों का सार्थक प्रयोग किया है । 'गुनना' ध्वनि अर्थ की गम्भीरता को अभिव्यक्त करने के लिए चिन्तन की सघनता को द्योतित करती है । 'लुनना' जीवन के 'कर्म-फल' के यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करती है| त्रिलोचन की एक कविता में लोक-ध्वनि के प्रयोग की अर्थ गम्भीरता देखने लायक है —

"गाला अलबेला चरवाहा/चौपायों को साथ सँभाले/

पार कर रहा है वह वाहा/गये साथ तो व्याह हुआ है

अभी-अभी बस जुआ छुआ है ।"[44]

'चरवाहा' पशुओं को चराने वाले को कहते हैं। 'चरवाहा' ध्वनि को प्रभावी बनाने के लिए त्रिलोचन ने 'बाहा' लोक-ध्वनि का प्रयोग किया हैं । 'बाहा' चौड़े नाले को कहते हैं। 'बाहा' में पशुओं के और स्वयं के बह जाने की आशंका बनी रहती है । इसलिए 'चरवाहा' जिन्दगी के बाहा को सँभाल-सॅभाल कर पार कर रहा है । सँभालने की सार्थकता इसलिए है कि अभी-अभी उसका व्याह हुआ है । त्रिलोचन की "अभी-अभी बस जुआ छुआ है"लोक-ध्वनि अत्यन्त मार्मिक है । जब खेत जोतने के लिए बछड़े के कंधे पर जुआ रखा जाता है तब उसे 'जुआ छूना' कहते हैं । त्रिलोचन का चरवाहा भी अभी नवयुवक है । उसके कन्धे पर नूतन पत्नी का जुआ रखा गया है । व्याह में व्यक्ति का उल्लास अभिव्यक्त होता है किन्तु बछड़ा जुआ नहीं चाहता है । दो विरोधी भावों की संगति ने कविता को मार्मिक बना दिया है ।

शेक्सपीअर की भाँति चुनौती को स्वीकार करने वाले त्रिलोचन ने अपने 'सॉनेटों'[45] में 'लोक-ध्वनियों' का बहुत ही हृदयस्पर्शी प्रयोग किया है--"लेकिन मेरा कदम किसी दिन कहीं न अटका-/घोर घटा हो, वर्षा हो, तूफान अँधेरी, रात हो, अगर चलते-चलते भूला-भटका/तो इससे मेरे संकल्पों को कुछ झटका/लगा नहीं, जो गिरता पड़ता आगे बढ़ता/है, करता कर्त्तव्य है, उसे किसका खटका,/ पग-पग गिन कर पर्वत श्रङ्गों पर हूँ बढ़ता ।"[46] 'अटका' (फँसकर रूक जाना) 'झटका' (किसी चीज से आघात लगना),'खटका' (चिन्ता) आदि लोक-ध्वनियों का सुन्दर प्रयोग कर कवि ने विपत्तियों में भी विचलित न होने वाली अपनी कर्त्तव्य निष्ठा की दृढ़ता को अभिव्यक्त किया है ।

वस्तुतः त्रिलोचन आधुनिक युग के प्राचीन कवि हैं जिनकी कविता में कबीर, तुलसी, निराला जैसे कवि सम्राटों की शाश्वत सुरभि है और प्रेमचन्द तथा गाँधी का

भारत समाहित है । मर्मस्पर्शी सूक्तियों के प्रणेता त्रिलोचन की कविता की क्लासिकी मर्यादा और उनमें व्याप्त लोक संवेदना की सहजता उन्हें 'साधारण जीवन का असाधारण कवि' सिद्ध करती है । वास्तव में अपनी विशेषताओं के कारण ही त्रिलोचन कहाँ नहीं हैं।

धूमिल की कविता की भाषा में लोक-संवेदना :-

नये बदले हुए कथ्य के अनुरूप भाषा में बदलाव आवश्यक हो जाता है । अन्यथा भाव व भाषा का सम्बन्ध अटपटा दिखाई पड़ता है तथा वह (भाषा) अपने कथ्य के सम्प्रेषण में भी सफल नहीं हो पाती । इस दृष्टि से कवि धूमिल की कविता पर जब दृष्टि डालते हैं तो उनकी भाषा सर्वत्र कथ्य के अनुरूप दिखाई पड़ती है । आम आदमी के जीवन से जुड़े खुरदुरे व कटु-सत्यों को अभिव्यक्त करने के लिए धूमिल ने भाषा को आक्रामक तेवर दिये हैं । धूमिल ने अपनी काव्य-भाषा के विद्रोही रूख के द्वारा पूर्ववर्ती काव्य भाषा के कोमल स्वरूप नकारकर, अपनी भाषा को वह मजबूती प्रदान की, जिसे उनके बाद के कवियों ने बहुत कुछ अपनाते हुए स्वीकार किया ।

कवि धूमिल ने जिस काव्य भाषा को अपनाया, वह समसामयिक परिस्थतियों से सीधे साक्षात्कार से उत्पन्न हुई थी। वह (परम्परागत) पूर्ववर्ती कविता की भाषा से काफी भिन्न है । अपने पूर्ववर्ती कवियों के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा कि वे शब्दों को 'गोलकर' रखते हैं जबकि वह स्वयं उन्हें 'खोलकर' पाठक के सामने रखते है।[1] जो भाषा बिम्ब, प्रतीक से बोझिल थी, जटिल शब्दों से आकान्त थी, जिसमें बोलचाल के शब्द ढूढ़ने पर मिलते थे, उस भाषा को कवि धूमिल के ठेठ गँवई-शब्दों, आम-प्रचलित मुहावरों, ग्रामीण जीवन से लिए गये बिम्बों व प्रतीकों ने आमूल बदलकर रख दिया । डॉ० परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में--"धूमिल के बारे में यह कहना अतिरंजना नहीं माना जायेगा कि उन्होंने अपने समय को शब्द दिये । पहले से प्राप्त मुहावरे में भाषा या

काव्य भाषा में इतना बड़ा परिवर्तन लाने के लिए केवल साहस नहीं, नया काव्यात्मक विवेक भी अपेक्षित है ।"[2]

काव्य भाषा में यह परिवर्तन उन्होंने मात्र परिवर्तन के नाम पर नहीं किया, वरन् अपनी बात को आम आदमी तक सरलता से पहुँचाने के लिए किया । उनकी दृष्टि में यदि भाषा कविता के सम्प्रेषण में बाधक बनती है तो वह कविता निरर्थक सी प्रतीत होती है । अतः सहज शब्दों में व्यक्त कथ्य कविता को सम्प्रेषणीय बनाकर उसे सार्थकता प्रदान करता है । उनके शब्दों में--"आज महत्व शिल्प का नहीं कथ्य का है । सवाल यह नहीं कि आपने किस तरह कहा है, सवाल यह है कि आपने क्या कहा? इसके लिए आदमी की जरूरतों के बीच की भाषा का चुनाव करना और राजनैतिक हलचलों के प्रति सजग दृष्टिकोण रखना अत्यन्त आवश्यक है।"[3]आम आदमी की जिन्दगी की जटिलताओं को अपना कथ्य बनाने वाला कवि धूमिल आम बोलचाल की भाषा में अपनी अनुभूतियों व संवेदनाओं को व्यक्त करता है ।

कविता का नाम सुनते ही पाठक के मन में एक पूर्व-निर्धारित धारणा बन जाती है कि कविता की भाषा तो जटिल व संश्लिष्ट होती है । कवि धूमिल के शब्दों में--"इस सन्दर्भ में पहला काम कविता को भाषा हीन करना है"।[4] इस पंक्ति से उनका आशय अस्पष्ट व कृत्रिम कलात्मकता से 'भाषा की मुक्ति' है जो कथ्य को पाठक तक पहुँचने में जटिलता उत्पन्न करती है । वे चाहते थे कि कविता की भाषा किसी सैद्धान्तिक चौखटे में न बँधकर स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्ति का माध्यम बनें । कवि धूमिल आम जनता की भाषा में ही उनकी आवाज जन-जन तक पहुँचाने का आह्वान करते हुए कहते हैं-

"ओ देश के पोर-पोर में दुखते हुए गूँगे जुनून ।

क्रोध की अकेली मुद्रा में/उफनते हुए सात्त्विक खून/

आ, बाहर आ,/मैं एक अदना कवि-तेरी भाषा का

मुँहताज/मुझे अपनी बोली में शरीक कर।''[5]

धूमिल की काव्य भाषा पर विचार करते हुए जिस बिन्दु पर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है वह बिन्दु है -- 'धूमिल द्वारा अपनी कविताओं में आम आदमी की भाषा प्रयुक्त करने की ललक।' "धूमिल कविता को भाषिक आभिजात्य से मुक्त करना चाहते थे। अतः उन्होंने आम प्रचलित शब्दों को चुना है। वे जब भी बातचीत के दौरान कोई प्रभावी शब्द या कोई उक्ति सुनते तुरन्त उसे नोटकर अपनी कविता में जरूरत के अनुसार रख देते, ताकि उनकी कविता पाठक को प्रभावित कर सके।''[6]

कवि धूमिल मूलतः किसान थे। अतः उनकी भाषा किसानी जीवन संस्कारों की ही उपज है। ''इसी किसानी दृष्टि के द्वारा धूमिल ने हिन्दी कविता को एक जीवन्त नई भाषा दी, केवल शब्द नहीं, बल्कि वाक्य-विन्यास और बात-चीत का लबो-लहजा भी, जिसे 'मोचीराम' की बातचीत और 'कवि १६७०' के कथोपकथन में साफ देखा जा सकता है।''[7]

उनके कथोपकथन कविता व पाठक के बीच की दीवार को गिरा कर उन्हें आमने-सामने लाते हैं। कथोपकथनों की सहजता द्वारा ही यह सम्भव हो सका है। एक उदाहरण 'मोचीराम' कविता से --

''बाबूजी! सच कहूँ-मेरी निगाह में/न कोई छोटा है/न कोई बड़ा/मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है/जो मेरे सामने/मरम्मत के लिए खड़ा है।''[8]

अपने गाँव 'खेवली' के अलावा शहरी आम आदमी के बीच कवि धूमिल प्रसिद्ध हैं। इसका कारण यह है कि उनके शब्द, बिम्ब, प्रतीक, मुहावरों व सूक्तियाँ आदि इन्हीं वर्गों (जिसका सम्बन्ध गाँव से जुड़ा हुआ है) के दैनिक जीवन की बोलचाल की भाषा के बीच से चुने गये हैं, जिसमें सर्वत्र सहजता व आत्मीयता दिखाई पड़ती है, बनावटी पन कहीं नहीं। कवि धूमिल ने अपनी अनेक कविताओं में व 'कविता पर एक वक्तव्य'

शीर्षक निबन्ध में काव्य भाषा पर विचार किया है । 'संसद से सड़क तक' काव्य संग्रह की पहली कविता में ही उन्होंने सांकेतिक व अस्पष्ट कलात्मकता से बोझिल व संश्लिष्ट कविता को अनुपयुक्त मानते हुए कहा---

"नहीं--अब वहाँ कोई अर्थ खोजना व्यर्थ है

पेशेवर भाषा के तस्कर-संकेतों

और बैलमुत्ती इबारतों में

अर्थ खोजना व्यर्थ है।"[9]

कविता उनके लिए सिर्फ 'शब्दों की विसात' नहीं बस 'वाणी की आँख' है।[10] उनकी यह दृष्टि काव्य भाषा को एक नयी अर्थवत्ता देती है । भाषा का सौन्दर्य व चमत्कार उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं है वरन् वह किस हद तक अपनी अनुभवगत सच्चाई से पाठक को प्रभावित कर रही है-यह उनके लिए विशेष महत्वपूर्ण है ।

कविता पर एक वक्तव्य[11] शीर्षक निबन्ध में उन्होंने कहा कि समकालीन यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्दों की 'तलाश' आवश्यक है । यह तलाश उन्हें आम-आदमी की रोजमर्रा की जिन्दगी के करीब ले गयी, जहाँ से उन्होंने- सीवान, मदरसा, दरकी जमीन, जंगल, कुआँ, पोटली, आंगड़-बांगड़, पुतड़ा, पतरमुँही, फाल, गड़सा, खुरपी, कुदाल, बतकहीं, करछुल, बटलोही, रांपी, चकत्ती, अइशा, मूठ, कमजात, खटवाता, विसूरता-आदि अनेकानेक शब्दों को अपनी कविताओं के लिए चुना ।

उनकी 'किस्सा जनतन्त्र' कविता में आये करछुल, बटलोही, चिमटा, तवा आदि सहज शब्दों से व्यक्त होता अभावग्रस्त जीवन कवि धूमिल की निर्धन गृहस्थ जीवन में पैठ को दर्शाता हैं । उनकी यह मर्मस्पर्शी कविता भाषिक सहजता व सम्पन्नता की दृष्टि से अत्यन्त प्रभावी हैं।

"करछुल/बटलोही से बतियाती है और चिमटा

तवे से मचलता है/चूल्हा कुछ नहीं बोलता/

चुपचाप जलता है और जलता रहता है

x x x x x

कुल रोटी तीन/पहले उसे थाली खाती है/

फिर वह रोटी खाता है ।"[12]

डॉ० विद्या निवास मिश्र के अनुसार --"गरीबों के चित्र गैर गरीब लोंगों ने खीचें है, गरीबी में झिलने वाले लोगों ने खीचें हैं, पर गरीबी की भाषिक सम्पन्नता में जीने वाले शायद अकेले धूमिल हैं, जिनकी 'करछुल बटलोही से बतियाती हैं,' (क्योकि बात बात है, वहाँ और कुछ नहीं), 'चिमटा तवे से मचलता है,' जिनके घर 'चूल्हा' (मन का ताप) कुछ नहीं बोलता, चुपचाप जलता रहता है, वहाँ पहले 'थाली खाती है' तब आदमी रोटी खाता है।"[13]

कथ्य के सहज प्रवाह में उन्होनें कई ऐसे शब्द अपनी कविताओं में प्रयुक्त किये हैं, जिन्हें अश्लील कहा गया है। ये शब्द हैं- मासिक धर्म[14] जांघ, गाभिन पेट,[15] बैलमुत्ती,[16] नितम्ब, सहवास, पूंछ उठाना, मूतना।[17] आदि-आदि। कविता में ये शब्द समकालीन यथार्थ से जुड़कर आये है, जो न उत्तेजना प्रदान करते हैं और न कोई चमत्कार प्रदर्शन । ये शब्द कथ्य को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने में सहायक बने हैं। डॉ० विद्या निवास मिश्र के अनुसार- "यौन और ऊपर से वीभत्स लगने वाले बिम्ब, प्रतीक, और सादृश्य विधान तो उनकी भाषा को चौखटा देने वाले हासिया मात्र है। धूमिल मन से इतने स्वस्थ थे कि समूची सामाजिक व्यवस्था के अस्वास्थ्य को सह नहीं पाते थे।"[18]

अत्यन्त आक्रोश व आवेग में कहे गये उनके ये शब्द अश्लील तो है, लेकिन जब कथ्य पर दृष्टि जाती है तो लगता है कि वे शब्द वहाँ रोक कर हमे सोचने को विवश करते हैं । अतः वे हर जगह अनुपयुक्त नहीं, कहीं-कहीं अवश्य खटकते हैं।

काफी लम्बे अरसे तक देश में फारसी (उर्दू) कोर्ट कचहरी की भाषा रही है। आज भी हलफनामा,[19] मुजरिम,[20] पेश, अमीन, जुर्म इश्तिहार आदि अधिकांश शब्द अदालतों में प्रयुक्त हो रहे हैं। गाँव में जमीन-जायदाद को लेकर होने वाले झगड़ों में मुकदमें बाजी बढ़ती जा रही है। कवि धूमिल को भी जमीनी झगड़ों के कारण कोर्ट-कचहरी के काफी चक्कर लगाने पड़े थे । अतः उनका व आम जनता का इन शब्दों से परिचय स्वाभाविक था। इस बात को ध्यान में रखकर कवि धूमिल ने इन अदालती शब्दों को काफी संख्या में अपनी कविताओं में स्थान दिया ।

आज साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही नहीं वरन् शहर व देहात में रहने वाला अनपढ़ व्यक्ति भी आम प्रचलित अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग करता दिखाई पड़ता है। अतः इन्हीं के बीच प्रचलित-टेम, ऐना, कोरस, किडनी, टेलीफून,[21] ट्रैफिक, रायल्टी, वारंट,[22] पुलिस, लेबिल आदि अंग्रेजी शब्दों को कवि धूमिल ने अपनी कविताओं में प्रयुक्त किया।

आम-आदमी की भाषा में प्रयुक्त होने वाले मुहावरे उनकी कविताओं में सहज रूप में मिलते हैं, जो प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। धर्मशाला होना, जंगल होना, बसन्त बुनना, बैलमुत्ती इबारत,[23] चेहरा टटोलना, गीली मिट्‌टी की तरह हाँ-हाँ करना,[24] आँखों में कुत्ते भौकना आदि कई नये-पुराने मुहावरों द्वारा उन्होंने अपनी कविताओं को जन-जीवन से जोड़े रखा है।

धूमिल की कविताओं में अनेक ऐसे वाक्य या वाक्य-खण्ड हैं जो कम शब्दों में प्रभावी बात कहते हैं। ये वाक्य मात्र नैतिकता सिखाने के लिए ही नहीं प्रयुक्त हुए है वरन् पाठक को झंझोड़ कर उन्हें सोचने को विवश करते है। अपनी 'बीस साल बाद' कविता में आजादी के बीस साल गुजरने के बाद भी हर जगह डर, बेइमानी, हत्या, भ्रष्टाचार दिखाई पड़ने पर कवि यह कहने को विवश है —

"क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है

जिन्हें एक पहिया ढोता है/या इसका कोई खास मतलब होता है ? "[25]

अपनी प्रौढ़ शिक्षा कविता में वे कहते है--

"मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाजवाद/ माल गोदाम में लटकती हुई/उन बाल्टियों की तरह है जिस पर आग लिखा हैं/और उनमें बालू और पानी भरा है।"[26]

धूमिल के ये सूक्ति-परक-वाक्य सघन संवेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति करते हैं। धूमिल ने इन सूक्तियों को भले ही बातचीत के दौरान ग्रहण किया हो या उनकी अपनी दिमागी उपज हो, इससे उनका महत्व कम नहीं होता । निश्चित ही उन्होंने नवरचित मुहावरे व सूक्तियों द्वारा सन् साठ के बाद की कविताओं को एक नयी पहचान दी ।

कवि धूमिल कविता में निरर्थक तुकबन्दी के खिलाफ थे । उन्होने अपनी कुछेक कविताओं में ऐसे तुक्कड़ कवियों की हँसी की है जो कि आजीविका के लिए फूहड़ तुकबन्दी करते है। वे कहते हैं-

(1) "वाकई-चमड़े को खतरा है/तुक्कड़ जी/राम राम जाइए/
और रामभरोसे बैठकर शाम का तुक/लगाम से मिलाइये ।"[27]

(2) "क्या मैं व्याकरण की नाक पर/रूमाल लपेटकर/
निष्ठा का तुक/विष्ठा से मिला दूँ ?"[28]

उनकी कविताओं में तुक को देखकर ऐसा लगता है कि उन्हें उन तुकों से कोई परहेज नहीं था जो कथ्य के प्रवाह में स्वाभाविक रूप में अपना स्थान बना लेते हैं क्योंकि उनकी 'मोचीराम'[29] व कई अन्य कविताओं में (इस प्रकार के) स्वाभाविक रूप से आने वाले तुकों को देखा जा सकता है ।

कवि धूमिल ने अपने काव्य-भाषा विषयक वक्तव्य में अत्यधिक बिम्बमयी प्रतीक भाषा का मजाक उड़ाते हुए उसकी तुलना उस स्त्री से की है जो एक के बाद एक बच्चे जनने पर अपनी स्थिति को हास्यास्पद बना लेती हैं । उन्हीं के शब्दों में- "कभी-कभी (या अधिकांशतः) प्रतीकों और बिम्बों के कारण कविता की स्थिति उस औरत जैसी

बच्चा पेट में हो । प्रतीक-बिम्ब जहाँ सूक्ष्म-सांकेतिकता और सहज संप्रेषणीयता में सहायक होते हैं, वही अपनी अधिकता से कविता को ग्राफिक बना देते हैं ।"[30]

उनकी कविताओं में बिम्बों प्रतीकों की कमी नहीं है, पर वे कहीं भी अधिकता में थोपे हुए नहीं है । वे जहाँ भी हैं, कवि की संवेदना का अंग बनकर आये हैं । सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अगर उन्होंने अपनी कविता में बिम्ब व प्रतीक थोपे होते तो वह उनकी अधिकता को लेकर कभी कोई वक्तव्य न देते ।

जीवन यथार्थ से जुड़ी संवेदनाओं को मूर्त रूप देने में धूमिल के काव्य में बिम्बों का सहज प्रयोग हुआ है । उन्होंने बिम्बों की कारीगरी पर नहीं, उसकी प्रासंगिक अर्थवत्ता पर विशेष ध्यान दिया है । अतः उनके बिम्ब रचना प्रक्रिया के अंग के रूप में दिखाई पड़ते हैं, न कि अलग से कलात्मकता उत्पन्न करने के लिए जोड़े गये लगते हैं । काव्य-संवेदना से गहराई से जुड़े हुए ये बिम्ब उनकी शब्द योजना के तहत स्वतः स्फूर्त हुए हैं ।

धूमिल के बिम्ब आम आदमी की रोजमर्रा की जिन्दगी से जुड़े हुए हैं । डॉ० नामवर सिंह के शब्दों में "उल्लेखनीय बात यह है कि जिस दौर में हिन्दी कविता आयातित विदेशी बिम्बों और प्रतीकों से सज रही थी और हर जगह कविता में सलीब लटकते हुए दिखाई पड़ते थे, धूमिल ने ठेठ अपने आसपास की दुनिया से बिम्ब आदि लिए हैं।"[31] माँ का चेहरा उन्हें झुर्रियों की झोली नजर आता है।[32] आदमखोर के जबड़े की तरह मकान का फाटक खुलना और उसमें मुस्कराते हुए आदमी का नमक के ढेले[33] सा घुल जाना धूमिल के प्रयोग की विशेषता है। भारत की दुर्दशा का बिम्ब खींचते हुए वे कहते हैं कि ऐसा लगता है जैसे हवा में फड़फड़ाते हिन्दुस्तान के नक्शे पर गाय ने गोबर कर दिया है।[34] कवि को अपना गुस्सा जनमत की चढ़ी हुई नदी में तैरता एक सड़ा हुआ काठ नजर आता है ।[35]

कवि धूमिल के बिम्ब राजनीति के इर्द-गिर्द घूमते हुए वर्तमान शोषण तन्त्र की यथार्थता, जनता के संघर्ष, उनके अभावग्रस्त जीवन को सजीव करने में भी सहायक बने हैं । उनकी दृष्टि में राजनीति सुविधापरस्त लोगों के ऊसर दिमाग में थूहर की तरह उग आती है।[36] जनता दूसरों के लिए अपनी पीठ पर ऊन ढोने वाली भेड़ बन गयी हैं ।[37] किसान की चिन्ता को चित्रवत करता उनका यह बिम्ब अत्यन्त प्रभावी है-

"एक ठण्डी और गांठदार अंगुली माथा टटोलती है

सोच में डूबे हुए चेहरों और

वहां दरकी हुई जमीन में

कोई फर्क नहीं है ।"[38]

धूमिल ने अपनी कविताओं में जंगल, घास, भेड़िया, पतझर, मदारी की भाषा, कटघरा, दलदल आदि लोक प्रचलित शब्दों को प्रतीकात्मक रूप में लिया है । 'जंगल'[39] शब्द उनकी कविताओं में अनेक बार आया है जहाँ वह भ्रष्ट व्यवस्था का प्रतीक है 'घास' शोषित जन का प्रतीक है । उनके प्रतीक जन-जीवन से जुड़े होने के कारण सहज सुग्राह्य है ।

धूमिल की कविता को सपाट बयानी कहकर सराहा भी गया व उसकी आलोचना भी हुई । सपाट बयानी का अर्थ है किसी बात को सीधे-सीधे शब्दों में सरल ढंग से कहना । यह सपाट बयानी कविता को गद्य के समीप ले जाती है जहाँ भावुकता का कोई महत्व नहीं । धूमिल कविता में जटिलता, संश्लिष्टता के खिलाफ थे, क्योंकि यह सम्प्रेषणीयता में बाधक बनती है । उनकी कविता शाब्दिक दृष्टि से देखने पर अवश्य सपाटबयानी लगती हो, पर भावनात्मक स्तर पर प्रतीक, बिम्ब व व्यंग्योक्तियों का समावेश होने से उसे सपाटबयानी नहीं कहा जा सकता ।

"एक आदमी/रोटी बेलता है/एक आदमी रोटी खाता है/

एक तीसरा आदमी भी है/जो न रोटी बेलता है, न
खाता है/वह सिर्फ रोटी से खेलता है/मैं पूछता
हूँ/यह तीसरा आदमी कौन है?/मेरे देश की संसद
मौन है ।"[40]

यह कविता शाब्दिक स्तर पर भले ही सरल कही जाय, पर इसका अर्थ हमें उस संवेदनात्मक गहराई तक ले जाता है जहाँ यह अभावग्रस्त जीवन और इसके लिए जिम्मेदार सत्तासीनों, पूंजीपतियों से जुड़ती है ।

निष्कर्षतः धूमिल की काव्य-भाषा विषयक मान्यताओं व कविता में उनकी भाषा को देखने के पश्चात यह कहा जा सकता है, कि कवि धूमिल ने कविता को बोझिल करने वाली अतिरिक्त प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता, शाब्दिक चमत्कार, अस्पष्टता व कोरी तुकवन्दी आदि कलात्मक सजावट को भाषा के लिए निरर्थक माना और जनजीवन से जुड़ी हुई भाषा को अपनी कविता के लिए उपयुक्त जाना । डॉ० विद्यानिवास मिश्र के अनुसार "…. धूमिल ने भाषा से सरोकार अपने समकालीन बहुत से रचनाकारों से कुछ ज्यादा रखा । यह भाषा से सरोकार चौंकाने के लिए नहीं, न आंचलिक या भदेसी छटा देने के लिए है, यह सरोकार है- जीवन में सम्पृक्त व्यक्ति के खुरदुरे पर कारगर अनुभव को उसके अनुरूप आक्रामक अभिव्यक्ति देने के लिए है ।"[41]

मुक्तिबोध की कविता की भाषा में लोक-संवेदना -

'नयी कविता' वैविध्यमय जीवन के प्रति आत्मचेतस् व्यक्ति की संवेदनात्मक प्रतिक्रिया है । चूँकि आज का वैविध्यमय जीवन विषम है, आज की सभ्यता ह्रासग्रस्त है, इसीलिए आज की कविता में तनाव होना स्वाभाविक है।[1] वस्तुतः साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है । जीवन की यह पुनर्रचना ही कलाकृति बनती है । कला में जीवन की जो पुनर्रचना होती है वह सारतः उस जीवन

का प्रतिनिधित्व करती है जो जीवन इस जगत में वस्तुतः जिया और भोगा जाता है स्वयं द्वारा तथा अन्यों द्वारा ।[2]

मुक्तिबोध की कविता में यथार्थात्मक विश्व दृष्टिवाद का सुन्दर और स्वप्निल चित्रण है । मुक्तिबोध किसी भी कथ्य को कहने के लिए एक सुन्दर कल्पनातीत चित्र उपस्थित करते हैं । इसी कारण उनके चित्र वस्तुपरक होने के साथ-साथ स्वप्निल होते हैं। उनकी कवितायें प्रायः स्वप्न-चित्रों के द्वारा एक अद्भुत कथ्य को प्रस्तुत करती हैं जिसे देखकर कभी-कभी पाठक भ्रमित होकर उसे मिथ्या समझने लगता है किन्तु ऐसा है नहीं। मुक्तिबोध ने स्वयं कहा है -

"क्योंकि पी जहर यह/क्योंकि जी जहर यह/सुन्न हुई नाड़ियां"[3]

हम वस्तुतः इतने संवेदनशून्य हो गये हैं कि हमें क्रूरता, अमानवीयता, भयावहता और रक्तपात रञ्जित नहीं कर पाता हैं। हम पाषाणवत सबको देखते रहते हैं । मुक्तिबोध संवेदनशील कवि हैं इसलिए उन्होंने स्वप्न-चित्रों के द्वारा सामान्य का असमान्यीकरण किया है ।[4] इसीलिए उनकी कविताओं में स्वप्न में सत्य और सत्य में स्वप्न दिखाई पड़ता है । यही स्वप्न में सत्य की मिली-जुली गन्धवाही बयार सूखे-बबूलों के मैदानों में बहती हुई अंगारी चमत्कारपूर्ण चेतना बन जाती है ।[5]

मुक्तिबोध की कविता लोकजीवन के प्रत्येक अंगो से निकले हुए रस की परिणति है । इसीलिए इनकी कविता में लोक भाषा के संवेदनशील शब्द बहुत सहज रूप में प्रयुक्त हैं । इनकी कविता में केवल मार्क्सवाद की व्याख्या ही नहीं है वरन् वैज्ञानिकता और कला का सामंजस्य भी हैं । इनकी रचना में मनोवेग का पूर्ण नियंत्रित स्फुरण है जिससे कविता की उदात्तता विराट् रूप धारण कर लेती है । इसीलिए कविता का अनगढ़ रूप भी सुन्दर लगने लगता है । इन्होंने अपनी अभिव्यक्ति के लिए लम्बी कविता की शैली का अविष्कार किया है । इनकी लम्बी कविताओं में कथा भी है और नहीं भी है ।

कथा में तारतम्य नहीं है किन्तु उनमें सर्वत्र सामाजिक शोषण का अभिशाप और उससे मुक्ति प्राप्त करने का उपाय अवश्य है । इन कविताओं में कवि का अपना जीवन भी प्रतिबिम्बित होता रहता है ।

इनकी कविता की भाषा अपनी है । सभी प्रकार के तत्सम, अंग्रेजी, फारसी तथा लोक भाषा के शब्द इनकी कविताओं में स्वाभाविक रूप में सुगठित हैं । उनमें अद्भुत अर्थ समाया हुआ है । इन अर्थों को समझने के लिए पश्चिम और पूर्व के दर्शन, विविध प्रकार के साहित्य तथा इतिहास को अवश्य जानना होता । आवेशपूर्ण-कथन के समय मुक्तिबोध की कविता अंग्रेजी शब्दों के माध्यम से अपनी वेदना को अभिव्यक्त करती है । पूरा का पूरा वाक्य अंग्रेजी शब्द के द्वारा विशेष अर्थ (एक ओर अधिकारी का आदेश और दूसरी ओर क्रूरता) को अभिव्यक्त करता है ।

-"स्क्रीनिंग करो मिस्टर गुप्ता ।

क्रास एक्जामिन हिम थारोली ।"[6]

मुक्तिबोध शोषितों की आम बोलचाल की भाषा के द्वारा अपनी कविता को अत्यन्त प्रभावशाली रूप प्रदान करते हैं -

मैं कनफटा हेठा हूँ ।

शेव्रलेट डॉज के नीचे मैं लेटा हूँ ।

तेलिया-लिबास में पुरजे सुधारता हूँ ।"[7]

रेफ्रीजियेटर, विटैमिन, रेडियोग्राम की दुनिया से अलग मजदूरों की दुनिया तेलिया लिबास में समाज को गतिशीलता देने के लिए उसकी गति के पुरजे को सुधारती रहती है और उसे बदले में मिलता है शोषकों की आज्ञाओं के बोझ को निरन्तर ढोते रहने का कार्य ।

मुक्तिबोध की भाषा प्रस्तुत और अप्रस्तुत विधानों के सामञ्जस्य से जिस बिम्ब

को उपस्थित करती है वह हिन्दी के किसी अन्य कवि में नहीं दिखाई पड़ता है । इनकी प्रत्येक कविता नये अर्थों को लेकर प्रस्तुत होती है । इनमें साधारण जनों की पीड़ा, समाज की नग्नता, आदर्शों का खोखलापन, बौद्धिकता की कायरता और उसका दोहरा चरित्र, पुराने कथानकों का नवीन रूप और शोषित के अत्याचार के पहाड़ के नीचे शोषितों की आत्मा की तेजस्विता इस प्रकार से समाहित है जो पाठक की संवेदना को अत्यन्त तत्परता से जागृत कर देती है । मुक्तिबोध की वाणी छद्‌म रहित, वास्तविक जीवन के चित्र को प्रस्तुत करने में किसी प्रकार का समझौता नहीं करती है ।

मुक्तिबोध की कविता में लोकभाषा के प्रचलित शब्दों का अति सफल प्रयोग हुआ है । "स्वयं के श्याम काँधे पर/रखी थीं काँवड़े जल की।[8] -पंक्ति में काँवड़े शब्द लोक-भाषा का महत्वपूर्ण शब्द है । तीर्थयात्री पवित्र जल को मिट्‌टी के पात्र में भरकर तथा उसे बाँस के डण्डे के दोनों ओर बांधकर कंधे पर ढोते हुए ले जाते हैं, उसे 'काँवड़' कहा जाता है । क्रान्तिकारी नवीन कुआँ खोदकर जो शुद्ध जल निकालता है उसे 'काँवड़' पर रखकर दूसरों को पिलाने के लिए ले जाता है । इसी प्रकार 'पालागी' शब्द है, जिसका अर्थ है- 'बड़ों का चरण स्पर्श करना ।' लेकिन 'पालागी' शब्द यहाँ पाँवो में लग जाने (लिपट जाने) के अर्थ को अभिव्यक्त कर रहा है -

> "सुख-दुःख ने, अकस्मात् भावुकतावश/सुख-दुःख के
> चरणों को/मन ही मन/यो की पालागी ।"[9]

मुक्तिबोध को नैतिक अनुभूति कष्ट देती रहती है क्योंकि वह झूठी है और सठियायी भी है।[10] "सठियायी" शब्द का अर्थ "साठ वर्ष का हो जाना" अर्थात् "मूर्खतापूर्ण आचरण करना" है । 'सठियायी' शब्द एक ओर व्यक्ति की अवस्था को द्योतित करता है, दूसरी ओर नैतिक शठता को भी ।

एक ही वाक्य में विशेषण और संज्ञा के रूप में लोकभाषा के मर्म को स्पर्श करने

वाले शब्दों के प्रयोग–"मेरे स्याह चेहरे पर/निलाई चमचमाती है। समुन्दर है समुन्दर है।"[11] (स्याह, निलाई (नीलिमा) समुन्दर)–दृष्टव्य हैं। ये शब्द कविता को अत्यन्त प्रभावशाली बना देते हैं। मुक्तिबोध के समक्ष उलझनों और प्रश्नों का 'ठूँठ'[12] (सूखा पेड़) जब आता है तब इन्हें सूखी डालों पर बदनीयत गिद्ध दिखाई पड़ता है।

मुक्तिबोध का 'लत्तर' लोकभाषायी शब्द अत्यन्त मार्मिक है। 'लत्तर' या 'लत्ता' उस कपड़े को कहते हैं जो फटा–पुराना होकर तार–तार हो गया हो। पूँजीपतियों द्वारा मुक्तिबोध जैसे दलितों की मर्यादा के वस्त्र को फाड़कर, नोंचकर लत्ता बना दिया गया है। उनके मैले–पसीने के हाथों से यह 'लत्तर' लगातार बद से बदतर होता जाता है।[13] इसी प्रकार 'चिथरे' शब्द का सार्थक प्रयोग किया गया है।[14] मुक्तिबोध की भाँति शोषितों को बीड़ी पीने की तलब बनी रहती है। भले ही उनके भीतर बेशर्म दलिद्दर (=दारिद्रय) चिलचिलाता है।

मुक्तिबोध ने लोकभाषा के क्रिया–पद को बहुत प्रभावशाली बनाया है। निहारना[15] (ध्यान पूर्वक देखना), फुसफुसाना,[16] थामना[17] (स्तम्भ बनकर अपने ऊपर भार को रखना), लपकना,[18] छेंकना,[19] सरकना,[20] कराहना,[21] बीनना, (अग्नि के काष्ट/खोजती माँ/बीनती नित्य सूखे डंठल,[22] चिहुँकना[23] आदि क्रियापद के कवि के हृदय के भाव को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त करते हैं। इनके स्थान पर यदि तत्सम या प्रचलित हिन्दी के शब्द रखे जाते, तो वे कवि के हृदय को खोलने में असमर्थ होते। इसी प्रकार मुक्तिबोध के लोकभाषा के विशेषण या कर्मपद जब कृदत्त और क्रिया के रूप में प्रयुक्त होते हैं तब इनके अर्थों में प्रभावकारी संवेदना की गम्भीरता अभिव्यक्त होती है – "वह सँवलाया कलियाया मुँह/है सनेह भरी चिन्ता मे···/ निरर्थकता की आग में/जलता–धुआँता हुआ"।[24]

मुक्तिबोध के हिये (हृदय) में मिट्टी की गन्ध समायी है। इसीलिए ओस से गीली झुलसी हुई चमेली के आहों से इनका दिल भर उठता है–"वह मिट्टी की सुगन्ध/मेरे

हिये में समाती है।''[25] मुक्तिबोध शोषितों के साथ जीवन-यर्थाथ की चट्टानों से जूझकर भी हुलास (उल्लास) में रहते हैं।

मुक्तिबोध जब एक ही वाक्य में तत्सम और लोकभाषा का प्रयोग करते हैं तब वह पूंजीवाद और शोषित-क्षुद्र जनों की स्थिति को बड़ी कुशलता से अभिव्यक्त करते हैं-

''आश्चर्यचकित जिज्ञासु आत्मा/चढ़ती किरनों की चढ़ान
नभ शिखरों तक/छुटपन से ही।''[26]

आश्चर्यचकित जिज्ञासु आत्मा के साथ-साथ 'किरनों की चढ़ान' तथा नभ-शिखरों के साथ-साथ 'छुटपन' का प्रयोग अत्यन्त सारगर्भित है। मुक्तिबोध ने भड़ाभड़, खड़ाखड़,[27] ढपाढप, थपा-थप, तुम-तोम-तम्बूरे आदि लोकभाषा के नादात्मक शब्दों के प्रयोग से कथ्य को मूर्तिमान संगीतात्मक रूप प्रदान कर दिया है। इसी प्रकार के उन उर्दू शब्दों-जो लोकभाषा में घुलमिल गये हैं, जैसे-दर्द, दिल, तजुर्बा, आदि का प्रयोग अर्थ को बोधगम्य और प्रभावशाली बनाने के लिए किया है। लोकभाषा के जिन्न, च्यूँटी, गिट्टी, मुँडेर, कन्हेर कण्डे आदि शब्दों के प्रयोग से मुक्तिबोध ने कविता को एक ओर जन-जीवन के हृदय के रस से आप्लावित कर दिया है तथा दूसरी ओर लोक-जीवन के अर्थों को पूर्ण रूप से स्पष्ट कर दिया है। कहीं-कहीं इन्होंने लोकभाषा के शब्द-समूहों का एक साथ प्रयोग कर - ''सियाह समुन्दर के वे पॉखी उड़-उड़कर,''[28] वह सवँलाया कलियाया मुँह,''[29] ''विरान चिलचिलाहट में फटे चीथ चमके''[30]- कविता को अत्यधिक ओजस्विनी बना दिया है।

मुक्तिबोध ने प्रायः लोक-भाषा के प्रचलित शब्दों का ही सफल प्रयोग किया है। एक ही वाक्य में कई-कई लोकभाषा के शब्दों का प्रयोग अर्थ को अत्यधिक प्रभावशाली बना देता है। ''बगासी और उमस के स्वेद में/भींगी हुई उकताहट-उचाट खत्म हुई,''[31] ''हाय अपने आप पर झींख-झख मारते,''[32] ''अंट-संट-अँधेरे''[33] आदि शब्द अर्थ को

अत्यन्त संवेदनात्मक रूप प्रदान कर रहे हैं । मुक्तिबोध ने कहीं-कहीं लोकभाषा के शब्दों को तत्सम के साथ संधि कर के शब्दों को अर्थानुकूल बना दिया है। "मलिनान्धार में भटकोगे,"[34]मे अन्धार' का अर्थ है अँधेरा । मलिन के साथ सन्धि हो जाने पर 'गहन अँधेरा' अर्थ अधिक प्रभावोत्पादक हो गया है । 'ऐड़े-बेड़े' को 'ऐड़े-बैड़े'[35]और 'बण्टाधार' को बण्टाढाल'[36]के रूप में प्रयोग कर उसे आम आदमी के अनुरूप बना दिया है ।

अलङ्कारवादियों ने उपमान को विभिन्न रूप में प्रयुक्त कर उपमेय (प्रस्तुत) को अत्यन्त चमत्कारपूर्ण बनाने की परम्परा डाली है । इस परम्परा का परित्याग कर कवि अपनी रचना को लोकोत्तर नहीं बना सकता है । समय के साथ उपमानों के स्वरूप में परिवर्तन-परिवर्धन होते आये हैं और होते रहेंगे किन्तु उपमान के अस्तित्व का निराकरण कर कवि अपनी कविता को अस्तित्व हीन नहीं बना सकता है ।

मुक्तिबोध की सम्पूर्ण रचनाओं में उपमानों का सुन्दर प्रस्तुतीकरण किया गया है जिस चाँद की चाँदनी को पूर्व के कवियों ने श्रृंगार का उद्दीपन रूप प्रदान किया वही चाँदनी मुक्तिबोध की दृष्टि में आवारा मछुआरों सी रात-बे-रात मछलियों (शोषितों) को फँसाती रहती है और शोहदों सी सड़कों के पिछवाड़े टूटे-फूटे दृश्यों में गन्दगी के काले से नाले के झाग पर बदमस्त कल्पना सी रात भर फैली रहती है।[37]शोषकों की चाँदनी (मिथ्या कृपा) भले ही सुन्दर लगती है किन्तु वे वस्तुतः आवारा मछुआरों के समान भोली भाली शोषित जनता को अपने जाल में फाँसकर उनके खून से अपने प्रासादों को गगनचुम्बी बनाती रहती है । रामू (शोषित मजदूर) का गुलाम दिन मुक्ति के सपने में डूबकर द्रोह की ज्वालाओं से उसी प्रकार आसमान चूमने लगता है जिस प्रकार पुचकार के रस से रहित माँ के द्वारा बेचे गये पाँच वर्षीय दर्द-भरे-फटे-हाल बालक का जीवन पढ़ने की अभिलाषा करता है।[38]आदमखोर रावण (पूँजीपति शोषक) के घर चाकरी करने वाले बुद्धिजीवी रूपी घुग्घू के स्वर को सुनकर मुक्तिबोध का नारीमन (कोमल हृदय) पीले

पत्ते की भाँति काँपने लगता है क्योंकि वेश्याओं के देह के समान अपनी-अपनी आत्मा को बेचने वाले इन बुद्धिजीवियों के स्वर मिर्च की धाँस की खाँसी के समान शोषितों को पीड़ित करते हैं।[39] मुक्तिबोध का शोषित रामू रूपी मन मानवी पीड़ा को गुंजान जंगलों के हरे-भरे पौधों के जहरीले बीजों को मींचकर उससे बनाये गये काले से काढ़े को पीना चाहता है।[40] शोषितों की पीड़ा जीने वाले कवि की दृष्टि में शोषित जन ही अक्षयवट है । यदि उनका सम्बल न मिला तो वे चोर की गठरी के समान सूने में पड़े होते अथवा अन्धकार में पड़े रहने वाले भूसे के तुल्य अस्तित्व विहीन जीवन की साँस लेते रहते ।[41] रास्ते पर फेंके गये कचरे के समान[42] कल्याणमयी करूणाओं को पहिचान कर अपने कन्धे पर ढोने वाले कवि मुक्तिबोध अरूप-ईश्वर को सूनेपन के डीह में अँधियारी डूब के तुल्य समझते हैं।[43] इसका अनुभव ढिबरी सा टिमटिमाता[44] हुआ मुक्तिबोध का दिल ही कर सकता है, क्योंकि इन्होंने शोषकों की फूँक से शोषितों के ढहते हुए मकान, उनकी उड़ती हुई झोपड़ियों तथा मनुष्य के साँवले समूह की जिन्दगी को अपनी आँखों से झुलसी हुई पुरानी धुनकी हुई रूई के टुकड़ों सी उड़ते हुए देखा था ।[45]

शिलालेखों के अक्षर-अक्षर पर चढ़कर केवल रेंगने वाली और उसके अक्षरों को न पढ़ सकने वाली चींटी के समान मुक्तिबोध का मन अन्तस्थ लेखों को मात्र छू भर लेता है, उसके प्रत्येक अक्षर को न पढ़ सकने के कारण बैचेन होकर भटकता रहता है ।[46] इसीलिए वे आत्म-मंथन से प्राप्त विष-भरे तीर से मिथ्या की हत्या कर प्राणों के रूधिर की लकीरों से सुनहली धूप सा निखर उठने वाले मानव का चित्र खींचना चाहते हैं,[47] जो अन्याय को चुनौती दे सके ।[48]

मुक्तिबोध के बिम्ब अत्यन्त प्रभावोत्पादक है । मुक्तिबोध का क्रान्ति-देवता विराट् पुरूष के बिम्ब के रूप में प्रस्तुत होकर यही द्योतित करता है कि वही एक शक्ति है जो दु:खों को दूर कर सकती है । यह विराट् पुरूष आकाश-पाताल सबको नापने में सक्षम

है।[49] ''एक अन्तकथा'' में मुक्तिबोध के द्वारा प्रस्तुत किया गया बिम्ब अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। मुक्तिबोध माँ (आत्मा की) ध्वनि को सुनकर (क्रान्ति के) बालक को टोकरी में रखकर चल रहे हैं। उसकी मधुर ध्वनि सुनकर, जो कल सच होगी, एक फैंटेसी लोक में विचरण करने लगते हैं तथा अपने को विराट पुरूष के रूप में देखते हैं।[50]

मुक्तिबोध के जीवन के अनुभवों को व्यक्त करने वाले बिम्ब-विधान एवं प्रतीकों[51] में लोक-प्रतीति का मर्मभेदी चित्रण है। मुक्तिबोध क्रान्ति के शिशु को सबको शीतल जल पिलाने वाली श्रम से थककर सोई हुई सीमन्तिनी के खुले हुए स्तन के पास रखना चाहते हैं। उन्हें विश्वास है कि यह बालक श्रम गरिमा का दूध पीकर विकसित होता जायेगा।[52]

मुक्तिबोध की कविता में लोक जीवन के दुःखों का शरण स्थल 'बरगद' बार-बार आकर यह विश्वास दिलाता है कि दुःख की घड़ी में कोई न कोई 'बरगद' की भाँति अवश्य सहायता प्रदान करेगा। इसी प्रकार 'तुलसी का पौधा' मुक्तिबोध को आशा की किरण प्रदान कर नैराशय के अँधेरे से निकालने का प्रयास करता है। ''कल जो हमने चर्चा की थी'' शीर्षक कविता उस क्रान्ति-कन्या का बिम्ब खड़ा करती है जिसका सम्बन्ध जन-मन के अन्तस्तल और युगान्तकारी आस्थाओं में है।[53] मुक्तिबोध की कविता ''अंधेरे में'' स्वप्न का बिम्ब का अद्वितीय काव्य है जिसका नायक स्वयं मुक्तिबोध है जो कभी पागल बनकर क्रान्ति का गीत गाते हैं और पूँजीपति रूप राक्षसों का संहार करने के लिए कुमार-सम्भव की भाँति आत्मसम्भवा अभिव्यक्ति रूपी क्रान्ति को जन्म देने के लिए 'अंधेरे' युग में व्याकुल है।[54]

मुहावरा किसी बोली या भाषा में प्रयुक्त होने वाला वह अपूर्ण वाक्य खण्ड है जो अपनी उपस्थिति से समस्त वाक्य को सतेज, रोचक और चुस्त बना देता है। संसार के मनुष्य ने अपने लोक-व्यवहार में जिन-जिन वस्तुओं व विचारों को बड़े कौतहूल से देखा और समझा तथा जिसका बार-बार अनुभव किया, उन्हीं को उसने शब्दों में बाँध दिया

है। वे ही मुहावरे कहलाते हैं।[55] मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में मुहावरों और लोकोक्तियों का जीवन की साँस के समान स्वाभाविक प्रयोग किया है । मुक्तिबोध बोझा उठायी हुई माताओं, बहनों, बेटियों आदि सभी को राम-राम करने[56] (नमस्कार करने) के लिए व्याकुल रहते हैं । क्योंकि इनके हृदय में भारत की मिट्टी की संस्कृति समायी हुई है । इसीलिए ओस-गीली झुलसी हुई चमेली (दीन आत्माओं) की आहों से इनका दिल भर उठता (हृदय अत्यन्त द्रवित हो जाना)[57] है। मुक्तिबोध की आत्मा रूपी ग्रामीण नारी सभी कष्टों को लात मारकर (निरादर कर) ध्रुव सत्य की ओर बढ़ती रहती है । इसीलिए मिथ्या का प्रबलतम रहस्योद्घाटन द्रुत श्रद्धा का आँचल थाम लेता (आश्रय ले लेता) है।[58] मुक्तिबोध की दृष्टि में मनुष्य के मन में जब तक विकार रहता है, वह जन साधारण से अपने को महान् समझता है। जब मन का विकृत आइना टूट (आधार नष्ट हो) जाता है जिसमें चेहरा या तो बड़ा दिखाई पड़ता है अथवा छोटा सा - तब सिट्टी गुम हो जाती है और नाड़ी ठण्डी (भयाक्रान्त और मृतप्राय) हो जाती है । मुक्तिबोध की पटरी (आत्मिक सम्बन्ध) उन्हीं लोगों से बैठती है-'जिनके चेहरों पर/ वीरान खण्डहरों की धूप/घने पेड़ों के/साये' मंड़लाया करते हैं।[59] अपने जिन्दा सत्यों का गला बचाने (सुरक्षित रखने) को तत्पर रहने वाले मुक्तिबोध ने अपनी आँखों से देखा है कि शोषकों के अत्याचार से अम्बर के भी हाथ पैर फूल (किंकर्त्तव्यविमूढ़) जाते हैं किन्तु वे जिनका खाओ उनका बाजा बजाने को न कभी तैय्यार रहते हैं और न अपने पंखों को तथा जीभ को काटकर[60] (अपनी अस्मिता को नष्ट कर) राजहंस ही बनना चाहते हैं क्योंकि अपने को इच्छानुसार सिकोड़कर (अस्तित्व को समेटकर) भी पूँजीपतियों की चौखट में कभी भी फिट (आँख मूँदकर चलना) नहीं हो सकते हैं।[61] मुक्तिबोध यही कामना करते हैं कि शोषित जन सत्ता की छाती पर गला दबाकर (परास्त कर, नष्ट कर) बैठ जाय ।[62]

मुक्तिबोध ने लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग किया है लोक में यह प्रचलित है कि

"जिसका खाओ उसका गाओ।" इन्होंने इसका सुन्दर प्रयोग उपहास के रूप में किया है– "खूब बजाओ, जिसका खाओ, उसका बाजा"। "दो पाटन के बीच में साबित बचा न कोय" इस लोकोक्ति को मुक्तिबोध ने अपनी तेजस्विनी कविता "ब्रहम राक्षस" में व्यक्त करते हुए कहा है कि – जो आत्मचेतस् और विश्वचेतस् के द्वन्दों में फँसा रहता है वह पिस जाता है।[63] मुक्तिबोध लोकोक्तियों को नये रूप में प्रस्तुत कर शोषित के प्रति संवेदना और शोषकों के प्रति क्रोधाग्नि को अभिव्यक्त करते हैं। "एक ही थैली के चट्टे बट्टे" लोकोक्ति को मुक्तिबोध ने इस प्रकार – "नेता, वक्ता, लेखक, शास्त्री/ मेरे बनते हुए किले के हैं सब मिस्त्री"[64] – व्यक्त कर समाज के बौद्धिक वर्ग तथा तथाकथित समाज सेवकों को एक ही मंच पर दिगम्बर कर दिया है। 'हीरा हेरा गये कचरे में' लोकोक्ति को – "शत–उपेक्षिता भूमि में फिकें/चुपचाप छिपाये गये/शुक्र गुरू बुद्ध-मंगल/कचरे की परतों-ढँके तुम्हें मिल जायेंगे।"[65] – पंक्ति के द्वारा कहकर बताने का प्रयास किया है कि शोषित में ही शाश्वत चमकने वाले गुरू-शुक्रादि जैसे ग्रह मिल जायेंगे जो क्रान्ति के रथ को लक्ष्य तक ले जा सकते हैं। मुक्तिबोध ने –("स्वार्थी भावों की लाल–लाल/बेचैन चीटियों को सहसा/अब नये पंख निकले-निकले")[66] चीटियों को पंख निकलते देखा है और अँधियारे बिल में झाँक रहे साँपों की तेज आँखों का भी बड़े उद्विग्न मन से निरीक्षण किया है।

'अपनी–अपनी ढपली अपना–अपना राग' लोकोक्ति को मुक्तिबोध ने नये रूप में– ("ऐसी आज आइडियोलॉजी है/हरेक के पीपल के पास अब बैठा हुआ एक निज/सन्त निज पीर है"),[67] ("घूरे का घर। घर का घूरा। अपना अपना सबको प्रिय है)–[68] प्रस्तुत कर बुद्धिजीवियों का मार्मिक उपहास किया है। मुक्तिबोध ने "उल्लू का पट्ठा" लोक प्रसिद्ध कथन को कई स्थलों पर अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। इन्होंने 'उल्लू' को पूँजीपति और पट्ठा को उसके 'गुलाम' के रूप में प्रस्तुत कर समाज

के बौद्धिक खोखलेपन का उपहास करते हुए आक्रोश भी व्यक्त किया है – "अन्ध कौन, बहरा कौन / एक नये कौन कहाँ उट्ठा है / हमें सब मालूम । कौन किस उल्लू का कितना बड़ा पट्ठा है ।"[69]

मुक्तिबोध की कविताओं में विशेष प्रकार की लोक-ध्वनियाँ संवेदनात्मक स्थिति उत्पन्न करती हैं जो तत्सम ध्वनियाँ नहीं कर सकती । मुक्तिबोध 'हर चीज जब अपनी' शीर्षक कविता में कहते हैं- अपने पूरे लहरीले रंग/कि जिनसे दिल/जरा सा सुलगे और भभक जाय/उस बाहर के भीतर की तसवीर उभर जाय।"[70] लोक जीवन अत्यन्त भावुक व निर्मल होता है, जो शुष्क पत्तियों की भाँति थोड़ी सी क्रान्ति की चिंगारी से सुलग कर भभक उठता है । 'भभकना' एकाएक प्रज्वलित होना है । जो हृदय भभक कर दूसरे को समाहित न कर सके, वह हृदय नहीं पाषाण है । मुक्तिबोध के दिल में भावुक और संवेदनशील शोषितों की याद चिलचिलाती और चिलकती रहती है ।[71] इन लोक ध्वनियों के मूलार्थ को वही समझ सकता है । जो लोक जीवन में रम गया हो । लोक जीवन के अंधेरे में जलती हुई लाल ढिबरी की याद रखने वाले (मुझे याद आती है लाल लाल जलती हुई ढिबरी)[72] मुक्तिबोध जीवन पर्यन्त आग में झुलसते रहे अथवा धूल-धक्कड़ में मूँदते रहे (झुलसते जा रहे आग में/या मुँद रहे हैं धूल-धक्कड़ में)।[73] जब मुक्तिबोध की भौतिक जागृत चेतना के बुश-कोट को पूंजीवाद चर्र से फाड़ता है,[74] तब यही लगता है कि मुक्तिबोध की लोक संवेदना को कोई क्रूर हाथ नष्ट करना चाहता है ।

मुक्तिबोध अपनी भाषा-संवेदना के द्वारा आजीवन शोषित जनों की वेदनाओं को अपनी वेदना समझकर उन्हें अंधेरे से अँजोर में निकल चलने[75] की प्रेरणा देते रहे हैं । भाषिक संवेदना उनकी कविताओं को प्रभावकारी रूप प्रदान करती है । लोक प्रचलित शब्दों की अधिकता होते हुए भी जटिल बिम्बों के सृजन के कारण उनकी कविता कुछ दुरूह अवश्य लगती है पर धीरे-धीरे उसकी तह तक पहुँचने पर वह परत दर परत

खुलती जाती है और तब कवि मुक्ति बोध आम आदमी के बीच रहने वाला एक साधारण व्यक्ति दिखाई पड़ता है ।

रघुवीर सहाय की कविता की भाषा और लोक संवेदना –

भाषा के आकर्षण से प्रेरित होकर लिखने वाले रघुवीर सहाय की दृष्टि में १९४७ ई० के बाद का साहित्य भाषा के नाम पर राजनैतिक सत्ता के कुछ बचे-खुचे टुकड़े बटोरने का जरिया तो बना, पर मानवीय मान्यताओं की रक्षा में अन्याय का विरोध या नये मानवीय मूल्यों की स्थापना करने को तैयार व्यक्ति का आत्मोसर्ग का साधन नहीं बन सका।[1] रघुवीर सहाय अपनी लेखनी के प्रति ईमानदार व संवेदनशील कवि हैं, क्योंकि वे कुछ भी लिखने के पूर्व अपने पर हँसते हैं और निराश इसलिए होते हैं कि जो वे लिखेंगे, वैसा दिखेंगे नहीं । वे किसी के आदेश से लिखने वाले आत्म-विक्रेता कवि नहीं हैं। उन्हें लेखन और अपने तथा आम आदमी के जीवन से आत्मिक प्रेम है । इसलिए उनके लिए भाषा मुश्किल नहीं है।[2] रघुवीर सहाय की भाषा बोलचाल की भाषा है, जो लेखन-शिल्प न होकर उनकी निष्ठा की कसौटी है । इस बोलचाल की भाषा में ही करूणा की गङ्गा, वेदना की यमुना तथा अनन्त व्यथाओं की छोटी-छोटी नदियाँ प्रवाहित होती हुई अपने अस्तित्व को विलीन करती रहती हैं । इनके इस वैशिष्ट्य को देखकर ही रामस्वरूप चतुर्वेदी ने कहा है – "मालूमी शब्द और मालूमी अनुभव में एक नयी शक्ति सक्रिय कर देना यदि नयी कविता की पहचान बनी है तो इसका बड़ा श्रेय रघुवीर सहाय को दिया जा सकता है।"[3] वस्तुतः सजग, संवेदनशील व स्वच्छन्द कवि शब्दों की खोज में बहुत देर तक कलम लिए बैठा रहता है।[4] शब्द बहुलता, अतिरेक और दुरूहताओं का अतिक्रमण कर वह एक ऐसा शिल्प और मुहावरा अर्जित करता है जो मनुष्य के हालात के बारे में अत्यन्त सघन और मार्मिक बखान करने में समर्थ है ।[5]

रघुवीर सहाय बिना किसी कृत्रिमता के सीधे शब्दों में लोक जीवन की व्यथाओं का

इतना सजीव चित्रण करते हैं जिसे देखकर संवेदनशील पाठक का हृदय द्रवित हो जाता है। और उसके निर्विकार मस्तिष्क पर एक ऐसी प्रेरणादायिनी रेखा बन जाती है जो उसे जीवन की सच्चाई का साक्षात्कार कराने में सहायता प्रदान करती है ।

रघुवीर सहाय की रचनाओं में लोक- बोलियों में प्रयुक्त शब्द लोक जीवन की मार्मिक व्यथाओं को बड़ी ही निपुणता से प्रस्तुत करते हैं। 'दयाशंकर' शीर्षक कविता में 'नेम', 'लुकमा', 'चबलाता', 'पुआ' आदि लोक बोलियों के शब्दों का प्रयोग दयाशंकर जैसे अल्पवेतन भोगी के जीवन की दुर्दशा को ही द्योतित नहीं करता है अपितु शोषणवादी व्यवस्था का पर्दाफाश करता है । 'नेम' शब्द 'नियम' अर्थ को ही नहीं बताता, वरन् दयाशंकर की निष्ठा को भी लक्षित करता है । 'लुकमा' कौर या ग्रास है 'चबलाता' का अर्थ चबाना है । 'पुआ' एक प्रकार का पकवान है । इसे विशेष प्रकार से बनी हुई मीठी पूड़ी कह सकते हैं। सात बच्चों के बीच दयाशंकर की पत्नी की पुआ खाने की अभिलाषा बन्ध्या बनी रहती है । एक रात बच्चों के सो जाने पर पत्नी चुपके से किसी प्रकार चार पुए बनाती है । ये पुए उसे मधुर मिलन के समान प्रतीत होते हैं । ज्योंही पति-पत्नी खाने बैठते हैं, अचानक 'बच्चों' का जगना और फिर मुस्कराते हुए सो जाना जीवन की उस अभावग्रस्त सच्चाई को प्रकट करता है जिससे आज का प्रत्येक आम-आदमी पीड़ित है । "अखबार वाला" शीर्षक कविता रामू जैसे अनगिनत अखबार बेचने वालों की व्यथा को लोकभाषा के शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त करती है । प्रचण्ड गर्मी में रामू तप रहा है । उसके नङ्गे पाँव की जमीन 'भुलभुल' (गर्म राख की ढेर) है जिसमें पाँव आसानी से धँसे जा रहे है, फिर भी कुछ कमीशन के पैसे के लिए उसे असह्य व्यथा सहन करनी पड़ती है ।

'अधिनायक' शीर्षक कविता में कवि सुथन्ना (एक प्रकार का अधोवस्त्र पायजामा जैसा) पहने हुए हर चरना (गरीब जनता) को अपने भाग्य-विधाता नेताओं के गुन (गुण)

गाते हुए देखकर अत्यन्त संवेदनशील हो जाता है । हर—चरना जैसे गरीब शोषित जनों को अपने भ्रष्ट नेताओं का गुणगान करना ही पड़ता है क्योंकि वही उनको रूखी-सूखी रोटी देने वाले हैं । यह छद्म लोकतन्त्र की कुटिल नीति है । यह लोकतन्त्र आम-जनता को धोखा देने के लिए काल को भी 'बुत्ता' (धोखा) देता रहता है।[6] कवि लोक—भाषिक 'बुत्ता शब्द के माध्यम से लोकतन्त्र के शासकों के दुःसाहस को द्योतित करता है । आम औरतों को जिन्हें आजीवन अपने शरीर को श्रम की भट्ठी में गलाना पड़ता है, कभी भी स्नेह या प्यार का वास्तविक रूप प्राप्त नहीं होता है । उनकी बच्चियों को विरासत में भरी जवानी में अपनी दादियों की 'काठियाँ'[7] प्राप्त होती हैं । 'काठियाँ' शब्द शरीर की बनावट को द्योतित करता है । काठ जैसे विरस और अग्नि में जलने वाला होता है, उसी प्रकार श्रमिक औरतों का शरीर गरीबी के कारण जवानी में ही विरस हो जाता है फिर भी श्रम के अनल में उसे जलना ही पड़ता है । संवेदनशील कवि रघुवीर सहाय ने देखा है कि टेसन (स्टेशन) पर गरीब भिखमंगे, रोगी, अपाहिज, फटेहाल लोग जो वही पड़े रहकर भिक्षाटन से अपनी क्षुधाग्नि को शान्त करते हैं, खास लोगों की दृष्टि को सुख देने के लिए उनसे यह अधिकार भी छीन लिया गया– "पूछो सवाल है लोग कहाँ लोप हो गये है?/ टेसन से हाँक कर उन्हें तुमने बंद कर दिया?"[8] इस कविता में हाँककर शब्द अत्यन्त मार्मिक है । 'हाँकना' शब्द पशुओं को हटाने के लिए है । कवि द्वारा प्रयुक्त 'हाँककर' शब्द यह द्योतित करता है कि अधिकारियों की दृष्टि में गरीब लोग पशु के समान हैं ।

कवि सहाय साधारण जनों के कवि हैं । इसीलिए चित्रकार की भाँति रंगो का चमत्कार (बाह्य चमक-दमक) दिखाना उन्हें पसन्द नहीं है । 'रंगो का हमला'[9] शीर्षक कविता में कवि ने लोकभाषा के 'आँकना' शब्द का कई बार प्रयोग किया है । आँकना का अर्थ होता है– ठीक-ठीक मूल्यांकन करना, निशान लगाना और रेखाचित्र बनाना । आज के कुशल राजनीतिक कलाकार– भूखे लड़के, कड़े-छड़े पहने औरतों के प्रसन्न मुँख,

यहाँ तक कि मरे हुए चेहरों पर भी इस तरह रंग चढ़ाते हैं कि उनका वास्तविक रूप छिप जाय ताकि उनका ठीक मूल्यांकन न हो सके । एक अन्य कविता में उन्होंने बाल-मजदूर की दुरवस्था को अभिव्यक्त करने के लिए 'चीकट'[10] शब्द का प्रयोग किया है। 'चीकट' उसे कहा जाता है जिसके कपड़ों या शरीर पर मनो गंदगी चिपकी हुई होती है । इसी प्रकार एक गरीब लड़की को 'हड़ैली'[11] (जिसके शरीर में हाड़ ही हाड़ दिखाई पड़ते हैं) कहकर इन्होंने यह द्योतित किया है कि गरीबी ने उसके शरीर के सम्पूर्ण मांस को खाकर नरकंकाल का रूप दे दिया है जिसके कारण वह जिन्दगी लेस-पोतकर (किसी प्रकार साँस लेती हुई) जी रही है । इन स्थितियों में रघुवीर सहाय जैसे कवि हाथ में पोतना (फर्श साफ करने का गन्दा कपड़ा अथवा रसोईघर को साफ सुथरा रखने के लिए मिट्टी मिला कपड़ा) लेकर राजनीति के गंदे फर्श को उजला (साफ) करने का प्रयास करते हैं।[12] ये गरीबों के 'सीले बरोठे'[13] (सीलन से भरी हुई ड्योढ़ी)- जहाँ कोई जाना पसन्द नहीं करता है- पर जाकर चौखट से सटे हुए उनके निराश जीवन के भीतर प्रवेश कर उन्हें सांत्वना देते हैं ।

कवि प्राचीन परम्परा- यथास्थितिवाद या पूँजीवाद को 'घर-घुस'[14(अ)] (अपने ही घर में घुसा हुआ अर्थात् जो अपने कार्यो को ही श्रेष्ठ मानता है) कहते हैं । इसलिए इसे फलांग[14(ब)] (लांघकर) का एक नया समाज बनाना आवश्यक समझते हैं । कवि ने इसी प्रकार के अनेक लोकभाषिक शब्दों- वमचख, पावने, हगनी- मुतनी, एवजी, असवाव, सलोतर, कवायद आदि के प्रयोग से जन-सामान्य के सदियों से उपेक्षित-निराश्रित और पद-दलित जीवन के अभिशाप को द्योतित किया है ।

रघुवीर सहाय प्रतीक, उपमा और बिम्ब के प्रयोग से अपने को अधिक बचाकर कविता लिखते है।[15] उनकी दृष्टि में कविता की आत्मा कवि की वैचारिक पृष्ठभूमि है। उपमा कवि को बहकावे में डालती है।[16] इससे यह स्पष्ट होता है कि इनकी रचनाएं केवल

विचारों को अभिव्यक्त करती है। प्रतीक, बिम्ब, उपमा आदि कविता के बाह्य अङ्ग है, जिसका प्रयोग मात्र शोभा की वस्तु है। कोई कवि अपने को कितना ही नवीन बनाने का प्रयास करे किन्तु वह न चाहते हुए भी प्राचीन आधार पर अपने को एक पैर पर ही खड़ा पाता है। कवि रघुवीर सहाय भी इससे अछूते नहीं है । उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र उन प्रतीक, बिम्ब और उपमानों का प्रयोग पाया जाता है जिसके द्वारा आम आदमी की विपन्नता, विवशता, दुर्बलता और कष्ट सहने की क्षमता की अभिव्यक्ति होती है। 'मनुष्य मछली युद्ध'[17] कविता में मछली शोषित जनों की प्रतीक है । शोषक मनुष्य उसे नदी के मीठे पानी से निकाल कर खारे पानी वाले समुद्र में डाल देते हैं और उसका व्यापार करते हैं। जो मछली लंगड़ी होकर मीठे पानी वाली नदी (सुख-सुविधाओं) में आना चाहती है उन्हें आने के पूर्व ही मार डालते हैं ये शोषक वर्ग । 'पत्तों का धुआँ'[18] शीर्षक कविता में सूखे पत्ते के ढेर से उठता धुआँ शोषितों के जन-समूह में उठती क्रान्ति की आग है और हवा उन शोषकों की प्रतीक है जिसने अपनी शक्ति बल से क्रान्ति के उठते धुएँ को बुझा दिया। इसी तरह 'रचता वृक्ष' कविता भी प्रतीकात्मक है, जिसमें सूखे पत्तों (शोषित मन) द्वारा बनायी गई अल्पना (रचना) को हवा (शोषित जन) सदैव नष्ट करने को तत्पर है ।[19]

प्रतीकों की भाँति उनके बिम्बों में भी आम आदमी की संघर्षशीलता, जिजीविषा और ममता के बीच होने वाली द्वन्द्वात्मक स्थिति व्यक्त होती है । अकाल के एक दृश्य-बिम्ब में बाप अपनी गोद में एक कटोरा- जिसकी पेंदी में भात है- लेकर बैठा है । फर्श पर उसका पुत्र लेटा है । पुत्र को गोद में होना चाहिए और कटोरे को फर्श पर, किन्तु क्षुधानल ने ममता को जला दिया है ।[20] 'बच्चे की माँ' शीर्षक कविता भी अभावग्रस्त दीन-हीन माँ की अन्तहीन दुरवस्था की सजीव कहानी कहती है ।[21]

"भीड़ में मैकू और मैं" शीर्षक कविता में इन्होंने मार्मिक शब्द-बिम्ब और गन्ध-

बिम्ब प्रस्तुत कर पूँजीवाद की क्रूरता और शोषित दलित आम आदमी की सड़ी गली निर्जीव जिन्दगी की दुर्गति[22] को अभिव्यक्त किया है । 'सस्ते दाम की दुकान' के माध्यम से कवि ने यह कहकर- "हम गेहूँ देंगे और चीनी भी देंगे । क्योंकि चीनी के खाने का अनुभव जरूरी है । वे अपनी चीनी कुछ पैसा के बदले हमको देंगे"- चीनी के स्वाद बिम्ब[23] में एक मर्मभेदिनी रिक्तता का अनुभव कराया है । इसी प्रकार 'दयाशंकर'[24] शीर्षक कविता दयाशंकर की पत्नी के पुए खाने के स्वाद में एक दर्द युक्त कड़ुवाहट की अनुभूति कराती है ।

रघुवीर सहाय ने स्थल-स्थल पर न चाहते हुए भी विभिन्न प्रकार के बिम्बों के माध्यम से अपनी आत्मा को आम आदमी की वेदना में प्रविष्ट कराया है । बिम्बों की भाँति इनके कम प्रयुक्त उपमानों में भी आम-आदमी की मर्मस्पर्शी पीड़ा चित्रित है । शोषक पूँजीवाद की झूठी करूणा की क्रूरता को अभिव्यक्त करते हुए रघुवीर सहाय कहते हैं कि ताकतवर पूँजीवाद धरती निचोड़कर कमाई गई दौलत को गरीबों में इस प्रकार बाँटते रहते हैं जिससे उनको गरीबी की जगह मिलती रहे और हर समय एक इस प्रकार की क्रूरता पैदा होती रहे, जैसे एक कृत्रिम मौसम बनाकर असमय का पकाया हुआ फल-फूल होता है।[25] ऐसे लोगो की समेटी हुई धन की गठरी ठीक उसी प्रकार खाली हो जाती है जैसे जादू के खेल से भरी हुई टोकरी एक क्षण में खाली हो जाती है।[26] तभी रघुवीर सहाय ने चदरा (चादर) खोले हुए नंगी पागल पैदल स्त्री को एक बड़ी चिड़िया का उपमान देकर मनुजता पर पक्षीत्व का आरोप किया है । तभी गाड़ियों पर बैठे हुए शिकारी-स्वरूप शोषक वर्ग उस चिड़िया को शिकार की दृष्टि से देखते हुए निकल जाते हैं।[27] यह उपमान शोषक की हृदय-हीनता, असुरता और उसके क्रूर जङ्गलीपन को अभिव्यक्त करता है । इसी जङ्गलीपन के कारण बढ़ती हुई प्रेमशून्य 'हत्या की संस्कृति' में पली हुई रखैल स्त्री हत्यारे को उससे बिना कुछ लिए पतिव्रता की भाँति सेवा कर सब

कुछ दे देती है।[28] कवि ने आम आदमी के जीवन के हर कोने में प्रवेश कर उसकी विवशता को महसूस किया है । आम आदमी के लिए रेल के डब्बे में तृतीय श्रेणी (अब द्वितीय श्रेणी) सुरक्षित है, भले ही उसमें बैठने की जगह न हो । लोग उसमें बैठने के लिए कंधे पर बोझ धरे हुए ऐसे भागते हैं जैसे बमबारी के बाद नगर की सड़ांध लिए-दिये लोग दूसरे नगर को जाते है ।[29]

रघुवीर सहाय, जिन्होंने अपने खड़-खड़-खड़[30] करने वाले दरवाजे से लोक जीवन की ध्वनि को अच्छी तरह समझा है- अपनी कविता में लोक ध्वनियों का सुन्दर प्रयोग किया है । लोक-जीवन में व्याप्त ध्वनियों को उन्होंने केवल प्रयोगात्मक रूप ही नहीं दिया है वरन् उसमें एक ऐसे अर्थ का सृजन किया है जो कथ्य के समग्र रूप को मानवीय मूल्यों से जोड़कर प्रस्तुत करता है । 'महफिल में सितार' शीर्षक कविता में तबले का 'गिड़गिड़ा-गिड़गिड़ा' कर थक जाना केवल तबले की ध्वनि को ही नहीं द्योतित करता है वरन् शोषित के गिड़गिड़ाने[31] को (याचना भरी विनती) को अभिव्यक्त करता हुआ शोषक की क्रूरता को दर्शित करता है जो उसके गिड़गिड़ाने को अर्थहीन बना देता है । उन्हें न तो ठेले की खड़खड़ाहट, न दूधवाले के बर्तन की खनकती ध्वनि, और न ही दीन-हीन की चप्पलों के हकलाते हुए शब्दों की वेदना सुनायी पड़ती है।[32] पूँजीवादी व्यवस्था के अभिशाप स्वरूप चारों ओर अलगाव और संवेदनहीनता की काली छाया पसरी रहती है । ऐसी स्थिति में लोगों की विवशता इन लोक ध्वनियों से स्पष्ट होती हैं - "खौंखियाते हैं, किंकियाते हैं, घुन्नाते हैं / चुल्लू में उल्लू हो जाते हैं / मिनमिनाते हैं, कुड़कुड़ाते हैं .... झॉय-झॉय करते हैं, रिरियाते हैं / टॉय-टॉय करते हैं हिनहिनाते हैं / गरजते हैं घिघियाते हैं / ठीक वक्त पर चीं बोल जाते हैं।"[33] इस चीं बोल देने (असमर्थता प्रकट करने) के कारणों को कवि ध्वनियों के माध्यम से बताता है- "सभी लुजलुजे हैं, घुल-घुल हैं, लिब-लिब हैं / पिल-पिल हैं / सब में पोल है / सब में झोल है ।"[34] इन लोक ध्वनियों

में शारीरिक और मानसिक असमर्थता के साथ-साथ साहस और उत्साह की कमी को द्योतित किया गया है ।

लोक ध्वनियों के साथ-साथ इनके द्वारा प्रयुक्त लोक जीवन के मुहावरे पूँजीवादी शोषको द्वारा आम-आदमी को दी जाने वाली मौत से संघर्ष करते हुए विजय प्राप्त करते हैं क्योंकि वक्त के सामने इनकी लेखनी की भाषा की बधिया कभी नहीं बैठती है।[35] बधिया शब्द का अर्थ है- बंध्याकरण, नपुसंकता। अपनी आत्मा को बेच देने वाले गरीब की व्यथा नहीं लिख पाते हैं क्योकि उनकी लेखनी बधिया जाती है। वे उनकी व्यथा को कविता का विषय नहीं बना सकते जो प्रत्येक दिन चक्की पिसने[36] (कठोर कर्म करना) से अपने कार्य को प्रारम्भ कर सोने पर्यन्त तक ऐसे ही कठोर कर्म को करते रहते हैं। शोषितों के जीवन के क्षणों को वे कैसे देख पायेंगे, जिनकी पटिया चिकनी होती है[37] (जिसके मन पर सुख और दुःख का प्रभाव नहीं पड़ता है कमल पत्ते की तरह)। रघुबीर सहाय यह देखकर अत्यन्त दुःखी है कि इस देश में लोकतंत्र है किन्तु अधिनायक वाद का नग्न-नर्तन होता रहता है और इस नर्तन को प्रभावशाली बनाने के लिए डरे हुए बहुत से लोग बेमन ही बाजा बजाया[38] करते हैं (अधिनायक वाद का गुणोगान किया करते हैं)। दूसरों के बोझ को उसके घर तक अपनी पीठ पर ढोकर ले जाने की कामना करने वाले और इस कार्य में अपनी कोट की पीठ मैली[39] (अपमान की अनुभूति) न मानने वाले रघुबीर सहाय 'अपना खुद पकाना'[40] (अपनी विचार धारा के अनुसार चलना) पर विश्वास करते है। क्योंकि उनकी 'आँख खुल गयी'[41] (ज्ञान की प्राप्ति हो गयी) और उन्होंने महसूस किया कि इस संसार का अँधेरा सूरज से नहीं मिटेगा। इसे तो जन-क्रान्ति की कभी न बुझने वाली आग से ही मिटाया जा सकता है।

इनकी कविताओं में मुहावरों की भाँति कहावतों की भरमार नहीं है किन्तु यत्र-तत्र उनके प्रयोग ने कविता को जीवन्त बना दिया है। 'जैसी करनी वैसी भरनी' कहावत को

रघुबीर सहाय ने 'जैसा किया वैसा भरा' के रूप में प्रयुक्त कर खुशीराम जैसे गरीब व्यक्ति पर किये जाने वाले अत्याचार को बताते हुए शोषण वादी शासन पर व्यंग्य किया है।[42] खुशीराम को छुरा मारा गया है, लेकिन उस पर बदचलनी का आरोप लगाकर 'जैसा किया वैसा भरा' के सिद्धान्त को पुष्ट करना शासन-व्यवस्था के अन्याय को द्योतित करता है । इसी प्रकार 'असमय के बाजा'(कृत्रिम मौसम बनाकर पकाया हुआ बेफसल 'फल-फूल')[43] के द्वारा इन्होंने शोषितों पर किये जाने वाले क्रूर दया-भाव को अभिव्यक्त किया है। रघुवीर सहाय पुरानी मान्यताओं को तोड़कर नयी मान्यता की स्थापना के पोषक हैं। इसलिए इन्होंने 'अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग' कहावत को "बेसुरे लोग"[44] के रूप में ढाल कर सम्प्रदायवाद, जो उनकी दृष्टि में भारत की एकता का विध्वसंक तत्व है, पर सांघातिक प्रहार किया है। "सबसे बड़ा रूपैया" कहावत को "पैसा जो सिर्फ है मुआवजा मौत का" रूप देकर कवि ने गरीब-समाज में बढ़ती हुई संवेदन हीनता पर करूणा प्रकट की है। गरीब व्यक्ति के सामने सबसे बड़ी समस्या भूख की है। वह इसी समस्या के समाधान में अपने सारे आदर्शों और संवेदनाओं की हत्या करता रहता है।[45] क्योंकि 'मरता क्या नहीं करता है' ।[46]

रघुवीर सहाय वस्तुतः नवसर्जना के कवि हैं। इनके विचार अपने स्वयं के हैं। इसीलिए इनकी भाषा इनका शिल्प और शब्द-विन्यास प्राचीन परम्परा के विपरीत किन्तु सटीक अर्थों को अभिव्यक्ति देते हैं। इनकी दृष्टि में रचना वही है जो पाठक या श्रोता के मन में पतन के विकल्प को जागृत करे।[47]

"विकल्प की चेतना के विपरीत कविता केवल यथास्थिति वाद को पुनर्स्थापित करती हुई अपने समाज को और पतन की ओर ले जाती है। रघुवीर सहाय ने शिल्प और भाषा को नवीन रूप दिया है भले ही रचनाएँ दुरूह और नीरस हो गयी हों। इनकी रचनाओं में क्षोभ, आक्रोश, घृणा, करूणा आदि भावों की मार्मिक अभिव्यञ्जनाएँ हैं।

नाटकीयता की अपेक्षा इनकी कविताएँ गतिशीलता की अन्विति को बनाये रखती है, जिसके कारण विषय गम्भीर होने पर भी सहज-सरल और अन्तःस्पर्शी बन जाता है। यह बात सत्य है कि इनकी कविताएँ छन्द-मुक्त हैं किन्तु उनमें एक प्रकार की नवीनतम लय,गति और स्पन्दन है। सपाट बयानी की शैली में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सास्कृतिक विकृतियों पर गम्भीर चोट करते हुए ये कविताएँ पाठक को अपने साथ उस बिन्दु तक ले जाने में सफल सिद्ध हुई है जहाँ विकृत समाज की वास्तविकता को गहराई से अनुभूत किया जा सकता है।

इनकी भाषा आत्मीय, सहज व आत्म प्रवेशी है। लोक भाषा के शब्दों का विन्यास न कहीं कृत्रिम प्रतीत होता है न ही ऐसा प्रतीत होता है कि उनका प्रयोग किसी आवश्यक नियम को मानकर किया गया है। 'आत्महत्या के विरूद्ध' संग्रह की अधिकांश कविताएँ कवि के सामाजिक दायित्व बोध और अन्याय के विरूद्ध निर्भय होकर संघर्ष करने के संकल्प को द्योतित करती है। 'आत्महत्या के विरूद्ध' कविता की निम्न लिखित पंक्तियों -"न टूटे, न टूटे तिलस्म सत्ता का मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा टूट/मेरे मन टूट एक बार सही तरह/ टूट, मत झूठ-मूठ ऊब मत रूठ/ मत डूब सिर्फ टूट .....।"[48] में यदि किसी को आनुप्रासिक छटा का मोह दिखाई पड़ता हो या प्राचीन कवियों का मोह, तो यह चिन्तन अतथ्यपरक है । 'टूट' शब्द के कई बार प्रयोग में कवि की अन्तर्व्यथा द्योतित होती है जो उन्हें कृत्रिमता के पङ्क से निकालकर उस वास्तविक जीवन जीने की ओर जाने की प्रेरणा देती है जिसमें न छल है न दिखावा, न मन वाणी और कर्म में अनेक रूपता का वञ्चक मायाजाल ।

इनकी कविता में कभी-कभी ऐसे लोकभाषा के शब्द प्रयुंक्त होते हैं जिसे अश्लीलता की संज्ञा दी जा सकती है । जैसे- "अब भी वे झगड़ते होंगे / हगनी-मुतनी बातों पर।"[49] ये शब्द कवि के मन के तीव्रतम आक्रोश को अभिव्यक्त करते हैं । कवि

दुःखी है कि भारत के लोग विश्व में इतना आगे बढ़ जाने पर भी निरन्तर ओछी बातों में लिप्त रहकर प्राचीन परम्परा और निरर्थक बातों में लगे हुए अपनी चिन्तन शक्ति को कुण्ठित करते रहते हैं ।

वस्तुतः रघुवीर सहाय सहज व सरल जीवन के हिमायती रहे हैं । डा० रामास्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में कहे तो- "रघुवीर सहाय के लिए जीवन अपने सहज सामान्य रूप में भी सरस और रूचिपूर्ण जीने योग्य है, अतः उन्हें पाखण्ड करके अनुभव और भाषा को किसी रूप में अतिरंजित बनाने की कभी आवश्यकता नहीं पड़ी।"[50] उनकी भाषा सदा दुःखग्रस्त के आँसुओं को पीती रही और एक चीकट बिस्तरे पर शयन कर अपने सपने को भ्रष्ट होने से बचाती रही है।[51] निरन्तर उपयुक्त शब्दों की खोज में रहने वाले 'स्वच्छन्द कवि'[52] रघुवीर सहाय जब यह कहते हैं कि 'हमारी हिन्दी एक दुहाजू की नयी बीबी है।'[53] तो तुरन्त ऐसा लगता है कि ये अपनी भाषा का अपमान कर रहे हैं, किन्तु बात ऐसी नहीं है । वे हिन्दी के साथ किये गये दुर्व्यवहार से दुःखी हैं । वस्तुतः वे हिन्दी भाषा के हिमायती रहे है । 'हिन्दी भाषा' पर लिखी गयी कविता इसका स्वयं प्रमाण है । इनकी कविताएँ हिन्दी भाषा के अथाह सागर में डूबकर इन रत्न-रूप शब्दों को ढूंढ़कर लाती हैं जिनका निर्माण शोषितों के श्रम-बिन्दुओं, आँसुओं, विकराल धूप में बहने वाले स्वेद-कणों और रिस-रिस कर बहने वाले रक्त कणों से हुआ है । इन रसों की पहचान सहृदय पाठक ही कर सकते हैं ।

गिरिजा कुमार माथुर की कविता की भाषा और लोक संवेदना :-

प्रत्येक मानव के हृदय में एक क्रान्तिद्रष्टा कवि का बीज सुप्त रहता है । सभी में इस बीज का विकास समान रूप से नहीं होता है । कुछ का सुप्त पड़ा रहता है । कभी-कभी किञ्चिद् अनुकूल वातावरण पाकर अङ्कुरित भले ही हो जाय, पर पल्लव के पूर्व ही उसका विनाश भी हो जाता है । कुछ का बीज काल-चक्र के थपेड़ों से दग्ध कर

दिया जाता है । कर्मवाद के सिद्धान्त पर दृढ़ रहने वालों का बीज नया सूरज बनकर उन लोगों के गहनतम को दूर करता है जिन्हें जिन्दगी में न कभी सूरज का दर्शन हो पाता है, न सुधाकर के सुधारस का । ऐसे लोगों के लिए कवि की अन्तर्पीड़ा जब कविता बनकर आती है, तब अपने शाश्वत प्रकाश से उन्हें राह दिखाने का प्रयास करती है । गिरिजा कुमार माथुर इसी प्रकार के कवियों में से हैं, जिन्होंने सहज भाषिक-संवेदना के द्वारा अन्याय, अत्याचार, घृणा-द्वेष, हिंसा और शोषण के विरूद्ध आवाज उठाकर अपनी कविता को अकाल मृत्यु से बचा लिया है । इनकी कविताओं की मार्मिक पीड़ा पर-प्रत्यक्ष नहीं है वरन् स्वानुभूत प्रत्यक्ष का परिणाम है ।

गिरिजा कुमार माथुर की दृष्टि में विषय की मौलिकता के साथ-साथ कविता की प्रस्तुति की टेकनीक (शैली) भी मौलिक होनी चाहिए जिसके अभाव में कविता अधूरी रह जाती है । अपनी रोमानी कविताओं में ये छोटी और मीठी ध्वनि वाले बोलचाल के शब्दों का और 'क्लासिकल' कविताओं में लम्बी और गम्भीर ध्वनि वाले बोल चाल के शब्दों का प्रयोग करते हैं ।[1]

गिरिजा कुमार माथुर ने गाँव की मिट्टी के रस, गन्ध, स्पर्श, रूप और शब्द के सरोवर में डूबकर अपने को निर्मल किया है । इसलिए इनकी कवितायें जब आञ्चलिक शब्दों की बिन्दी को अपने माथे पर लगाकर प्रकट होती हैं तो यही प्रतीत होता है कि चन्द-किरणें अपने भाल पर कस्तूरी का तिलक लगाकर ग्रामीण फसलों को अमृत-रस से सींच रही हों । कवि की साँझ (संध्या) दिन डूब जाने के पश्चात् सलमों के तार की फरिया (ओढ़नी) पहन लेती है । कवि माथुर ने 'दियाधरी' और 'ढाकवनी' शीर्षक कविताओं में लोक-भाषिक शब्दों के प्रयोग से वहाँ के जनों की व्यथा को बड़े ही प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है- "निगल न ले इतिहास/ शेष जीवन की कोदो-काउनी।"[2] कोदो-काउनी एक प्रकार का निकृष्ट अन्न है जिसे अत्यन्त गरीब लोग खाकर

क्षुधा की आग को बुझाते हैं । कवि को दुःख है कि समय का चक्र यहाँ के गरीब लोगों के प्राणों का आधार निकृष्ट अन्नों को भी न निगल जाय ।

कवि की 'ढाकवनी'[3] कविता के 'हाड़िया' (मिट्टी के पात्र जिसमें गरीब लोग अपने अन्न को पकाते हैं), मचिया (बाँस और मूँज से बनी हुई छोटी चारपाई, जिस पर व्यक्ति बैठता है), कठौते (काठ के बने हुए पात्र जो आँटा गूँथने के काम आता है) लठ्ठ (लाठियाँ), गूदड़ (फटे-पुराने वस्त्र), वक्खर (बैलों को बाँधने का भूस निर्मित स्थान) आदि शब्द वहाँ के निवासियों- जो 'ठीकरे'[4] (टूटे हुए मिट्टी के पात्र के समान हैं)- की दुरवस्था को द्योतित करते हैं। ऐसे लोगों के व्यक्तित्व उस पत्थर के समान हैं जो 'गोफन'[5] (गुलेल) से पानी में फेंके जाने पर डूब जाते हैं और इनके दुःख दर्द की घुमेर[6] (चक्कर, परिक्रमा, गोलाकार भ्रमण) कभी समाप्त ही नहीं होती है ।

कवि की "एक अधनङ्गा आदमी" शीर्षक कविता, जो आज की शासन-व्यवस्था की विकृतियों का सशक्त चित्र खींचती है - में लोक भाषिक शब्दों का किया गया प्रयोग वास्तव में पाठक को अत्यधिक संवेदनशील बना देता है । प्रतिभा के सामने हर गद्दीदार आदमी 'गाबदी'[7] (अत्यन्त मूर्ख) है लेकिन इसी प्रकार के भोंदुओं (मूर्खों) की अपार भीड़ कनफुसियों में (काना-फूसी करती हुई) कहती है कि प्रतिभाशील चिन्तक अत्यन्त खतरनाक आदमी है । कवि माथुर ऐसे ही खतरनाक अग्नि-ध्वज बनकर अँधेरी रात में 'भभकना'[8] (प्रज्वलित होना) चाहते हैं ताकि असहाय आँखो को प्रकाश मिल सके लेकिन ऐसी विषम स्थिति में भी समाज और राष्ट्र के प्रहरी कवि, लेखक और सम्पादक अपने को बेचने के लिए खरीददार की टोह[9] (खोज) में संलग्न हैं। "एक अधनंगा आदमी" की कुछ पंक्तियां सड़क पर फेंके गये मलवे और कतरन-कूड़ों में अपने भाग्य को खोजने वाले शोषित जनों के स्वरूप को लोक प्रचलित शब्दों में अभिव्यक्त कर गरीबी दूर करने का नारा लगाने वालों के मुँह पर तमाचा मारती है । पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

भारी इस मलबे में/कतरन-कूड़े में/हीरे के ठीकरे ढूँढ़ते थे कुछ बेवकूफ/हाथों से सकेलते किचड़ते/दलिद्दर को/बच जाय / नस्ली गद्दारों से/घिरी हुई घरू धूप।"[10] इन पंक्तियों में ठीकरे, सकेलते, किचड़ते, दलिद्दर और घरू शब्दों के प्रयोग ने कविता को अत्यन्त संवेदनीय बना दिया है । भूखे-नंगे लोग कूड़े-करकट में भी हीरे के ठीकरे (मिट्टी के पात्र का टूटा हुआ टुकड़ा) ढूँढ़ते हैं ताकि इसके द्वारा वे अपने हाथ से अपने दलिद्दर (दारिद्र्य) को सकेल (हटा) सके । लेकिन इनका ऐसा सोचना भी बेवकूफी लगता है क्योंकि नस्ली गद्दार घिरी हुई घरू (घरेलू) धूप, जो सबके लिए सुलभ है- को भी आपने अधिकार में रखने का प्रयत्न करते हैं । इनसे कुछ बच जाय, तभी दीन-जन उसे प्राप्त कर सकेंगे । कवि की दृष्टि में भारतवर्ष में सब कार्य राम-भरोसे ही चलता है । इसलिए जब कोई मजदूर काम की तलाश में निकलता है तो गठरी-पुटरी (छोटी पोटरी) लेकर निकलता है । उसे ज्ञात नहीं कि उसका अगला दिन कैसा व कहाँ गुजरेगा ।[11]

गिरिजा कुमार माथुर ने इसी प्रकार लोक-बोलियों के अनेक शब्दों- चँदिरा[12] (चन्द्रमा), साँवर (श्यामवर्ण), हाँकना[13] (पशुओं को आगे बढ़ाना) घिघियाना[14] (दया की भिक्षा के स्वर में कहना), बरजती[15] (रोकती), झाँई[16] (धब्बा, काली छाया), चूर[17] (चूर्ण) के प्रयोग द्वारा लोक जीवन में व्याप्त पीड़ा को अत्यन्त सहजता से अभिव्यक्त किया है ।

गिरिजा कुमार माथुर की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वतन्त्र विचार रखते हुए भी बिम्ब, प्रतीक और उपमानों को लोक-जीवन से ग्रहण कर उसे मनोरम रूप प्रदान करते हैं । इनके बिम्बो में विचार व संवेग की एकात्मकता है जो विभिन्न प्रकार के बिम्बों को स्वतः जन्म दे देती हैं।[18] कविता यथार्थ की अनुकृति मात्र नहीं है वरन् वास्तविकता को एक कलात्मक आयाम देना ही कविता की यथार्थता है । 'शब्द' स्वयं एक संकेत या प्रतीक हैं । अन्तर बस यही है कि यह संकेत निश्चित अर्थ का अभिधान करता है । इसी के आधार पर ही लाक्षणिक और व्यंग्यार्थो की अभिव्यक्ति होती है किन्तु

कविता के प्रतीक अनेक प्रकार के उन अर्थो को अभिव्यक्ति देते हैं जिसकी सीमा कालातीत होती है । कुछ कवि ऐसे भी हैं जो प्रतीक और उपमानों के प्रयोग से अपनी कविता को मुक्त रखने का प्रयास करते हैं किन्तु अधिकांश कवि इन्हीं के माध्यम से अपनी कविताओं को और धारदार बनाने का सफल प्रयास करते हैं । माथुर जी ने इनके प्रयोगों में सचमुच नवीनता ला दी है ।

इनके बिम्ब-विधान के विभिन्न रूप एकदम नवीन हैं- "बच्चा । गुमसुम है निढाल है । कह तो कुछ सकता नहीं/बुझी हुई आँखों से सिर्फ देखता है । बीमार है।"[19] बीमार बच्चे का बिम्ब उसकी असहायता रूग्णता और असमर्थता की स्थिति को द्योतित करता है। परिवार की गरीबी जिसे वह बुझी हुई आँखो से देखता रहता है - ने उसे छोटी उम्र में ही गुमसुम बना दिया है । "मैं वक्त के हूँ सामने" संग्रह की एक कविता में इन्होंने चाँदनी के बिम्ब द्वारा शासन-व्यवस्था की चोरबाजारी की मर्मभेदनी व्यंजना की है[20] और गाँव के बूढ़े किसान के मुख से कहलवाया है- "गाँव पर अब भी अंधेरा पाख है / साठ बरसों में न बदली चाँदनी ।"[21] इसी प्रकार इनके शब्द-बिम्ब,[22] स्पर्श-बिम्ब,[23] रूप-बिम्ब,[24] रसबिम्ब,[25] गन्ध[26] आदि बिम्बों ने लोक जीवन की अन्तहीन पीड़ा को अभिव्यञ्जित किया है ।

बिम्बों की भाँति माथुर जी के प्रतीक भी अत्यन्त संवेदनशील हैं । कवि ने अपने कथ्य को पाठक के अन्तस्तल तक पहुँचाने के लिए कई प्रकार के- आग, बीज, रोशनी, चाँदनी, शिव-धनुष आदि-प्रतीकों का प्रयोग कर जीवन के सत्यात्मक तथ्यों को व्यंजित किया है । उन्होंने बहुत दिन पूर्व एक 'ललछौहा बीज'[27] गहरे में बोया था, इस पर अनेक प्रकार दबाव बढ़ते गये थे, किन्तु इसके जन्म को कोई रोक नहीं सका । यह ललछौहा बीज दबे-कुचले फटेहाल जनों की क्रान्ति का बीज है, जिसे कवि ने बहुत गहरे (गम्भीरता से) शोषितों के मन में बो दिया था । इस बीज को शोषकों ने नष्ट करने के

अत्यन्त प्रयास किये किन्तु इनका जन्म हो गया है । इसलिए आता हुआ वक्त खुशी से ताशा (दलितों का एक प्रकार का वाद्य यंत्र) और नगाड़ा बजा रहा है ।

"बौनों की दुनियां"[28] शीर्षक कविता का बौना साधारण शोषित जन है जिन्हें आजीवन घायल सिपाही की भाँति दूसरों के लिए ही जीना है । इसी प्रकार "इतिहास का सिंहासन"[29] आज की गुण्डागर्दी की राजनीति का प्रतीक है । माथुर जी के प्रतीक आम आदमी के जीवन की कड़वी सच्चाई के गवाह हैं । "ढाकबनी" का जंगल वनस्पतियों से भरा हुआ है किन्तु वे भिखारी इसलिए है कि उनके "हल" और "कुल्हाड़ी " भोथरे[30] (धार -विहीन) हो गये हैं । 'हल' और 'कुल्हाड़ी' का भोथरा होना उनकी शक्तिहीनता का द्योतक है । उन्हीं के जंगल से शोषक सारी सम्पत्ति छीन कर सम्पन्न होते जा रहे है किन्तु उनमें क्रान्ति करने की क्षमता न होने से उनसे विद्रोह नहीं कर पाते हैं ।

प्रतीकों की भाँति इनके उपमानों में लोक-जीवन की दर्द भरी कहानी है । 'ढाकबनी' के किसानों के दुःख से दुःखी सूरज जब डूबने लगता है तब सान्ध्यकालीन लालिमा नील गगन से इस प्रकार सिमटने लगती है जैसे दिनभर खेतों में काम कर वहाँ से लौटती हुई किसानों की बहुओं के मुख की रक्तिमा ।[31] कवि बड़ी कुशलता से द्वितीया के चाँद को उपमान बनाकर कहता है कि इन बहुओं के हाथ का हँसिया चाँद सा चमक रहा है ।[32]

गिरिजा कुमार माथुर की 'दियाधरी' शीर्षक कविता के उपमान अत्यन्त मनोरम हैं। वहाँ की पहाड़ियाँ वत्सला माँ के पयोधर सी दूध पिलाने को आतुर हैं और यहां का सूरज मुँह में माँ का आँचल लिए हुए बच्चे सा सो जाता है।[33] प्रथम उपमान में ग्रामीण जीवन की वत्सलता, ममता और सब कुछ अर्पण कर देने की लालसा अभिव्यक्त है जब कि दूसरे उपमान में बच्चे की क्षुधा की तीव्रता और माँ की विवशता द्योतित हो रही है । इनके उपमानों की विविधता इनकी कवित्व- शक्ति की गम्भीरता को व्यञ्जित

करती है । आम आदमी जो निरपराध बच्चे सा निर्मल-मन वाला है - जल्लाद के द्वारा किसी काले किले (क्रूर शासन) की दीवार पर से उसके द्वारा न किये जाने वाले अपराधों के लिए गिरा दिया जाता है।[34] यह सब इसलिए है कि समाज का अन्तःकरण मर गया है ।

माथुर जी शोषित किसान, मजदूरों और सताए हुए अन्य लोगों की पीड़ा दूर करने के लिए बार-बार जन्म लेने की कामना करते हैं । वे कहते हैं कि मेरा शरीर नष्ट हो जायेगा तो मेरा मन ज्वार के दानों में रहेगा और वह दानों के मींजने पर भूखों के लिए दूध साटपकेगा, सदानीरा निर्मला नदी सा बहकर किसानों, मजदूरों आदि को अपना जल पिलायेगा, अनार में सिन्दूरी फल सा श्रमिकों के मन को प्रसन्न कर उनके श्रम को फलीभूत करेगा और जितने भी अधूरे कार्य छूटे है उन्हें बार-बार नये रूप में जन्म लेकर पूरा करता रहेगा।[35] इस जन्म में तो उनकी कविताएँ हारे-थके पीड़ित-जनों की पीड़ा को उन्हीं के स्वरों में गाती उन्हीं को समर्पित है ।

इनकी कविताएँ लोक-जीवन की साँवली-मटियाली मिट्टी से उपजी हैं। इसलिए इनमें लोक-धुन की अनुगूँज है । इस अनुगूँज का प्रभाव हृदयस्पर्शी है । इन्होंने प्राचीन छन्द, सवैया को नये रूप में प्रस्तुत कर कविता की गेयता को माधुर्य प्रदान किया है । इनकी दृष्टि में व्यञ्जन ध्वनियों की अपेक्षा स्वर-ध्वनियों में ही कविता का सङ्गीत श्रोता को अपने में समाहित कर लेता है । इन्होंने स्वयं कहा- "शब्द की आत्मा स्वर ध्वनि है। इसी कारण इस पर अवलम्बित सङ्गीत आन्तरिक, गम्भीर और स्थायी है । वह आकाश तत्व का सङ्गीत है । वातावरण-निर्माण में मैने इसी की सबसे अधिक सहायता ली है । मुक्त-छन्द के अन्तः संगीत में इन्हीं ध्वनियों की गूँजे बुनी है ।"[36]

कवि ने वस्तुतः अपनी कविता को अनेक प्रकार की ध्वनियों के चयन से बहुत ही आकर्षक बना दिया है । इन ध्वनियों में लोक-ध्वनियाँ ग्राम्य जीवन की विवशता और

विकटता को अभिव्यक्त करती हैं । 'ढाकबनी' की पंक्तियों– "सनसनाती साँझ सूनी । वायु का कठला खनकता झीगुरों की खंजड़ी पर । माँस सा बीहड़ झनकता ।"[37] में सूनी साँझ का सनसनाना, वायु का खनकना, झीगुरों की खजड़ी (एक प्रकार का वाद्य यन्त्र), बीहड़ (उबड़-खाबड़ भूमि या जंगल) का झाँझ सा झनकना 'ढाकबनी' की भयावहता को द्योतित करता है । ऐसे कष्टप्रद स्थान में यहां के दलितों को रहना पड़ता है । इस भयावह वातावरण को नियाबाँ (जंगल) अपनी भयप्रद साँस से और डरावना बना रहा है। सुन्न (बेजान) छायाएँ, भी साँस की तीव्रता से डोलने लगती है । प्रत्येक स्थान पर गुपचुप आत्माएँ खड़ी हैं।[38]

कवि का रामभरोसे गाँव से शहर की ओर काम के लिए सरक रहा है। उसका शहर में और ठिकाना कहीं नहीं है। बोरी-बण्डल, टीन-टून के बर्तन-भाँड़े लिए हुए वह चल देता है। उसके हर कदम पर बवण्डर है। रामभरोसे की अन्तिम चीख गूँज जाती है और पुनः वह नहीं लौट पाता है।[39] यहाँ कवि ने ठौर-ठिकाना, बोरी-बण्डल, टीन-टून, बर्तन-भाँडे आदि लोक-ध्वनियों से श्रमिक रामभरोसे की विपन्नता की पराकाष्ठा द्योतित की है। 'हर कदम बवण्डर' में 'बवण्डर' से उत्पन्न ध्वनि अत्यन्त मार्मिक है। 'बवण्डर' एक प्रकार का चक्रवात है जो अपने घेरे में किसी को लेकर उसे उठाकर कहीं पटक देता हैं। हर कदम पर ऐसे 'बवण्डर' को झेलने वाले शोषित जनों के प्रति कवि ने अपनी व्यथा को अभिव्यक्त किया है । 'रैन हुई उजियारी' कविता में लोक-ध्वनियों का सुन्दर प्रयोग कर कवि ने दुःखी जीवन में आशा की किरण जगाने का प्रयास किया है । इस कविता- "रैन हुई उजियारी/चाँवर चौक पुराए मैंने/चंदा जोत उजारी । घर-आंगन पै चढ़ी जुन्हाई/वन जंगल में छाई । दूर देश की झाई देखूँ । चढ़के महल अटारी/चंदा उगे रहे रात भर । दूर-दूर तक उजयाला कर । परदेशी जो लौटे उनको । रस्ता लगे न भारी ।"[40] में उजियारी और उजारी दोनों ध्वनियाँ एक ही अर्थ 'उजाला' को अभिव्यक्त

करती प्रतीत होती है पर दोनों में अन्तर है । 'उजियारी' ध्वनि रात्रि के अँधेरे को क्रमशः उजला बनाने के लिए है और उजारी ध्वनि चन्द्र ज्योति की सतत निर्मलता को द्योतित करती है । जुन्हाई (चाँदनी) धीरे-धीरे घर-आँगन पर चढ़ रही है। वह वन-जंगलों में भी छा गयी है । पूरी कविता गेयता को लिए हुए लोक-जीवन में व्याप्त मधुरिमा को चाँदनी के माध्यम से व्यक्त कर रही है ।

गुजराती लोक-नृत्य 'गरबा' के साथ गाये जाने वाले गीत के आधार पर 'चाँदनी गरबा' लिखकर इन्होंने अपनी रचनाओं में लोक-जीवन के सुखात्मक-दुःखात्मक भावों का एक साथ ही चित्रण किया है । चाँदनी उभरे रोएँ को छुवाकर चली गयी है । इतना ही नहीं, चंचल नयन वाली हिरनी के समान गोरी चाँदनी किरणों की सींग चुभाकर एक अमिट व्यथा देकर चली गयी है।[41] इसी प्रकार इन्होंने 'लोरी',[42] 'भूले हुओं का गीत',[43] 'नौकागीत'[44] लिखकर जन-सामान्य की निशाओं में चाँदनी बिखेरने का सुन्दर प्रयास किया है ।

श्रम करने वाले मजदूर अपनी थकान को भूल जाने के लिए, एक दूसरे को प्रेरित करने तथा अपनी मंजिल पर पहुँचने के लिए "हाइसा" का बार-बार उच्चारण करते हैं इन्होंने इस शब्द का प्रयोग कर मानों उनके श्रम में अपने को शामिल कर लिया है ।[45]

प्रत्येक कवि पुरानी लीक छोड़कर चलते हैं । गिरिजा कुमार माथुर की कविता अभिनिश्चित लीक से हटकर नये मार्ग से चलती हुई लोकजीवन के अनछुए, अनकहे और अनदेखे चित्रों को नये प्रयोगों के साथ उपस्थित करती है । इनकी कविताओं में सर्वत्र नवीनता है । इनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरे भी नव-निर्माण और पुरातन-नाश के लिए उपस्थित होते हैं । एक ओर मध्यमवर्गीय क्लर्क का जीवन 'जीवनहीन मशीन' बन गया है,[46] (संवेदनाओं से रहित होकर निरन्तर कार्य में संलग्न रहना पड़ता है), निरन्तर दुःखों को झेलते रहने से उनका 'सुनहला सूर्य डूब गया है[47] (स्वर्णिम सुख समाप्त हो गया है),

वहीं दूसरी ओर शोषक वर्ग चाँदी के पहियों[48] वाली मोटरों पर चलते हैं । संवेदनशील कवि माथुर अन्याय से कभी समझौता नहीं करते हैं, चाहे शोषक वर्ग अपनी पन्नी मढ़ी तलवार को कितना ही भाँजता रहे[49] (अपनी झूठी बात साहस के साथ कहता रहे) । वे आदमी को आदमी और पत्थर को पत्थर[50] (सत्य कथन) ही कहते हैं । गिरिजा कुमार जैसे कवि ही 'नया सूरज उगाने'[51] (नूतन सर्जना) के लिए अग्निबीजों (क्रान्ति के बीज) को बोते रहते हैं ।

कवि माथुर देश के लुटेरे, भ्रष्ट और अन्याय प्रिय शासकों के अपकर्मो से इतना मर्माहत हैं कि हाथ में तेल पिये कोड़े को लेकर एक ही साथ गाड़ी को, घोड़े को (साधनों को) सईस (देश के चालक) को, सवार (तथाकथित राजाओं) को, खचड़े बागडोर को, खिचड़ी बाजार को, लोगों की ऐसी तैसी करते नेता के मोटे चाम को, फीते को, फाइल को, नमक-हराम को, शुभ लूटते गोदाम को, जौंक से शहर को पीटना चाहते हैं । इनका कल्लू लँगोटिया (केवल पहनने को लँगोटी है), चरवाहा, जुम्मन, जुलाहा, आलम, कूँजड़ा, घसीटा, चमार आदि सूनी-फटी आँखों से इंसाफ ढूढ़ते रहते हैं, पर इनको अपमान, गाली प्रताड़ना के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता है ।[52] जिस देश में नौकरी में, क्यू में, भगदड़ में, इण्टरव्यू में, चेयर में, फेयर में, योग्यता का मानदण्ड सिफारिश है और अक्ल, काबलियत, मौलिकता और साहस जूता खाने का नुस्खा है- "अक्ल और काबलियत मौलिकता और साहस/इनीसेटिव याने श्योर जूते खाने का नुस्खा।"[53] वह देश नहीं है, वरन् पुराणों का नरक और आम आदमी के लिए बधस्थल है ।

पुरातन शिव-धनुष (पुरानी परम्पराओं, रूढ़ियों को) तोड़ने वाले गिरिजा कुमार की भाषा आकाशीय विद्युत की भाँति चमककर हर फरेब को नग्न कर देती है ।[54] इस देश की गड्डमगड्ड व्यवस्था को पहचानने वाले कवि ने 'दिन-रात, हत्या-क्रान्ति, गोश्त-शान्ति, पब्लिक-प्राइवेट, जनता-नेता, चोरी-सीनाजोरी, बेइमान-दिलासे, ऐलान-उधार, वोट-विदेश,

गेहूँ-भुखमरी, कागज-हरी क्रान्ति, कालाधन-इन्क्वायरी, घिनौने उकसाये दंगे, गला फाड़ लड़ती बोलियाँ, नकली एकता, अछूत-योजना, आबादी, शरारती-आत्म निर्णय, घेराव और दुश्मन की दलाली आदि विकृत द्वन्द्वों[55] को देखा ही नहीं वरन् उसको तपस्वी की भाँति सहा है । अतः द्वन्द्वों की टकराहट से जन्मी हुई इनकी कविताओं की भाषा व संवेदना वायवीय जगत् की नहीं वरन् जमीन की व्यथाओं को बड़े मर्मस्पर्शी रूप में प्रस्तुत करती है ।

अज्ञेय की काव्य-भाषा और लोक संवेदना :-

अपने शैक्षिक जीवन के आरम्भ से ही भाषा के संस्कारित रूप का ज्ञान प्राप्त करने वाले कवि अज्ञेय की काव्यभाषा में कहीं भी अनगढ़-पन नहीं दिखाई पड़ता । पर भाषागत-संस्कारों को सहजता से अपनाने वाले अज्ञेय कहीं भी भाषिक दृष्टि से अत्यन्त जटिल प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वे जन-मानस के बीच प्रचलित सहज शब्दों के प्रयोग द्वारा अपनी भाषा का रूप निर्मित करते हैं। उनके अनुसार शब्दों से ही भाषा का निर्माण होता है । अतः (उनकी दृष्टि में) शब्द ही प्रमुख है । उन्हीं के शब्दों में "... सर्जक कवि का सरोकार भाषा से नहीं, शब्दों से होता है और रचनात्मक प्रयोग वास्तव में भाषा का नहीं शब्द का प्रयोग है ।"[1]

सहज शब्दों का प्रयोक्ता यह कवि शब्दों का संस्कार तो चाहता है, पर उनकी दृष्टि में वही संस्कारित शब्द सार्थकता को प्राप्त करते हैं जो "सर्व-संवेद्य" और "सर्वग्राह्य" बन सके । दूसरे शब्दों में कहें, तो जो शब्द कवि के कथ्य को पाठक तक सरलता से प्रेषित कर सके । अज्ञेय काव्य-भाषा की प्रेषणीयता पर अधिक बल देते हैं क्योंकि कथ्य का पाठक तक सरलता पूर्वक पहुँचना ही रचित साहित्य की सार्थकता व्यक्त करता है । उनकी दृष्टि में सम्प्रेषण दायित्वपूर्ण कलाकार की सबसे बड़ी समस्या है ।[2]

वैज्ञानिक युग ने व्यक्ति की सत्ता को चुनौती दी है । मनुष्य को यन्त्र बनाने

वाला विज्ञान उसकी शाश्वत संवेदनाओं पर प्रहार कर रहा है । अतः कवि की आत्मचेतनता नये संवेदनों के स्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए व्याकुल हो उठती है । इसी व्याकुलता का परिणाम है- 'प्रातिभ नूतन प्रयोग'[3]-जो अज्ञेय की काव्यभाषा को नये रूपों से सँवारती है । उनकी दृष्टि में आधुनिक कवि की संवेदनाएं अपूर्व होने से उनकी संप्रेषणीयता के लिए नवीन विधाओं का अन्वेषण आवश्यक हो जाता है । अतः कवि का दायित्व हो जाता है कि वह नयी विधाओं को ढूँढ़ ले ।[4] ताकि कवि का आत्मानुभूत सत्य सामान्यीकृत होकर सुगमता से पाठक तक पहुँच सके ।

किसी भी कला के विकास का पथ सीमाबद्ध नहीं होता । वैदिक काल से लेकर आज तक हृदय की संवेदनाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए न जाने कितने माध्यमों का आश्रय लिया गया। हर-एक युग का कवि प्राचीन माध्यमों को इसलिए नहीं नकारता कि वह प्राचीन है, बल्कि इसलिए नकारता है कि वह माध्यम उसे कथ्य को सम्पूर्णतः प्रकट करने में अपूर्ण लगता है । अतः नूतन-माध्यमों की सर्जना विवश कवि की स्वाभाविक संचेतना होती है । 'नूतन माध्यम' से तात्पर्य केवल नवीनता का प्रयोग ही नहीं, वरन् जो कवि के आत्मपरक सत्य को शीघ्रता से पाठक तक संप्रेषित कर सके । अतः भाषापरक नवीन प्रयोग कवि की मौलिकता के उद्घाटन के साथ-साथ सम्प्रेषणीयता और साधारणीकरण की शाश्वत समस्या का समाधान कर सृजन को सार्थक बना देते हैं । अज्ञेय ने भाषागत नूतन प्रयोग इन समस्याओं को ध्यान में रखकर ही किये हैं ।

'अद्यतन' में अज्ञेय ने कहा है कि रचते समय रचनाकार भाषा की चिन्ता नहीं करता ।[5] सर्वत्र अच्छी भाषा के सम्मान की बात कहने वाले कवि की ये पंक्तियाँ देखने में परस्पर विरोधी प्रतीत होती है क्योंकि अच्छी भाषा का चुनाव भाषा की चिन्ता से जुड़ा है। पर वास्तव में ऐसा नहीं है, क्योंकि वे भाषा को सम्प्रेषण का माध्यम ही नहीं मानते वरन् रचनाकार के व्यक्तित्व का पर्याय भी मानते हैं । अच्छी या संस्कारित भाषा उनके

व्यक्तित्व का पर्याय बन गयी है, तभी तो रचते समय उन्हें भाषा की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। और तभी तो वे यह कह सके हैं कि रचते समय वह भाषा की चिन्ता नहीं करते। वह स्वाभाविक होती है। कविता की रचना करते समय जब उपयुक्त शब्द स्वतः ही आ खड़े होते हैं तो कवि को उसे और तराशने की भला क्या आवश्यकता हो सकती है मगर जहाँ ऐसा नहीं हो सका वहाँ कवि ने उपयुक्त शब्दों का चुनाव भी किया है और कहीं-कहीं पुराने शब्दों से 'नया शब्द[6] रचकर' उसमें नया और प्रभावोत्पादक अर्थ भरने का प्रयास भी कियाा है। उन्नीत, खादर, बांगर[7] आदि इस तरह के प्रयोगों से सहजता बाधित होती है पर भाषिक-समृद्धता की दृष्टि से यह कत्तई अनुचित नहीं।

संस्कारित भाषा के प्रयोग के लिए प्रसिद्ध अज्ञेय लोकभाषा की शक्ति से अपरिचित नहीं थे। उनका अध्ययन व्यापक रहा है। प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विविध-क्षेत्रों की वे जानकारी रखते हैं। अतः काव्यानुभवों के साक्षात्कार के समय विविध लोक प्रचलित (तद्भव) शब्दों का आ टपकना उनके अध्ययन की व्यापकता को ही दर्शाता है। काव्य में सम्प्रेषण को महत्व देने वाले कवि अज्ञेय जन-हृदय की धड़कन से अनुप्राणित लोक-बोलियों में प्रयुक्त शब्दों के सार्थक प्रयोग द्वारा अपने कथ्य में या कविता में वह प्रभाव उत्पन्न करते हैं जो पाठक को कविता की ओर आकृष्ट करने में सहायक बनते हैं। भट्ठी (भस्त्रा), मर्जादा (मर्यादा), परछाई (परिच्छाया), भिखारी (भिक्षुक), उजली (उज्ज्वल), हुलास (उल्लास), दुबकी, ढार (धार), आँकना (अंकित), उनींदी (उनिद्रित), सांई (स्वामी), पिया (प्रिय), सेज (शैय्या), फुनगी (पुष्पाग्र), न्योतती (निमन्त्रण), अषाढ़ (आंषाढ़), हँसी (हास्य), खड़हर (खण्डहर), घुँघरू, छाँह (छाया), अनगिन (अगणित), महतो (महिष्मत्), मुट्ठी (मुष्टि), कोख (कुक्षि), बनिये (वणिक), टेंट, रूँधा (रूद्ध), मिट्टी (मृतिका), पोसना (पुष्ट), लाज (लज्जा), मुँहझौसी (मुख धूमित) चिहुँकना, पगडण्डी, चौखटा, फुलौड़ी छुलछुल, खुदबुद, चर्चर, झाग, झक्कड़,

डॉगर, चिरैया, चिऊरा, मचिया, अकास (आकाश), तलैया, रैन, बाट अगोरना, तिसूल, ठौर, कलौट, ओक, ठेका, फुरकन आदि अनेकानेक लोक-प्रचलित शब्दों का सफल प्रयोग करके उन्होंने भाषा की स्वाभाविकता व सहजता बनाये रखने का प्रयत्न किया है । लोक जीवन से जुड़ी हुई कविताओं में तो ये शब्द प्राण फूक देते हैं । 'औद्योगिक बस्ती', 'हरा भरा है देश', 'अहं राष्ट्री संगमनी जनानाम्', 'पावस-प्रात, शिलङ्', 'कतकी पूनो', 'पानी बरसा', 'मैं वहाँ हूँ' 'अनुभव परिपक्व' आदि कवितायें इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । सामान्य जनों के बीच प्रचलित उर्दू (जोखम, गेरबाँ) व अंग्रेजी (थेटर, सनीमा) के शब्द भी उनकी कविताओं में सहजता उत्पन्न करते हैं । संस्कृत के अल्प प्रचलित शब्द उनकी कविताओं को समझने में कठिनाई उत्पन्न करते हैं, पर सर्वत्र ऐसा नहीं है । संस्कृत भाषा का ज्ञान रखने वाले कवि अज्ञेय कहीं-कहीं संस्कृत की प्रचलित सूक्तियों[8] को भी अपनी कविताओं में रख देते हैं, जो भाषिक ज्ञान की दृष्टि से तो उचित है पर इस प्रकार के प्रयोग सहजता में बाधक बनते हैं । परन्तु अज्ञेय इस प्रकार के प्रयोग को आपद्धर्म मानते हैं क्योंकि कवि अपने अर्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए विवश है । वस्तुतः अज्ञेय ने अनुभूत व्यक्ति-सत्य को अपनी कविताओं के माध्यम से व्यापक सत्य बनाने का पूर्णतः सफल प्रयास किया है । इसलिए इनकी भाषा बोधगम्य होती चली गयी।[9]

शब्द की प्रतीकवत्ता उसकी आत्मा है । यह प्रतीक उसकी सांस्कृतिक धरोहर होती है और नूतन परिवेशों को भी अभिव्यक्त करती है । परिवर्तनशील संसार में कुछ शब्दों के लाक्षणिक तथा व्यंग्यार्थ भी परिवर्तित होते रहते हैं। इसलिए कवि शब्दों के माध्यम से साधारण से भिन्न अर्थ की प्रतीति कराने के लिए प्रयत्नशील रहता है । 'शब्द' को 'ब्रह्म'[10] मानने का तात्पर्य यही है कि शब्द जड़ नहीं है। वह प्राण-युक्त है । उनकी प्राणवत्ता का तात्पर्य यही है कि वह ब्रह्म की भाँति नित-नूतन अर्थों का प्रकाश करता

है। शब्द को ब्रह्म (सत्य) मानने वाले अज्ञेय शब्द से नूतन अर्थ प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयासरत रहे हैं । अतः साधारण शब्द भी कहीं-कहीं नूतन अर्थ-संवेदनों के कारण जटिल प्रतीत होते हैं, पर अर्थ के खुलते ही सहज प्रतीत होने लगते हैं ।

लोकजीवन से जुड़ी हुई कविता तभी प्रभावी रूप में अपने को व्यक्त कर पाती है जब सहज लोक-ग्राह्य शब्दों द्वारा उसे रचा गया हो । अगर ऐसा नहीं होता तो कविता अपने मूल-भाव को व्यक्त न कर सकने के कारण निरर्थक सी जान पड़ती है । अज्ञेय इस दृष्टि से सजग रचनाकार हैं । उनकी "वैशाख की आंधी"[11] शीर्षक कविता कथ्य व शिल्प की एकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, जिसमें लोक-जीवन के प्राण बसे हैं । इस कविता में बद्दल, झक्कड़, पछँवा, झगड़ैल, चिकोटी, इतराती आदि शब्दों के प्रयोग ने केवल वर्षा का ही वर्णन नहीं किया, वरन् इस बात को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया कि चाहे कितना ही कष्ट क्यों न मिले लेकिन अन्त में स्नेह की एक बूँद मिल जाती है, तो सम्पूर्ण वेदना सह्य हो जाती है । 'बद्दल' मस्त सूर्य को ढकने वाला श्यामल मेघ का चित्र ही नहीं है, वरन् उसमें किसानों के लिए जीवन की आशा भी छिपी है। इस प्रकार का बादल झक्कड़ लेकर आता है । झक्कड़ में 'जल' और 'वायु' मिश्रण की घनीभूतता अभिव्यक्त होती है। 'धूल' के लिए 'झगड़ैल' शब्द का प्रयोग ग्राम्य परिवेश को ही अभिव्यक्त नहीं करता, वरन् उस शाश्वत सत्य को प्रकाशित करता है कि सत्य की प्राप्ति की स्थिति में तमस् बरबस ही उसका रास्ता रोकने का प्रयास करता है । किन्तु जब पानी ऊपर से नीचे की ओर आता है । तब झगड़ैल धूल कितना ही इतराये, कितना ही चिकोटी काटे, लेकिन एक बूँद से पस्त होकर शरणागत हो जाती है । इस कविता में अज्ञेय ने बादल के जल के माध्यम से किसानों की संवेदना को अभिव्यक्त दी है । उसे कितना ही कष्ट क्यों न मिले, किन्तु उसे आशा रहती है कि ऊपर वाला बादलों के माध्यम से जल बरसा कर उसके सारे कष्टों को धूल-धूसिरत कर देगा । 'मैं वहाँ हूँ'[12]

शीर्षक कविता में कोदई खाता है और गेहूँ खिलाता है, मड़िया में रहता है और महलों को बनाता है, कज्जलपुता खानों में उतरता है पर चमाचम विमानों को आकाश में उड़ाता है, कचरा ढोता है, झल्ली लिए फिरता है, तन्दूर झोंकता है, रद्दी बटोरता है, रिक्शे में अपना प्रतिरूप लादे खींचता है-आदि प्रयोगों ने लोकजीवन की बेबस आँखो की छटपटाहट को हृदय-स्पर्शी रूप में अभिव्यक्त किया है ।

अज्ञेय जब लोकभाषा के शब्दों को "विशेषण" के रूप में प्रयुक्त करते हैं तो कविता नूतन संवेदनाओं को प्रस्तुत कर लोक जीवन की दुर्धर्ष कहानी कहती है । 'औद्योगिक बस्ती'[13]शीर्षक कविता में चिमनियों के विशेषण के लिए 'मुँहझौंसी' का प्रयोग किया है । लोकभाषा में मुँहझौंसी एक प्रकार की गाली है । 'मुँहझौंसी' का अर्थ जिसका मुँह झुलस गया है । वह जो कुछ भी कहती है वह सुनने वाले को धुँए के समान असह्य और असंवेद्य होता है । कवि ने चिमनियों को मुँहझौसी इसलिए कहा है कि उसका धुँआ लोक-जीवन के लिए असह्य होने के साथ उन्हें विनष्ट करने वाला भी है । इन उद्योगों में ग्रामीण अंचल के मजदूर जलते हुए लौह की भाँति स्वयं जलते रहते हैं, इस आशा के साथ कि वह शीघ्र ही दुःखों से मुक्त हो जायेंगे, किन्तु उनकी आशाएं ही बहेलिये की भाँति जाल बिछाकर उनको छलती रहती है ।

इसी प्रकार अज्ञेय ने 'अनुभव परिपक्व' कविता में लोकभाषा के 'खाली' शब्द को मिट्टी के विशेषण के रूप में प्रयोग करके गरीबी का ऐसा चित्र खींच दिया है जिसमें सहृदय डूबकर उबर नहीं पाता । 'खाली मिट्टी दे दो'[14] में 'खाली' विशेषण केवल मिट्टी का विशेषण ही नहीं है वरन् माँ की परवशता को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त है । बालक यह जानता है कि मेरी माँ अभाव की प्रतिमूर्ति है । उसे दीपावली के अवसर पर टीन का लट्टू लेने की अभिलाषा है । गुड़ियों के मेला में एक दो पैसे के कागज की फिरकी खरीदना चाहता है । पर यह जानकर कि, माँ यह दिलाने में असमर्थ है, अन्ततः

कहता है माँ मुझे बस 'खाली' मिट्टी दे दो । कवि ने बच्चे के द्वारा 'खाली मिट्टी' शब्द का प्रयोग कराकर बालक की अनुभव परिपक्वता के साथ-साथ माँ की आँखों की विवशता, उसके दारिद्र्य भरे जीवन तथा उसके वात्सलयपूर्ण जल से भरे नेत्रों को मूक अभिव्यक्ति दी है ।

अज्ञेय ने जहाँ कहीं भी विशेषण और विशेष्य को लोकभाषा में एक साथ रखा है वहाँ एक हृदय-संवेद्य अर्थ की उपस्थिति है । 'यह कली'[15] शीर्षक कविता में 'झुटपुट' अंधेरे शब्द का प्रयोग कवि ने बड़े प्रभावशाली ढंग से किया है । 'झुटपुट' का अर्थ होता है थोड़ा-थोड़ा अंधेरा हो जाने का समय अर्थात् सूर्यास्त का समय । 'झुटपुट' शब्द स्पष्ट करता है कि अंधेरा निरन्तर गहराता जायेगा । ऐसे समय में वह कली, जो पूर्ण यौवन को प्राप्त नहीं है यौवन सुलभ चांचल्य से रहित है, अत्यन्त भोली-भाली है, नगर के राजपथ में विद्युत प्रकाश में पैर रखती है और वहाँ वंचकों द्वारा उसका सर्वस्व हरण कर लिया जाता है । बिना लहर के ही ऐसे विषम ज्वाल में फँस जाती है जिसके अस्तित्व का उसे बोध ही नहीं था । अज्ञेय ने झुटपुट अंधेरे के माध्यम से ग्राम्य-जीवन की मर्यादित संस्कृति को ही अभिव्यक्ति प्रदान नहीं की, वरन नगर की अपसंस्कृति की नग्नता को भी उजागर किया।

अज्ञेय प्राचीन उपमान, बिम्ब व प्रतीक आदि को निरर्थक तो नहीं मानते, किन्तु उससे बंधे रहना भी उचित नहीं समझते । उन्होंने इस सन्दर्भ में "कलगी बाजरे की"[16] शीर्षक कविता में स्पष्ट किया कि अगर मैं प्राचीन उपमानों का सहारा नहीं लेता तो इसका मतलब यह है कि ये उपमान अपनी वास्तविक चमक खो चुके हैं, ठीक उसी तरह से, जिस तरह बर्तन अधिक घिसने से अपनी वास्तविक चमक या आभा खो देता है । अतः कविता को और अधिक प्रभावी बनाने के लिए नये उपमानादि का चुनाव कत्तई अनुचित नहीं है । नूतन प्रयोग करने की विवशता केवल अज्ञेय की ही नहीं है, जो भी

सृजनशील, प्रतिभा सम्पन्न कवि होगा, वह नयी प्रभावकारी सृष्टि के लिए अवश्य ही व्याकुल रहता है । अज्ञेय ने कुशल कवि की भाँति नव-उपमानों बिम्बों व प्रतीकों के द्वारा नूतन व सहज प्रभावी अर्थ की सर्जना करने में सफलता प्राप्त की है । वे सिर्फ नवीनता के ही आग्रही नहीं रहे हैं वरन् पुराने प्रतीकों, बिम्बों व उपमानों को नये रूप में प्रस्तुत करने में भी सफल रहे हैं ।[17]

लोक संवेद्य भावों की सृष्टि में अज्ञेय के उपमान सर्वत्र सफल रहे हैं क्योंकि वे लोक-जीवन के बीच प्रचलित रूपाकार के सृजन के लिए ही कविता में अवतरित होते हैं । "मैंने कहा पेड़" शीर्षक कविता में कवि अज्ञेय मिट्टी के महत्व को जीवन से जोड़ते हुए कहते हैं कि वृक्ष की जड़ें मिट्टी में जितनी नीचे होती हैं उतना ही वृक्ष आकाश में उठता जाता है।[18] उनकी दृष्टि में मिट्टी केवल मिट्टी मात्र नहीं वरन् दीन-दलित, व्यथित का जीवन है । जिसकी आत्मा दीन-दुखियों के पंकिल जीवन में जितनी गहराई तक प्रविष्ट होने में समर्थ होती है, वह व्यक्ति भी उतना ही उत्थान या यश को प्राप्त करता है ।

"औद्योगिक बस्ती"[19] शीर्षक कविता में कवि ने माल से लदी हुई रेल (उपमेय) की तुलना चिहुंकती, रंभाती और अफराये डॉगर से की है । डॉगर दुबले-पतले चौपाए को कहा जाता है । इस 'डॉगर' उपमान के लिए विशेषण रूप में कवि ने तीन शब्दों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है । 'चिंहुकती' विशेषण डॉगर के भय को अभिव्यक्त करता है। 'रंभाती' विशेषण उसकी उत्कंठा को और 'अफराये' विशेषण उसकी रोग-ग्रस्तता को अभिव्यक्त करता है । "डॉगर" शब्द यह बताता है कि जैसे दुबला-पतला पशु चलने में लड़खड़ाता रहता है उसी प्रकार रेलगाड़ी भी माल से लदी होने के कारण धीरे-धीरे लड़खड़ाती हुई चल रही है । इसीलिए कवि ने उसकी चाल को अभिव्यक्त करने के लिए 'ठिलती चलती जाती है,' कहा है । मजदूरों के खून-पसीने से कमाई हुई सम्पत्ति को लादे

हुए रेलगाड़ी डांगर के समान चिहुँकती हुई (भय खाती हुई), रंभाती हुई (वेदना को प्रकट करती), अफराती हुई (शोकग्रस्त), ठिलती चली जाती है। कवि यह कहना चाहता है कि निर्जीव रेल भी मजदूरों के प्रति किये गये अन्यायों को सह नहीं पाती किन्तु सचेतन पूँजीपति कुछ टुकड़ों के लिए मजदूरों के खून-पसीने से क्रीड़ा करते हैं।

'शोषक भैय्या'[20] शीर्षक कविता में कवि ने शोषितों के रक्त की उपमा सागर की सुन्दर लहर से की । कवि शोषित के माध्यम से शोषक को चुनौती देते हुए कहता है कि तुम मेरे रक्त को जितना चाहो उतना पी लो । सागर शोषित व्यक्ति है और उसका पानी शोषितों का रक्त । सागर सभी आघातों को सह लेता है । शोषित भी शोषकों के सारे अत्याचारों को सह लेता है, किन्तु एक दिन ऐसा आता है कि सागर की लहरें जैसे तट को विलीन कर देती हैं उसी प्रकार शोषितों के रक्त की धारा शोषकों को अपनी क्रान्ति की लपटों में विलीन कर देती है । कवि का उपमान 'सागर की लहर' एक ओर बाह्य-सौन्दर्य को अभिव्यक्त करती है तो दूसरी ओर उसके भीतर जलती विष की ज्वाला को भी अभिव्यक्त करती है । सागर का अर्थ ही होता है- 'सगर से उत्पन्न होने वाला'। 'सगर' का अर्थ होता है- 'गरल से युक्त' । शोषितों का रक्त भी गरल से युक्त है । इस अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने 'सागर की लहर' उपमान रखा है । लहर शब्द बाह्य रूप में भले ही मनमोहक हो, किन्तु यह वह विष की लहर है जो शोषक के लिए एक दिन काल बनेगा । जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा- "वह मैं नहीं, वह तो तुम्हारा मेरा सम्बन्ध है जो तुम्हारा काल है/शोषक भैया ।"

कवि ने 'सागर की लहर' उपमान के माध्यम से शोषकों को भयाक्रान्त ही नहीं किया है वरन् शोषितों को सफल क्रान्ति करने की प्रेरणा प्रदान की है ।

काव्य में प्रेषणीयता व प्रभ विष्णुता की वृद्धि हेतु अज्ञेय प्रतीकों की अनिवार्यता स्वीकार करते हैं । पश्चिमी प्रतीकवादियों से परिचित अज्ञेय की कविताओं में प्रतीकों की

अधिकता है । उनकी कुछ कविताएँ- 'यह कली',[21] 'केले का पेड़',[22] 'यह द्वीप अकेला',[23] आदि पूर्णतया प्रतीकात्मक होने से व अन्य कविताओं में भी प्रतीकों की बहुलता होने से उन पर प्रतीकवादी होने के आरोप लगे । पर अज्ञेय प्रतीकवादी नहीं है । क्योंकि प्रतीक उनके लिए साध्य नहीं, बल्कि सम्प्रेषण का महत्वपूर्ण साधन है ।[24] उनके अनुसार "जो सीधे-सीधे अभिधा में नहीं बँधता, उसे आत्मसात करने या प्रेषित करने के लिए प्रतीक काम देते हैं ।"[25]

उन्होंने जिस तरह से शब्दों को नये-नये अर्थो से सँवारा, उसी तरह पुराने प्रतीकों को (दीप, बत्ती, शिखा, घट, नदी, कली, नौका, चाँद, तारा, सूर्य, मछली, बूँद, सागर, लहर, तट, पगडण्डी, भोर टेसू आदि) नयी प्रतिपत्ति के साथ प्रयुक्त किया । साथ ही नयी संवेदनाओं के अनुरूप साँप, द्वीप, गिरगिट, हरी घास, अहेरी, दोलती कलगी बाजरे की, सागर लहर आदि नये प्रतीक स्वतः उपस्थित होकर उनकी कविता को हृदय-संवेद्य बनाते हैं । उनके अधिकांश प्रतीक प्रकृति से लिए गये हैं, जो लोक जीवन व उनकी संवेदनाओं की सफल अभिव्यक्ति करते हैं । जीवन्न के बीच से चुने गये प्रतीक भी उनकी कविताओं में यत्र-तत्र बिखरे हैं, जो नये अर्थ के द्वारा नवीन परिचय का रस प्रदान करते हैं ।

'टेसू'[26] शीर्षक कविता में अज्ञेय ने ग्रीष्म को क्रान्ति का प्रतीक माना है । ग्रीष्म रूपी क्रान्ति जब लू के दुर्दमनीय घोड़े पर चढ़कर आयेगी, तो कवि की दृष्टि में वह विकराल अग्नि से उत्पन्न होने वाला अवतार पुरूष ही होगा । जब-जब यह वसुन्धरा दुष्टों के अत्याचार से परितप्त होती है, तब तब भगवान अवतार लेकर दुष्टों का संहार करते हैं । अज्ञेय की दृष्टि में क्रान्ति अवतारी पुरूष है और टेसू पुष्पक्रान्ति के अग्रदूत का प्रतीक है । यह अग्रदूत वनखण्डों में मशाल के रूप में प्रज्वलित होता रहता है जो क्रान्ति के आगमन की सूचना देता है । यह क्रान्ति आधारहीन, असभ्य, अत्याचारी नगर

को जलाने में सक्षम है । जब तक इसका आगमन नहीं होता, तब-तक वसुन्धरा का अपने पति-रूप पावस से मिलना सम्भव नहीं होगा । अर्थात् क्रान्ति से ही व्यथित धरित्री का कल्याण सम्भव होगा । यह 'टेसू' प्रतीक व्यथित लोगों के प्रति अज्ञेय की संवेदनाओं को व्यक्त करता है । 'मरू और खेत'[27] शीर्षक कविता में अज्ञेय ने मरू को ऐसे वज्र-हृदय वाला पूँजीपति माना है, जिसके हृदय में ममता नहीं है और खेत को गरीब दुःखी किसानों के रूप में चित्रित किया है । ममताहीन पूंजीपति कभी विकराल लू बनकर किसानों या दीन-दुखियों के हृदय को जलाता रहता है और कभी पाला के रूप में उनके द्वारा श्रम से अर्जित किये गये अनाज या उनकी तुच्छ सम्पत्ति को विनष्ट कर देता है । किन्तु किसान या दलित वर्ग इन अत्याचारों को हँस कर सह लेता है । क्योंकि उनमें जिजीविषा है, नूतन सर्जना की अभिलाषा है, इसलिए वह कहता है कि मेरी छाती से एक दिन क्रान्ति का अंकुर फूटेगा जो मेरे जैसे सताये हुए लोगों के अपरिमित आनन्द का कारण बनेगा ।

"बत्ती और शिखा"[28] शीर्षक कविता में कवि ने अपनी लोक-संवेदना को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यंजित किया है। बत्ती श्रम-जीवियों की प्राणोत्सर्ग की भावना को व्यक्त करती है और शिखा पूंजीपतियों के वैभव की प्रतीक है । श्रमजीवियों के हृदय को निचोड़-निचोड़कर पूँजीपतियों की वैभवरूपी शिखा अपनी अरूणिमा को बिखेरती रहती है। पूँजीपति रूपी शिखा इतनी कृतघ्न है कि जिसके रक्त से उसके वैभव का निर्माण होता है, उसी के सिर पर पैर रखकर अन्य पूँजीपतियों से सॉठ-गॉठ करती है । यह बात श्रमजीवियों के दुःख को दूना करती है । किन्तु फिर भी उसे तो पूँजीपतियों के ऐश्वर्य को बर्धित करने के लिए क्षण-क्षण जलना ही पड़ता है ।

"कॉच के पीछे मछलियाँ"[29] शीर्षक कविता में मछली उन असहाय और निर्बल व्यक्तियों की प्रतीक है, जिसे पैसेवाला मनचाहे दाम पर खरीदता है । जिस प्रकार

गाड़रियाँ मौत को सामने देखती हुई भी अपने को (विवशता के कारण) समर्पित कर देती हैं उसी प्रकार दलित व पीड़ित अपनी मौत से स्वयं समझौता कर बेबसी के कारण अपने को बेचता रहता है। उसका आहार बनाने वाला पूँजीपति बड़े प्रेम से आपस में मिलजुल करके उसे खाता रहता है अर्थात् शोषण करता रहता है ।

कथ्य को सम्पूर्णतः पाठक तक पहुँचाने की ललक रखने वाले अज्ञेय नूतन माध्यमों की सर्जना करते हैं, पर इनके नये प्रयोगों में लोक प्रचलित शब्दों, लोक-बिम्बों व लोक प्रतीकों की कमी नहीं है । उनके नये प्रयोग कवि की विवशता को द्योतित नहीं करते, वरन् स्वाभाविक रूप से कवि की लेखनी को नयी आभा दे जाते हैं । सीधे लोक जीवन से जुड़ी हुई उनकी कवितायें तो भाषिक-सहजता के कारण स्वतः ही खुलती चली जाती हैं । ऐसी कविताएं कम अवश्य हैं, पर इनका प्रभाव चिर स्थायी है ।

निष्कर्ष :-

परिवर्तन संसार का दूसरा नाम है । जब तक नूतन-सर्जना है तभी तक संसार का सौन्दर्य है । इसी परिवर्तन को आधार बनाकर इन स्वातन्त्र्योत्तर कवियों ने प्राचीन सभी रूढ़ियों को तोड़ने में सफलता प्राप्त की है । इनकी आरम्भिक रचनाएं भले ही मार्क्सवादी विचारों से अप्रभावित रही हों, किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारत के शासकों की कुटिल शासन-नीतियों ने प्रत्येक जागरूक कवि को मार्क्सवाद के प्रभामण्डल की ओर आकर्षित होने को बाध्य कर दिया। मार्क्सवाद के चिन्तन ने कवियों के विचारों के साथ-साथ उनकी भाषा को भी प्रभावित किया है ।

यह स्वाभाविक है कि नदी जब पहाड़ी मार्ग को छोड़कर मैदानी भाग की ओर बहेगी, तो उसके जल में सर्वाङ्गीण परिवर्तन होगा। हिन्दी के विकास की लम्बी परम्परा में परिवर्तन कर कवियों ने भाषा की तलाश में नये प्रयोगों को स्वीकार कर भाषा को सशक्त बनाने का प्रयास किया है। इससे कुछ कवियों की भाषा दुरूह हो गयी, पर उनकी

लोक-संवेदना से सम्बद्ध कवितायें सहज स्वाभाविकता लिए हुए जन-समुदाय को प्रभावित करने में सक्षम हैं । नागार्जुन, धूमिल, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन ऐसे कवि हैं जिनकी भाषा सरल, सपाट और सहज है । इनमें भी नागार्जुन ने मैथिली भाषा के शब्दों और त्रिलोचन ने अवधी भाषा में आम आदमी की संवेदनाओं को सजीव रूप में प्रस्तुत किया है । इन दो कवियों के बिम्बों, उपमानों और प्रतीकों में सचमुच समाज के सामान्य जनों की असहनीय पीड़ा के साथ-साथ उनके जीवन के खुशी के क्षणों की भी सफल अभिव्यक्ति हुई है । केदार नाथ की सरल और सुबोध भाषा ने भी बिम्बों, प्रतीकों और उपमानों को नये रूपों में प्रयुक्त कर दल-दल में साँस लेने वाले दलित शोषित के अछूते जीवन के प्रत्येक तन्तुओं को चित्रित किया है । धूमिल भी नागार्जुन, त्रिलोचन व केदार से पीछे नहीं है । उनकी भाषा में जो आग है वह अन्य कवियों में नहीं है । इन कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त लोक-ध्वनियों ने कविता को अत्यधिक सशक्त बना दिया है । नागार्जुन और त्रिलोचन ने प्रकृति की प्रत्येक क्रिया-जन्य ध्वनियों को अपनी कविताओं में इस प्रकार समाहित किया है, मानों प्रकृति अपने निनाद को इनकी कविताओं के शब्दों में प्रविष्ट कराने के लिए स्वयं चली आ रही हों । केदारनाथ अग्रवाल और धूमिल ने भी प्रकृति की ध्वनियों को स्वाभाविक रूप में अपनी भाषा में आबद्ध किया है । इन कवियों की प्राकृतिक ध्वनियों में लोक जीवन की संवेदनाएं अन्तर्निहित हैं ।

गिरिजा कुमार माथुर की भाषा प्राञ्जल, किन्तु सरल है । उन्होंने अपनी भाषा को अकृत्रिम ही रखा है । यद्यपि ये अलङ्कार, प्रतीक, बिम्ब और उपमानों के अधिकाधिक प्रयोग से अपनी कविताओं को बचाते हैं । किन्तु ऐसा नहीं हो पाया है । इनके दृश्यादि बिम्बों में लोक-जीवन की मर्मान्तक संवेदना है । इनका दृश्य-बिम्ब पाठक को आम-आदमी के हृदय में प्रवेश कराने की क्षमता रखता है । रघुवीर सहाय ने स्पष्ट रूप से कविता के कलापक्ष से अपनी रचना को मुक्त रखने की उद्घोषणा की है ।

इनकी रचनाओं में उपमान, प्रतीक और बिम्ब कम मिलते हैं । सपाट बनायी इनकी कविता की विशेषता है जिसके द्वारा वे सत्ता व व्यवस्था पर गहरी चोट करते हैं । अज्ञेय प्राचीन उपमानों को 'मैले' और 'बासी' की संज्ञा देकर नवीन उपमानों, नव-बिम्बों व प्रतीकों से अपनी रचनाओं को नया रूप प्रदान करते हैं । उनके नये प्रतीक आम-आदमी की संवेदना को बड़ी गहराई से व्यक्त करते हैं । मुक्तिबोध अपनी लम्बी कविताओं में दृश्य और श्रव्य-बिम्ब को एक साथ प्रस्तुत करते हैं । इनके उपमान, प्रतीक व बिम्ब सर्वथा नवीन और आम आदमी की व्यथाओं को व्यंजित करने में सफल हुए हैं । मुक्तिबोध की लम्बी कविताओं की विशेषता यह है कि वे सम्पूर्ण वातावरण की सर्जना कर आम आदमी के प्रत्येक क्रिया-कलापों व शोषक वर्ग के कुकृत्यों को दृश्य के रूप में प्रस्तुत कर देते हैं।

आम-आदमी की संवेदनाओं को प्रभावी रूप में अभिव्यक्त करने के लिए सभी कवियों ने लोकजीवन में व्याप्त शब्दों, मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों का आश्रय लिया है। कवि का कथ्य भले ही आम जीवन की व्यथा कथा कहता हो, पर 'माध्यम की जटिलता' आम पाठक को आकर्षित में उसे अक्षम बनाती है । इस बात को ध्यान में रखते हुए इन कवियों ने माध्यम की सरलता का विशेष ख्याल रखा है । मैथिल, अवधी बुन्देलखण्डी व ठेठ ग्रामीण शब्दों की छटा बिखेरती व मुहावरों, कहावतों से सुसज्जित नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार व धूमिल की कवितायें आम पाठक को आकर्षित करने में पूर्णतया सक्षम है । यों तो मुक्तिबोध की कविताओं में भी लोक प्रचलित शब्दों व मुहावरों-कहावतों की कमी नहीं है पर शैली की जटिलता उन्हें दुरूह बनाती है । अतः उनकी कविताएं आम आदमी के जीवन की व्यथा अभिव्यक्त करते हुए भी आम-पाठक से दूर हो जाती है । गिरिजा कुमार माथुर, रघुवीर सहाय और अज्ञेय की रचनाओं में इस प्रकार के प्रयोग अल्प हैं किन्तु अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं ।

वस्तुतः जीवन की बहुविध जटिलताओं को पहचानने वाले देश की गौरवशाली जनपक्षीय धारा से जुड़े रहने वाले, जनता से, एकात्मक भाव-सम्बन्ध बनाने वाले इन कवियों ने कथ्य व काव्य-भाषा दोनों ही संदर्भों में लोक से जुड़कर अपनी स्वाभाविक पहचान बनायी है ।

पंचम अध्याय - सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

नागार्जुन की कविता और भाषा संवेदना

(1) "वे और तुम" (शीर्षक कविता), उद्घृत – नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2, सम्पादक शोभाकान्त , पृ0 145 ।

(2) "मास्टर" (शीर्षक कविता) , उद्घृत–नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2, सम्पादक शोभाकान्त मिश्र, पृ0 98 ।

(3) "दूर, एक टेकरी पर विराजमान है मादा भेड़िया"। "भेड़िया के चरणों में"– शीर्षक कविता । उद्घृत-"नागार्जुन"–डा0 प्रभाकर माचवे, पृ0 84 ।

(4) "निकला हवा खाने/गेहुअन का पोआ"।"

"वणिक्य पुत्र" (शीर्षक कविता) , नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2, सम्पादक शोभाकान्त मिश्र, पृ0 83 ।

(5) "धरती धरती है/पेन्हाई हुई गाय नहीं ।"

"धरती" (शीर्षक कविता), नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2 , सम्पादक शोभाकान्त पृ0 80 ।

(6) "अन्न पच्चीसी" (शीर्षक कविता) नागार्जुन : चुनी हुई रचनायें–2 , सम्पादक शोभाकान्त पृ0 204 ।

(7) "खुरदुरे पैर" (शीर्षक कविता) ,

उद्घृत – नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2 , सम्पादक शोभाकान्त पृ0 121।

(8) "तुम तो नहीं गयी थी आग लगाने" (शीर्षक कविता) ,

नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2 , सम्पादक शोभाकान्त मिश्र पृ0 209

(9) "क्या हम" (शीर्षक कविता)

उद्घृत – नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2 , सम्पादक-शोभाकान्त मिश्र, पृ0 272

(10) ''कारों के जमघट देखो, देखो कुबेर के छौने'' । ''यह उन्मत्त प्रदर्शन'' (शीर्षक कविता) नागार्जुनः – डा0 प्रभाकर माचवे, पृ0 63।

(11) ''चाट रहे हैं कुछ प्राणी बाहर जूठन (उच्छिष्ट) के दोने ''।
''यह उन्मत्त प्रदर्शन'' (शीर्षक कविता)'' नागार्जुनः'' –डा0 प्रभागर माचवे, पृ0 63 ।

(12) ''घिन तो नहीं आती है'' (शीर्षक कविता),
उद्घृत – ''नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2'' – सम्पादक शोभाकान्त मिश्र पृ0 133 ।

(13) ''पूरी स्पीड में है ट्राम '' ''घिन तो नहीं आती'' (शीर्षक कविता) ,
उद्घृत – ''नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2'' – सम्पादक शोभाकान्त मिश्र पृ0 133 ।

(14) ''खाली है थाली , खाली है प्लेट''
''खाली नहीं और खाली'' (शीर्षक कविता) ,
उद्घृत – ''नागार्जुनः चुनी हुई रचनायें–2'' – सम्पादक शोभाकान्त मिश्र पृ0 60।

(15) ''सपूत क्या ऊपरसे टपके हैं ?'' शीर्षक कविता।
प्यासी पथराई ऑखें (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 17।

(16) ''आदम का तबेला'' शीर्षक कविता।
''प्यासी पथराई ऑखें'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 18।

(17) ''26 जनवरी, 15 अगस्त'' शीर्षक कविता।
''तुमनें कहा था'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 81।

(18) ''इनकी उर उष्मा में अब ये/जेल–सेल सब गल जायेगें। कब होगी इनकी दीवाली?''
(शीर्षक कविता), खिचड़ी विप्लव देखा हमने (क0सं0) – नागार्जुन , पृ0 94।

(19) '' अकाल और उसके बाद'' (शीर्षक कविता)
''सतरंगे पंखों वाली'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 32।

(20) ''ऐसा क्या अब फिर–फिर होगा'' – (शीर्षक कविता) ।

''सतरंगे पंखों वाली'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 58–59।

(21) ''गीले पॉक की दुनिया गई है छोड़'' (शीर्षक कविता) ।

''सतरंगे पंखों वाली'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 52–53।

(22) ''आदम का तबेला'' (शीर्षक कविता) ।

''प्यासी पथराई ऑखें'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 18।

(23) ''मुर्गे ने दी बॉग'' शीर्षक कविता।

''खिचड़ी विप्लव देखा हमनें'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 65।

(24) ''छोटी मछली शहीद हो गई'' शीर्षक कविता।

''खिचड़ी विप्लव देख हमनें'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 40।

(25) उद्घृत-''नागार्जुन की कविता''– अजय तिवारी, पृ0 171।

(26) ''सत्य'' (शीर्षक कविता)

''खिचड़ी विप्लव देखा हमनें'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 30–31।

(27) '' लोकतन्त्र के मुँह पर ताला'' (शीर्षक कविता)

''इस गुब्बारे की छाया में'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 22।

(28) ''भारत पुत्री नगरवासिनी'' शीर्षक कविता।

''इस गुब्बारे की छाया में'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 69।

(29) ''वो अन्दर से बॉस करेगें'' (शीर्षक कविता) ।

''तुमने कहा थां'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 62।

(30) ''रामराज'' शीर्षक कविता।

''इस गुब्बारे की छाया में'' (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 62–63।

(31) "गुठलियों के दाम आयेगें" शीर्षक कविता।

"इस गुब्बारे की छाया में" (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 34।

(32) "शासन की बन्दूक" (शीर्षक कविता) ।

"तुमने कहा थां" (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 46।

(33) "देख लो, इनके कई–कई माप है" (शीर्षक कविता) ।

"तुमने कहा था" (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 58।

(34) "कब होगी इनकी दीवाली ?" शीर्षक कविता।

"खिचड़ी विप्लव देखा हमने" (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 94।

(35) "इन्दु जी क्या हुआ आपको" शीर्षक कविता।

"खिचड़ी विप्लव देखा हमने" (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 10।

(36) "खूब सज रहे" शीर्षक कविता।

"खिचड़ी विप्लव देखा हमने" (कविता संग्रह) – नागार्जुन, पृ0 109।

(37) "खाली नहीं और खाली" शीर्षक कविता।

"उद्घृत – नागार्जुनः चुनी हुई कवितायें–2, सम्पादक–शोभाकान्त मिश्र, पृ0 60–61।

(38) "पीपल के पीले पत्ते" (शीर्षक कविता)

"उद्घृत – नागार्जुनः चुनी हुई कवितायें–2, सम्पादक–शोभाकान्त मिश्र, पृ0 18–19।

केदारनाथ अग्रवाल की कविता की भाषा में लोक संवेदना

(1) दूर कटा कवि/ मैं जनता का ,

X X X X

लिए हृदय मे कविता थाती

मैं ताने हूँ अपनी छाती ।"

"आग का आईना" (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० 75।

(2) "अपूर्वा" (कविता संग्रह)– केदारनाथ अग्रवाल, भूमिका, , पृ० 12।

(3) "अपूर्वा" (कविता संग्रह)– केदारनाथ अग्रवाल, भूमिका, , पृ० 13।

(4) "मुझे प्राप्त है जनता का स्वर

X X X X

मैं उस धन से नहीं बिकूँगा ।" "जनता का बल " शीर्षक कविता ।

कहें केदार खरी–खरी – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० 128।

(5) "आग का आईना' (कविता संग्रह)– केदारनाथ अग्रवाल, भूमिका, , पृ० 18।

(6) "गाओ साथी" (शीर्षक कविता) ।

कहें केदार खरी–खरी (कविता संग्रह) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ० 133।

(7) "फूल नहीं , रंग बोलते हैं" (कविता संग्रह)– केदारनाथ अग्रवाल , पृ० 172।

(8) "फूल नहीं , रंग बोलते हैं" (कविता संग्रह)– केदारनाथ अग्रवाल , पृ० 183।

(9) "बोले बोल अबोल" (कविता संग्रह)– केदारनाथ अग्रवाल , पृ० ५7।

(10) "बोले बोल अबोल" (कविता संग्रह) केदारनाथ अग्रवाल , पृ० 24।

(11) "आग का आईना"– केदारनाथ अग्रवाल , पृ० 43।

(12) "आग का आईना"– केदारनाथ अग्रवाल , पृ० 7 ।

(13) ''आग का आईना''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 85।

(14) ''प्रगतिशील काव्य धारा और केदारनाथ अग्रवाल''— डा0 राम विलास शर्मा, पृ0 206।

(15) ''आग का आईना''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 39।

(16) ''अपूर्वा''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 23।

(17) ''फूल नहीं रंग बोलते हैं'' (कविता संग्रह)— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 109।

(18) ''फूल नहीं रंग बोलते हैं''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 177।

(19) ''फूल नहीं रंग बोलते हैं''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 34।

(20) ''फूल नहीं , रंग बोलते हैं''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 5, (भूमिका से)।

(21) ''फूल नहीं , रंग बोलते हैं''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 31।

(22) ''फूल नहीं , रंग बोलते हैं''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 82।

(23) ''कहे केदार खरी—खरी''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 96।

(24) ''कहे केदार खरी—खरी''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 89।

(25) ''कहे केदार खरी—खरी''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 8 ।

(26) ''कहे केदार खरी—खरी''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 126।

(27) ''कहे केदार खरी—खरी''— केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 127।

(28) ''आपका सिक्का बराबर चालू रहे,/जहॅा कुछ न होता दिखे—।''

''बोले बोल अबोल'' (क0सं0) — केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 55।

(29) ''प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल''— डा0 राम विलास शर्मा , पृ0 185।

(30) ''प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल''— डा0 राम विलास शर्मा , पृ0 184।

(31) ''प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल''— डा0 राम विलास शर्मा , पृ0 165।

(32) ''प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल''— डा0 राम विलास शर्मा , पृ0 177।

(33) ''बोले बोल अबोल'' (भूमिका से) – केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 11।

(34) ''प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल''– डा0 राम विलास शर्मा ,पृ0 142।

(35) ''आग का आईना'' – केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 17।

(36) ''अपूर्वा'' – केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 32–33।

(37) ''फूल नहीं, रंग बोलते हैं'' – केदारनाथ अग्रवाल , पृ0 17।

(38) ''अपूर्वा'' केदारनाथ अग्रवाल, पृ0 96।

त्रिलोचन की कविता की भाषा में लोक संवेदना

(1) "कोई समझ न पाये अगर तुम्हारी बोली/तो उस बोली का मतलब क्या, मौन भला है।'

X X X X

"भाषा का इस जीवन से चोली/दामन का साथ है।"

"अनकहनी भी कुछ कहनी है" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 78।

(2) "त्रिलोचन के बारे में" – सम्पादक-गोविन्द प्रसाद, पृ0 63।

(3) "दिगन्त" (सानेट) – त्रिलोचन, पृ0 58 ।

(4) " बड़े–बड़े शब्दों में बड़ी–बड़ी बातों को

कहने की आदत औरों में है पर मेरा

X X X. X

दिये हृदय के भाव, उपेक्षित थी जो भाषा

उसको आदर दिया, मरूस्थल मन का सीचा।"

"उस जनपद का कवि हूँ" (क0सं0) – त्रिलोचन, साक्षात्कार (जुलाई–अगस्त 1989), पृ0 89 पर उद्धृत ।

(5) "माटी मड़ई बसा रहा धुरियान/
केहर अंजोर लखान कि जिउ खुरियान।"
उद्घृत – त्रिलोचन के बारे में – सम्पादक गोबिन्द प्रसाद, पृ0 161।

(6) "किकुरी मारे जाड़ा थाम्हा जाइ ।
जउले नस–नस खून चलइ गरमाइ ।
X X X X X
अब केउ चितवत नाहीं टेकरी और ।"
उद्घृत – त्रिलोचन के बारे में – सम्पादक गोबिन्द प्रसाद, पृ0 164।

(7) "धरती" - त्रिलोचन, पृ0 75।

(8) "धरती" – त्रिलोचन, पृ0 89।

(9) "ग्वैंडे आया, और हाथ दोनो हैं खाली।"

उद्घृत – जहॅा शब्द सक्रिय है – नन्द किशोर नवल, पृ0 79।

(10) "जाड़े का आनन्द यही है रस गन्ने का ।

ताजा ताजा पीना, कोल्हाड़ो में जाना, ।" द्र० वही, पृ० 79 ।

(11) "पार ताल को/खेत बनाया, मड़ई से घर किया । "

उद्घृत – जहॅा शब्द सक्रिय है – नन्द किशोर नवल, पृ0 78।

(12) "लोटा–डोर फॅासकर जल काढ़ा ।"

उद्घृत – जहॅा शब्द सक्रिय है – नन्द किशोर नवल, पृ0 82।

(13) उद्घृत – जहॅा शब्द सक्रिय है – नन्द किशोर नवल, पृ0 82।

(14) "ताप के तापे हुए दिन"– त्रिलोचन,"आलोचक" शीर्षक , पृ0 48।

(15) "फूल नाम है एक" (क0सं0) – त्रिलोचन ।

(16) "ताप के तापे हुए दिन" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 42।

(17) "आरर डाल नौकरी है/यह बिलकुल खोटी । "

"ताप के तापे हुए दिन" – त्रिलोचन, पृ0 54।

(18) "हंस के समान दिन उड़कर चला गया"

X X X X X

रात निविड़ मौन पास

आई जैसे बॅधकर ।"

"धरती" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 120।

(19) "धरती" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 121।

(20) "धरती" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 124 ।

(21) "सरदी के ठिठुरे शरीर के/अंग अंग को छूकर

सूरज की किरणों ने/बँधी मुट्ठियों को खोला ।"

"धरती" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 47।

(22) "सबका अपना आकाश" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 32।

(23) "सबका अपना आकाश" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 24।

(24) "सबका अपना आकाश" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 16।

(25) "सबका अपना आकाश" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 44।

(26) "ताप के तापे हुए दिन" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 50।

(27) "अनकहनी भी कुछ कहनी है" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 15।

(28) "ताप के तापे हुए दिन" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 64–65।

(29) "सबका अपना आकाश" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 11।

(30) "धरती" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 27।

(31) "धरती" (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 82।

(32) "अनकहनी भी कुछ कहनी है" (क0सं0) – त्रिलोचन, पृ0 34।

(33) "अनकहनी भी कुछ कहनी है" – त्रिलोचन, पृ0 98।

(34) "अनकहनी भी कुछ कहनी है" – त्रिलोचन, पृ0 48।

(35) "अनकहनी भी कुछ कहनी है" – त्रिलोचन, पृ0 56।

(36) "फूल नाम है एक" – त्रिलोचन, पृ0 26।

(37) "अनकहनी भी कुछ कहनी है" – त्रिलोचन, पृ0 50।

(38) "धरती " (कविता संग्रह) – त्रिलोचन, पृ0 95।

(३९) "अनकहनी भी कुछ कहनी है" – त्रिलोचन, पृ० २२ ।

(40) "फूल नाम है एक" (क0सं0)– त्रिलोचन, पृ0 75।

(41) उदघृत– "त्रिलोचन के बारे में" – सम्पादक गोबिन्द प्रसाद, पृ0 166

(42) "सबका अपना आकाश" – त्रिलोचन, पृ0 37।

(43) "सबका अपना आकाश" – त्रिलोचन, पृ0 35–36।

(44) "सबका अपना आकाश" – त्रिलोचन, पृ0 17।

(45) त्रिलोचन ने अंग्रेजी छन्द "सॉनेट" को भारतीय रूप में परिवर्तित कर नया रूप दिया।

(46) "अनकहनी भी कुछ कहनी है" – त्रिलोचन, पृ0 63।

सुदामा पाण्डेय "धूमिल" की कविता की भाषा में लोक संवेदना

(1) दृ0 "आजकल" (मार्च 1980), पृ0 7

(2) समकालीन कविता का यथार्थ – डा0 परमानन्द श्रीवास्तव, पृ0 122

(3) "नया प्रतीक" (पत्रिका) – फरवरी 1978, पृ0 4–5 ("कविता पर एक वक्तव्य" धूमिल), (उद्घृत "कटघरे का कवि "धूमिल" – डा0 ग0तु0 अष्टेकर, पृ0 189)

(4) "नया प्रतीक" पत्रिका, फरवरी 1978, पृ0 4–5, ("कविता पर एक वक्तव्य" धूमिल), (उद्घृत "कटघरे का कवि "धूमिल" – डा0 ग0तु0 अष्टेकर, पृ0 188)

(5) "भाषा की रात" शीर्षक कविता
"संसद से सड़क तक" (कविता संग्रह) – धूमिल, पृ0 96–97

(6) (क) जिनके सण्डासघरों में खँसी/किवाड़ों का काम करती है।"
"संसद से सड़क तक" (कविता संग्रह) – धूमिल, पृ0 50

(ख) "सिर्फ चूहों की लेड़ियों/बिनौलों और स्वप्नभंग की आतुर मुद्राओं की/मौसमी नुमाईश है।" दृ0 वही – पृ0 31

(7) "आजकल", (मार्च 1980) पृ0 8, सम्पादक द्रोणपरि कोहली

(8) "मोचीराम" शीर्षक कविता
"संसद से सड़क तक" (कविता संग्रह) – धूमिल, पृ0 37

(9) "कविता" शीर्षक कविता
"संसद से सड़क तक" (कविता संग्रह) – धूमिल, पृ0 8

(10) धूमिल और उसका काल संघर्ष – ब्रह्मदेव मिश्र, पृ0 84

(11) "नया प्रतीक" (पत्रिका) फरवरी, पृ0 4

(12) "कल सुनना मुझे" (कविता संग्रह) धूमिल पृ० 51, 52 ।

(13) "कल सुनना मुझे" (कविता संग्रह) धूमिल (भूमिका – विद्यानिवास मिश्र) ।

(14) "राज कमल चौधरी के लिए" (शीर्षक कविता), पृ० 31 ।

"संसद से सड़क तक" (कविता संग्रह) – धूमिल,

(15) "जनतन्त्र के सूर्योदय में" शीर्षक कविता, पृ० 12 ।

"संसद से सड़क तक" (कविता संग्रह) – धूमिल

(16) "कविता" (शीर्षक कविता), पृ० 8 ।

"संसद से सड़क तक" (कविता संग्रह) – धूमिल

(17) "वसन्त" (शीर्षक कविता), पृ० 21 ।

"संसद से सड़क तक" (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(18) "कल सुननामुझे" (शीर्षक कविता) – धूमिल (भूमिका विद्या निवास मिश्र)

(19) "मुनासिब काररवाई" (शीर्षक कविता) , पृ० 85 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(20) "मुनासिब काररवाई" (शीर्षक कविता) , पृ० 85 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(21) "मोचीराम" (शीर्षक कविता) , पृ० 38 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(22) "वसन्त" (शीर्षक कविता) , पृ० 20 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(23) "कविता" (शीर्षक कविता) , पृ० 8 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(24) ''प्रौढ़ शिक्षा'' (शीर्षक कविता) , पृ0 48 ।

''संसद से सड़क तक '' (कविता सग्रह) – धूमिल ।

(25) ''बीस साल बाद'' (शीर्षक कविता) , पृ0 10 ।

''संसद से सडक तक '' (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(26) ''पटकथा'' (शीर्षक कविता) , पृ0 127 ।

''संसद से सडक तक '' (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(27) ''कल सुनना मुझे'' – धूमिल ''वारिस में भीगकर'' (शीर्षक कविता) पृ0 74 ।

(28) ''कवि 1970'' (शीर्षक कविता) , पृ0 62 ।

''संसद से सड़क तक '' (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(29) ''न कोई छोटा है/न कोई बड़ा है।

मेरे लिए हर आदमी एक जोड़ी जूता है। जो मेरे सामने/
मरम्मत के लिए खड़ा है।''
''मोचीराम'' (शीर्षक कविता) , पृ0 37 ।

''संसद से सड़क तक '' (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(30) ''नया प्रतीक'' (पत्रिका) , फरवरी 1978, पृ0 4–5 (कविता पर एक वक्तव्य – धूमिल)

(उद्घृत – कटघरे का कवि धूमिल–डा0 ग0तु0 अष्टेकर, पृ 188) ।

(31) ''आजकल'' (पत्रिका) , मार्च 1980 पृ0 8, सम्पादक – द्रोणवीर कोहली ।

(32) ''अकाल दर्शन'' (शीर्षक कविता) , पृ0 17 ।

''संसद से सड़क तक '' (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(33) ''किसी आदमखोर जबड़े की तरह/उस मकान का फाटक खुल जाता है।

और देखते ही देखते/एक समूचा और मुस्कराता हुआ आदमी उसके भीतर नमक के ढेले सा/घुल जाता है''
''संसद से सड़क तक '' – धूमिल पृ0 51।

(34) "बीस साल बाद" (शीर्षक कविता) , पृ0 10 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(35) "शान्ति पाठ" (शीर्षक कविता) , पृ0 26 ।

"संसद से सडक तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(36) "भाषा की रात" (शीर्षक कविता) , पृ0 97 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(37) "पटकथा" (शीर्षक कविता) , पृ0 104 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(38) "खेवली" (शीर्षक कविता) , पृ0 87।

"कल सुनना मुझे" (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(39) "हत्यारी सम्भावनाओं के बीच" (शीर्षक कविता) , पृ0 79 ।

"संसद से सड़क तक " (कविता संग्रह) – धूमिल ।

(40) "कल सुनना मुझे" (का०सं०) – धूमिल , पृ0 66 ।

(41) "कल सुनना मुझे" (कविता संग्रह) – धूमिल (भूमिका – विद्या निवास मिश्र)।

मुक्तिबोध की कविता की भाषा में लोक संवेदना

(1) "नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध" – मुक्तिबोध, पृ0 13 ।

(2) "कामायनीः एक पुनर्विचार" – मुक्तिबोध , पृ0 5 ।

(3) "एक रग एक राग" (शीर्षक कविता), भूरी–भूरी खाक धूल (क0सं0)–मुक्तिबोध, पृ0 10 ।

(4) "क्या करें ! जीवन के तथ्यों के / सामान्यीकरणों का/

करना ही पड़ता हमें असामान्यीकरण ।"

"इसी बैलगाड़ी को" (शीर्षक कविता) , पृ0 28 ।

"भूरी–भूरी खाक धूल" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(5) "मालव निर्झर की झर–झर कंचन रेखा" – (शीर्षक कविता), पृ0 118 ।

"भूरी–भूरी खाक धूल" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(6) "अँधेरे में" (शीर्षक कविता), पृ0 286 ।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(7) "मैं तुम लोगों से दूर हूँ" (शीर्षक कविता), पृ0 122 ।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(8) "नक्षत्र खण्ड" (शीर्षक कविता), पृ0 152 ।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(9) "जब प्रश्न चिन्ह बौखला उठे" (शीर्षक कविता), पृ0 178 ।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(10) "एक अरूप शून्य के प्रति" (शीर्षक कविता), पृ0 136 ।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(11) "चमचक की चिनगारियां" (शीर्षक कविता), पृ0 163 ।

"चॅाद का मुँह टेढ़ा है" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(12) "सामने दीखे–/उलझनों, प्रश्नों के ठूँठ !!/ठूँठों की सुखी हुई/डालों पर, दानवी/किसी बदनीयती के सावधान गिद्ध/जिन्हें देख/याद आतीं खुर्राट निगाहें/दॉव–पेंच–झगडे व युद्ध/टीले के सीने में, भभककर, अड़ता है/जिंद भरा कोई मज़मून ।"

"चम्बल की घाटी में" (शीर्षक कविता), पृ0 245 ।

"चॅाद का मुँह टेढ़ा है" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध ।

(13) "ये आये, वो आये, ये चले आये

नोचते चले गये

चिंदी खींच चर्र से फाड़ते चले गये

मेरा बुश–कोट अब लत्तर है।"

"ये आये, वो आये" (शीर्षक कविता), पृ0 15 ।

"भूरी–भूरी खाक-धूल" – मुक्तिबोध ।

(14) "क्षितिज पर भूरे व काले से बादल
घने – घने, बिखरे
रज़ाई के चिथरे ।"

"चम्बल की घाटी में" (शीर्षक कविता), पृ0 250 ।

"चॅाद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध

(15) "मुझे पुकारती हुई पुकार" (शीर्षक कविता), पृ0 89 ।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध

(16) "चॉद का मुँह टेढ़ा है" (शीर्षक कविता), पृ0 55 ।
चॉद का मुँह टेढ़ा है (क0 सं0) – मुक्तिबोध

(17) "थामता नभस् दो हाथों से; ।"

"एक अन्तः कथा' (शीर्षक कविता) पृ0—134।

'चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध ।

(18) "अंधेरे से निकलो, जंगल भटको!"

"ओ काव्यात्मन् फणिधर" (शीर्षक कविता) पृ0—142।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) मुक्तिबोध।

(19) "राह का हर कोई कुत्ता जिसे छेड़ता है, छेंकता है।"

"एक अरूप शून्य के प्रति" (शीर्षक कविता) पृ0—137।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है मुक्तिबोध।

(20) "चुपचाप सरकते चलो, पास उसके पहुँचो!"

"ओ काव्यात्मन् फणिधर" (शीर्षक कविता) पृ0 – 145।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है"-मुक्तिबोध।

(21) "मन में जो बात एक कराहती रहती है"

"एक स्वप्न—कथा" शीर्षक कविता, पृ0—193।

"चाँद का मुँह टेढा है मुक्तिबोध।

(22) "एक अन्तःकथा" (शीर्षक कविता) पृ0—128।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(23) "देखकर चिहुँकते हैं प्राण"

"मुझे याद आते हैं" (शीर्षक कविता) पृ0—94।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है"-मुक्तिबोध।

(24) ''मुझे याद आते हैं'' (शीर्षक कविता) पृ0–95।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है मुक्तिबोध।

(25) ''मुझे याद आते हैं'' – (शीर्षक कविता) पृ0–98।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है''-मुक्तिबोध।

(26) ''मेरे सहचर मित्र'' (शीर्षक कविता) पृ0–115।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है''-मुक्तिबोध।

(27) ''उखड़ते चौखटों में ही

खड़ाखड़ खिड़कियाँ नचती ;

भड़ाभड़ सब बजा करते खड़े बेडोल दरवाजे।''

चकमक की चिनगारियाँ (शीर्षक कविता) पृ0–168।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' – मुक्तिबोध।

(28) ''एक स्वप्न–कथा'' (शीर्षक कविता), पृ0 183।

''चाँद का मुह टेढा है'' – मुक्तिबोध।

(29) मेरे सहचर मित्र (शीर्षक कविता), पृ0–117।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है''-मुक्तिबोध।

(30) ''जब प्रश्न चिन्ह बौखला उठे'' (शीर्षक कविता) पृ0–183।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है''-मुक्तिबोध।

(31) ''एक रंग का राग'' शीर्षक कविता, पृ0–9।

''भूरी–भूरी खाक–धूल'' (कविता संग्रह) – मुक्ति बोध।

(32) ''भाग गयी जीप'' (शीर्षक कविता) पृ0–18।

''भूरी–भूरी खाक धूल''(क0सं0) – मुक्ति बोध।

(33) "भविष्य धारा" (शीर्षक कविता) पृ0–68।

"भूरी–भूरी खाक धूल" – मुक्तिबोध।

(34) भविष्य धारा (शीर्षक कविता) पृ0–65।

"भूरी–भूरी खाक धूल" – मुक्तिबोध।

(35) भविष्य धारा (शीर्षक कविता), पृ0–67।

"भूरी–भूरी खाक धूल" – मुक्तिबोध।

(36) "भविष्य धारा" (शीर्षक कविता), पृ0–65।

"भूरी–भूरी खाक धूल" – मुक्तिबोध।

(37) "चाँद का मुँह टेढ़ा है" (शीर्षक कविता) पृ0–59।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(38) "ऐसे अतिक्षीणकाय कष्टजीवी बालक के जीवन सा

रामू का गुलाम दिन

मुक्ति के सपनों में डूबकर

द्रोह की ज्वालाओं से चूमने लगा आसमान!"

"जिन्दगी का रास्ता" (शीर्षक कविता), पृ0–178।

भूरी–भूरी खाक धूल – मुक्तिबोध।

(39) "बेचता है आत्मा को/वेश्या के देह सा व्यभिचार के लिए ।

मिर्ची की धाँस की खाँसी सी/पीड़ित उन्हें करती है।"

"जिन्दगी का रास्ता" (शीर्षक कविता), पृ0–179 ।

भूरी–भूरी खाक धूल – मुक्तिबोध।

(40) ''काले – से काढे की-सी

मानवी पीड़ा को

पीना पडा तले से गले तक ।''

''जिन्दगी का रास्ता'' (शीर्षक कविता), पृ0–183 ।

भूरी–भूरी खाक धूल – मुक्तिबोध।

(41) ''ओ अक्षयवट, यदि तुम न रहे होते/मेरी इन गलियों/तो अन्धकार के सिन्धु तले/''

''/मैं कहीं पड़ा होता सूने में/किसी चोर की गठरी सा,/रह अन्धकार के भूसे सा।''

''मेरे सहचर मित्र'' (शीर्षक कविता), पृ0 115–116 ।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' – मुक्तिबोध।

(42) ''कल्याणमयी करूणाएँ फेंकी गयी/रास्ते पर कचरे जैसी ।''

''एक अन्तः कथा'' (शीर्षक कविता), पृ0 132 ।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' – मुक्तिबोध।

(43) ''लेकिन तुम भी खूब हो/सूनेपन के डीह में अँधियारी डूब हो।''

''एक अरूप शून्य के प्रति'' (शीर्षक कविता), पृ0 137 ।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' – मुक्तिबोध।

(44) ''अन्धेरे में'' (शीर्षक कविता), पृ0 277 ।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' – मुक्तिबोध।

(45) ''सूरज के वंशधर'' (शीर्षक कविता), पृ0 172 ।

''भूरी–भूरी खाक धूल'' – मुक्तिबोध।

(46) ''सूखे कठोर नंगे पहाड़'' (शीर्षक कविता), पृ0 226 ।

''भूरी–भूरी खाक धूल'' – मुक्तिबोध।

(47) "संघर्ष करता हुआ तू जीवन का खींच चित्र/मिथ्या की हत्या कर बुद्धि के,

आत्मा के विष–भरे तीरों से/खींच चित्र मानव का प्राणों के रूधिर की लकीरों से ।"

"सत्य के गरबीले अन्याय न सह" – (शीर्षक कविता), पृ0 197 ।

"भूरी–भूरी खाक–धूल" (क0सं0) – मुक्तिबोध।

(48) "अन्याय को चुनौती दे कि उभर उठ !!"

"सत्य के गरबीले अन्याय न सह" – (शीर्षक कविता), पृ0 199 ।

"भूरी–भूरी खाक–धूल" – मुक्तिबोध।

(49) "एक स्वप्न कथा" (शीर्षक कविता), पृ0–198।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध।

(50) एक अन्तः कथा (शीर्षक कविता) पृ0 131–132।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध।

(51) "प्रतीकों और बिम्बों के/असंस्कृत रूप में ही रह/

हमारी जिन्दगी है यह।"

"चकमक की चिनगारियाँ" (शीर्षक कविता) पृ0–166।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध।

(52) "ओ काव्यात्मन् फणिधर" (शीर्षक कविता) पृ0 147–148।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध।

(53) "कल जो हमने चर्चा की थी" – (शीर्षक कविता) पृ0–125।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध।

(54) "अंधेरे में" (शीर्षक कविता), पृ0–256।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध।

(55) "लोक साहित्य की भूमिका" – डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, पृ0–195।

(56) "सबको राम–राम करने को चाहता है जी।"

"मुझे याद आते हैं" (शीर्षक कविता) पृ0–99।

"चाँद का मुँह टेढा है" – मुक्तिबोध।

(57) "दिल भर उठता है/ओस–गीली झुलसी हुई चमेली की आहो से।"

"मुझे याद आते हैं" – (शीर्षक कविता) पृ0–98।

"चांद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध।

(58) "मुझे याद आते हैं" – (शीर्षक कविता) पृ0–98।

"चाँद का मुँह टेढ़ा है" – मुक्तिबोध।

(59) "हर चीज, जब अपनी" (शीर्षक कविता) पृ0–90।

"भूरी–भरी खाक धूल" – मुक्तिबोध।

(60) "इस नगरी में" (शीर्षक कविता) पृ0–154।

"भूरी–भरी खाक धूल" – मुक्तिबोध।

(61) "खूब बजाओ, जिनका खाओ उनका बाजा/पंख काटकर, जीभ काटकर/'राज'–हंस हो जाओ' प्यारे/....... अपने को चाहे सिकोड़ लूँ/फिर भी उनकी चौखट में फिट होना मुश्किल।"

"एक प्रदीर्घ कविता का प्रस्ताविक" (शीर्षक कविता), पृ0–162 ।

"भूरी–भरी खाक धूल" – मुक्तिबोध।

(62) "सत्ता की छाती बैठी/गला दबाकर जनता जग की!!"

"जब वृद्धा माँ के अन्तर की" (शीर्षक कविता), पृ0–164।

"भूरी–भूरी–खाक धूल" (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(63) ''पिस गया वह भीतरी/औ'' बाहरी दो कठिन पाटों बीच।''

''ब्रह्म राक्षस'' (शीर्षक कविता) पृ0–41।

''चाँद का मुँह टेढा है'' – मुक्तिबोध।

(64) ''इस नगरी में'' (शीर्षक कविता), पृ0–15।

''भूरी–भूरी–खाक धूल'' (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(65) ''ओ काव्यात्मन् फणिधर'' शीर्षक कविता, पृ0–150।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' – मुक्तिबोध।

(66) ''इस नगरी में'' शीर्षक कविता, पृ0–153।

''भूरी–भूरी–खाक धूल'' (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(67) ''एक रग का राग'' (शीर्षक कविता), पृ0–12।

''भूरी–भूरी–खाक धूल'' (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(68) ''विक्षुब्ध बुद्धि के मारक स्वर'' (शीर्षक कविता) पृ0–40।

''भूरी–भूरी–खाक धूल'' (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(69) ''एक रग का राग (शीर्षक कविता) पृ0–9।

''भूरी–भूरी–खाक धूल'' (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(70) ''हर चीज, जब अपनी'' (शीर्षक कविता) पृ0–86।

''भूरी–भूरी–खाक धूल'' (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(71) ''हर चीज, जब अपनी'' (शीर्षक कविता) पृ0–90।

''भूरी–भूरी–खाक धूल'' (कविता संग्रह) – मुक्तिबोध।

(72) ''एक अरूप शून्य के प्रति'' (शीर्षक कविता), पृ0–139।

''चाँद का मुँह टेढ़ा है'' – मुक्तिबोध।

(73) ''मेरे लोग'' (शीर्षक कविता), पृ0–106।

''चाँद का मुँह टेढा है'' – मुक्तिबोध।

(74) ''ये आये, वो आये'' (शीर्षक कविता) पृ0–15।

''भूरी–भूरी खाक धूल'' – मुक्तिबोध।

(75) ''सूरज के वंशधर'' (शीर्षक कविता) पृ0–170।

''भूरी–भूरी खाक धूल'' – मुक्तिबोध।

रघुवीर सहाय की कविता की भाषा और लोक-संवेदना

(1) "यथार्थ यथास्थिति नहीं" – रघुवीर सहाय, पृ0–55।

(2) "स्वाधीन व्यक्ति" (शीर्षक कविता), पृ0–15।

"आत्महत्या के विरूद्ध" (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(3) "नयी कविताएँ : एक साक्ष्य" – रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ0–38।

(4) "कलम लिये बैठा है/शब्दों की खोज में/लेखक स्वच्छन्द है।"

"स्वच्छन्द लेखक" (शीर्षक कविता) पृ0–101।

"लोग भूल गये हैं" – (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(5) पूर्वग्रह (पत्रिका), नवम्बर–दिसम्बर 1976, पृ0–11।

(उद्धृत–रघुवीर सहाय का कविकर्म–सुरेश शर्मा, पृ0 104–105)।

(6) "फिर बजा देंगे हम –/

काल को इसी तरह बुत्ता देते हुए, चुने हुए अंश–मंथर गति में।"

"कभी–कभी दुनिया को फिर से" (शीर्षक कविता),पृ0–46।

"कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(7) "उनकी बच्चियों ने जवाँ होकर दादियों की काठियाँ पाई।"

"औरतें" (शीर्षक कविता) पृ0–44।

"कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(8) "रिजरफ़ रेल" (शीर्षक कविता) पृ0–25।

"कुछ पते, कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(9) "रंगों का हमला" (शीर्षक कविता) पृ0 18–19।

"लोग भूल गये हैं" (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(10) "मैले नाखून वाले चीकट लडके ने। नही सुना जो मैंने पूछा था।"

आत्महत्या के विरूद्ध – रघुवीर सहाय, पृ0–82।

(11) "हॉफती हड़ैली वह दौड़ी घर की ओर बस की दिशा में/

एक चिड़चिड़ी जिन्दगी लेस–पोतकर।"दृ0 वही, पृ0–82।

(12) "गिरीश की मृत्यु" (शीर्षक कविता), पृ0 80–82।

आत्महत्या के विरूद्ध (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(13) "तब वह अजीब गंध आती है सीले बरोठे की
फिर इस तस्वीर की चौखट के पार्श्व से टिकी हुई
आधी–सी छाया, ।"
"यथार्थ" (शीर्षक कविता) पृ0–86।
"कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" – (कविता संग्रह) रघुवीर सहाय।।

(14) (अ) "घुटन के बाहर" (शीर्षक कविता) पृ0–38।

"कुछ पत्ते कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(ब) "घुटन के बाहर" (शीर्षक कविता) पृ0–38।

"कुछ पत्ते कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(15) "रघुवीर सहाय का कविकर्म" – सुरेश शर्मा, पृ0–149।

(16) "रघुवीर सहाय का कविकर्म" – सुरेश शर्मा, पृ0–151।

(17) "उसे इतनी जल्दी मार लेना होगा
कि वह नदी में फिर न आने पाए।"
"मनुष्य–मछली युद्ध" (शीर्षक कविता) पृ0–36।
"लोग भूल गये हैं" (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(18) "नीचे/सूखे पत्तों के ढ़ेर से उठता धुआँ
हवा ने उसे हाँ–ना कर बखेर दिया।"
"पत्तों का धुँआ"(शीर्षक कविता) पृ0–53।
"आत्महत्या के विरूद्ध" (कविता संग्रह) रघुवीर सहाय।

(19) "सूखे मुँह से रचता है वृक्ष जब वह सूखे पत्ते गिराता है

ऐसे कि ठीक जगह जाकर गिरें धूप में छाँह में

' ' ' ' ' ' ' और जो परिवर्तन उसमें हवा करे।"

"रचता वृक्ष" शीर्षक कविता, पृ0–39।

"आत्महत्या के विरूद्ध" (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(20) "कटोरे के पेंदे में भात/गोद में लेकर बैठा बाप

फ़र्श पर रखकर अपना पुत्र/खा रहा है उसको चुपचाप।"

"अकाल" (शीर्षक कविता) पृ0–62।

"आत्महत्या के विरूद्ध" – रघुवीर सहाय।

(21) "बच्चे की माँ" शीर्षक कविता, पृ0–70।

"कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(22) "फरमाइशी सम्भोग में सुनो एक उखड़ी साँस की।

साँय–साँय ....।" "आत्महत्या के विरूद्ध" रघुवीर सहाय, पृ0–22।

"गन्ध भीड़ से नहीं स्त्री के पीठ से आती है/ रंगी–चुँगी पंजाबिन धुली–पुँछी बंगालिन रूखी मराठिन के/सर से मरे इन्तजार की गंध.......।"

X X X

पंडित राजाराम के ठण्डे कमरे में/भीड का हिसाब हो रहा था।/

वहाँ मैंने पण्डित जी को/सूँघा।" द्र0 वही ; पृ0 23।

(23) – द्र0 – "लोग भूल गये हैं" – रघुवीर सहाय, पृ0–82।

(24) "दोनों अपने–अपने हिस्से के पूए ले/ जैसे थे जहाँ वहाँ पर बैठे खाते हैं/

उतने में सब बच्चे एकदम् से जगते हैं/उठ पड़ते हैं मुसकाते हैं सो जाते हैं।"

"लोग भूल गये हैं" रघुवीर सहाय, पृ0–58।

(25) "हर समय एक नयी क्रूरता पैदा होती रहे/

जैसे एक मौसम बनाकर पकाया हुआ बेफसल फलफूल।"

"सच क्या है?" (शीर्षक कविता), पृ0–22।

कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ – रघुवीर सहाय।

(26) "जितना समेट हम लेते हैं गठरी में

जादू के खेल सी टोकरी खाली निकलती है।"

"वृद्ध का वक्तव्य" (शीर्षक कविता) पृ0 23–24।

"कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(27) "तेज रफ़्तार से भागती मोटरें

और उनके बीच में एक पागल पैदल एक बड़ी चिडिया सी– चादर खोले हुए नंगी स्त्री।"

"पागल औरत" (शीर्षक कविता), पृ0–41।

"कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(28) "हत्या की संस्कृति में प्रेम नहीं होता है
नैतिक आग्रह नहीं
प्रश्न नहीं पूछती है रखैल
सब कुछ दे देती है बिना कुछ लिए हुए पतिव्रता की तरह।"
"हत्या की संस्कृति" (शीर्षक कविता) पृ0–17।
"कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(29) "वे भागे जाते हैं जैसे बमबारी के/बाद भाग जाते हों नगर निगम की/सड़ाँध लिए–दिये दूसरे शहर को।"

"फिल्म के बाद चीख" – .शीर्षक कविता) पृ0–29।

"आत्म हत्या के विरूद्ध" – रघुवीर सहाय।

(30) "और सदर दरवाजा भिड़ते ही खड़–खड़–खड करता है।"

"पिछवाड़े की गली में" (शीर्षक कविता) पृ0–67।

"कुछ पते कुछ चिट्ठियॉं" – रघुवीर सहाय।

(31) "तबला गिड़गिडा–गिड़गिड़ा थके जाता था।"

"महफिल में सितार" (शीर्षक कविता) पृ0–50।

"कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ" – रघुवीर सहाय।

(32) ढ़ेलों की खड़खड़ाहट, दूध वालों के खनकते बरतन/जल्दी चलते हुए चप्पलों के हकलाने के से शब्द, पास आते हैं और दूर चले जाते हैं"।

"दूसरा सप्तक", सम्पादक–अज्ञेय, पृ0–157।

(33) "सीढ़ियों पर धूप में" – रघुवीर सहाय, पृ0 140–141।

(34) दृ0 वही, पृ0 140–141।

(35) "भाषा की बधिया हमेशा वक्त के सामने बैठ जाती है।"

"लोग भूल गये हैं" शीर्षक कविता, पृ0–48।

"लोग भूल गये हैं" (कविता संग्रह) रघुवीर सहाय।

(36) "वे जो प्रत्येक दिन चक्की में पिसने से करते हैं शुरू

और सोने को जाते हैं।"

"कला क्या है" – (शीर्षक कविता), पृ0–12।

"लोग भूल गये हैं" (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(37) "भीड़ में मैकू और मैं" (शीर्षक कविता), पृ0–22।

"आत्महत्या के विरूद्ध" (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(38) "अधिनायक वह महाबली/डरा हुआ मन बेमन जिसका/बाजा रोज बजाता है।"

"अधिनायक" (शीर्षक कविता) पृ0–20।

"आत्महत्या के विरूद्ध" – रघुवीर सहाय।

(39) ''कोट की पीठ मैली न हो ऐसी दो व्यथा/शक्ति दो.........।''

''कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ'' – रघुवीर सहाय, पृ0–2 (समर्पण)।

(40) ''प्रार्थना के शब्द'' शीर्षक कविता, पृ0–37।

''कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ'' – रघुवीर सहाय।

(41) ''प्रार्थना के शब्द'' (शीर्षक कविता) पृ0–37।

''कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ'' – रघुवीर सहाय।

(42) खुशीराम बन नहीं/सका

क़त्ल का मसला, बदचलनी का बना, उसने

जैसा किया वैसा भरा।''

''कोई एक और मतदाता'' (शीर्षक कविता), पृ0–73।

''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय।

(43) ''सच क्या है ? '' (शीर्षक कविता) पृ0–22।

''कुछ पते कुछ चिटिठ्याँ'' (क0सं0) – रघुवीर सहाय।

(44) ''बेसुरे लोग'' (शीर्षक कविता) पृ0–55।

''कुछ पते कुछ चिटिठ्याँ'' – रघुवीर सहाय।

(45) ''स्त्री मर गयी एक,छोटे–छोटे बच्चे छोड़कर/............. बच्चों की रोटी के सोच में पड़ गया मेरा मन/......... पैसा जो सिर्फ है मुआवजा मौत का।''

''मुआवजा'' – (शीर्षक कविता), पृ0–67।

''लोग भूल गये हैं'' (कविता संग्रह) – रघुवीर सहाय।

(46) ''लिख दिया गया स्कूलों में सुभाषित

'मरता क्या न करता,।''

''मर्ख–मूर्ख मेरी ओर'' – (शीर्षक कविता) पृ0–44।

''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय।

(47) ''कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ'' – रघुवीर साहय (''निवेदन'' से)

(48) ''आत्महत्या के विरूद्ध'' (शीर्षक कविता) पृ0–85।

''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय।

(49) ''जब मर के गया मैं बाहर'' (शीर्षक कविता) पृ0–51.।

''कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ'' – रघुवीर साहय।

(50) ''नयी कविताएँ : एक साक्ष्य'' – रामस्वरूप चतुर्वेदी,, पृ0–41।

(51) ''एक आँसू पिया मैने/एक चीकट बिस्तरे पर एक गीला बेखबर तन लिया मैंने/बचा सपने को।''

''मूर्ख–मूर्ख मेरी ओर'' – (शीर्षक कविता), पृ0 44–45।

''आत्महत्या के विरूद्ध'' – रघुवीर सहाय।

(52) ''स्वच्छन्द लेखक'' (शीर्षक कविता), पृ0–99।

लोग भूल गये हैं – रघुवीर सहाय।

(53) ''हमारी हिन्दी'' (शीर्षक कविता) पृ0–70।

आत्महत्या के विरूद्ध (कविता संग्रह) रघुवीर सहाय।

गिरिजा कुमार माथुर की कविता की भाषा और लोक संवेदना

(1) तार सप्तक – सम्पादक अज्ञेय, वक्तव्य, पृ0–144।

(2) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–173।

(3) "हैं पड़े दो चार छप्पर/हँड़ियाँ मचिया कठौते/लट्ठ गूदर बैल वक्खर/
मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–13।

(4) "आदमी हो ठीकरे सा/जबकि साधन सामने हो।" दृ0 वही,, पृ0–132।

(5) "डूबा व्यक्तित्व सभी/गोंफन से फेंके हुए पत्थर सी।" दृ0 वही,, पृ0–132।

(6) "टूटती नहीं है दर्द दुःख की घुमेर यह।" द्र0 वही,, पृ0–151।

(7) "क्योंकि प्रतिभा के सामने/हर गद्दीदार गावदी/फटीचर का बाँस सिर्फ तोता–रटी बोलता/भोदुओं की यह अपार भीड़/कनफुसियों में कहती है।" दृ0 वही,, पृ0–218।

(8) "जो अँधेरी रात में भभके अचानक/चमक से चकचौंध भर दे/
मैं निरन्तर पास आता अग्नि ध्वज हूँ।" दृ0 वही,, पृ0–152।

(9) "खरीददार की टोह में/घूम रहे कवि, लेखक सम्पादक।" दृ0 वही,, पृ0–218।

(10) दृ0 वही पृ0–219।

(11) "गठरी–पुटरी,, मोटे झोले,....... ठलुआ बैठे बीड़ी पीते/
पता नहीं है/ अगले दिन का।" दृ0 वही,, पृ0–296।

(12) "हर चँदिरा में छिपी एक रात कृष्ण।" दृ0 वही पृ0 – 134।

(13) "पर इतिहास के पहिए हाँके नहीं जाते हैं।" दृ0 वही,, पृ0–237।

(14) **"घिघियाती बकरी की अहिंसा–में चाकू।"**दृ0 वही,, पृ0–216।

(15) "बरजती/मेरी ही बौनी आवाज को।" दृ0 वही,, पृ0–190।

(16) "झाँइयों में उगी/नीर– तल से जरी।" दृ0 वही,, पृ0–191।

(17) "–चूर फूलों झरी।" दृ0 वही,, पृ0 –191।

(18) दृ0 वही,, भूमिका, पृ0–36।

(19) दृ0 वही,, पृ0–278।

(20) मैं वक्त के हूँ सामने (कविता संग्रह) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–58।

(21) दृ0 वही,, पृ0 58–59।

(22) "रोको/नदी में आते अर्राते पानी को।" दृ0 वही,, पृ0–33।

(23) "बंद करो/सारे खिड़की दरवाजे। हमें धूप से खतरा है।"दृ0 वही,, पृ0–33।

(24) "अपनी पीढ़ी से सवाल।"दृ0 वही,, पृ0 29–30।

(25) "किन्तु जिन्दगी की मिठास का रस लेने को/
हमने कटुता से जमकर संघर्ष किया है।"
मुझे और अभी कहना है –गिरिजा कुमार माथुर पृ0–83।

(26) "जो सुबह ओस गीले खेतों से आती है। मिठी हरियाली खुशबू गन्ध हवाओं में"
दृ0 वही,, पृ0–68।

(27) "मैंने ललछौंहा बीज/गहरे में बोया था/"
मैं वक्त के हुँ सामने (क0सं0) गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–38।

(28) "हम सब बौने हैं/उनकी नजर में/.......... क्योंकि हम जन हैं/साधारण हैं"
मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ–181।

(29) "चौथा चुपचाप पीछे से जाकर/सिंहासन ही उठा ले जाता है/
हाल पर बाहर से ताला जड़ देता है।" दृ0 वही,, पृ0–184।

(30) भोथरे हैं हल कुल्हाड़ी।" दृ0 वही,, पृ0–132।

(31) "लालिमा साँझ की सिमट रही .... जैसे घर लोटते किसान–वहू/काम दिन भर का करके खेतों से/लाल मुँह हो रहा है मेहनत से।" दृ0 वही – पृ – 121।

(32) "हाथ में चाँद सा चमक हैसिया।" द्र0 वही – पृ0 121।

(33) "वत्सल छाती सी पहाड़ियॉ/दूध पिलाने आतुरा/बच्चे सा सूरज सो जाता है। लेकर मुँह में आँचरा/" दृ0 वही,, पृ0–167।

(34) "एक मासूम निरपराध बच्चे सा .... सहसा एक धक्का दिया जायेगा। उप उपराधों के लिए/जो मैंने नहीं किये।" दृ0 वही,, पृ0–178।

(35) मैं वक्त के हूँ सामने (क0सं0) गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 83, 84, 85।

(36) तार सप्तक – सम्पा0 अज्ञेय, वक्तव्य, पृ0 145–146।

(37) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–128।

(38) "साँस लेता है वियावाँ/ हर तरफ गुपचुप खड़ी है/जनपदों की आत्माएँ।" "मुझे और अभी कहना है" गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 131।

(39) "नयी जगहँ है ठौर ठिकाना/कहीं न उसका. राह बिछाएँ/ बोरी–बण्डल–बर्तन भाँडे .... रूका हुआ हर कदम बवण्डर।" दृ0 वही,, पृ0 296–297 ।

(40) दृ0 वही,, पृ0 367।

(41) धूप के धान (कविता संग्रह) – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 – 73।

(42) "सो जा, तुझे सुलाए निंदिया/ढँक आचल के छोर से/सो जा परियाँ सपने लाएँ। हो पलकों के कोर से।" मुझे और भी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–378।

(43) दृ0 वही,, पृ0 378।

(44) दृ0 वही,, पृ0 365।

(45) दृ0 वही,, पृ0 379–380।

(46) ''बुझी हुई सिगरेट रात की पीते–पीते/घडी देखता जाता है वह/

.... उसका जीवन जीवन–हीन मशीन बन गया।'' दृ0 वही,, पृ0–49।

(47) ''सूर्य सुनहला उसका डूब रहा/नित कागज के भीतो मे।''दृ0 वही पृ0–50।

(48) ''चाँदी के पहियों पर चलती हुई/मोटरों का स्वर सुनता।''दृ0 वही पृ0–50।

(49) ''तुम कितना भाँजो/अपनी पन्नी मढी तलवार।''दृ0 वही, पृ0–236।

(50) ''जहाँ आदमी को आदमी/पत्थर को पत्थर कहना/बडे जिगरे का काम है।''

दृ0 वही–पृ0–237।

(51) ''वह अग्निबीजों को बोती रही/फिर से नया सूरज उगाने के लिए।''दृ0वही पृ0–101।

(52) दृ0 वही,, पृ0 208–209।

(53) दृ0 वही,, पृ0 218।

(54) ''एक नये तरह की चुनौती है। जो आदमी को सही नाम देने की/पहिचान मुझे देती है।'' मैं वक्त के हूँ सामने (क0सं0) गिरिजा कुमार माथुर, पृ0–3।

(55) मुझे और अभी कहना है – गिरिजा कुमार माथुर, पृ0 212, 213।

अज्ञेय की कविता की भाषा और लोक-संवेदना

(1) "अद्यतन" – अज्ञेय, पृ0–56।

(2) हिन्दी साहित्य, एक आधुनिक परिदृश्य – अज्ञेय, पृ0 202–203।

(3) आत्मने पद – अज्ञेय पृ0 – 199।

(4) हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य – अज्ञेय पृ0 23–24।

(5) अद्यतन – अज्ञेय (रचनात्मक भाषा और सम्प्रेषण की समस्याएँ) पृ0–57।

(6) "पति–सेवा–रत साँझ / उचकता देख पराया चॉद /
लला कर ओट हो गयी।" "अज्ञेय : सृजन और संदर्भ" पृ0 – 129 पर उद्धृत।
यहाँ 'लला' शब्द नववधू की स्पृहा (लालच भरी मनोकामना) को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त है।

(7) खादर में / राजा जी के पुरवे हैं। मिट्टी के घरवे हैं। ....
बॉगर का कुँआ / राजा जी का अपना है।" सदा नीरा – 2 (अज्ञेय की सम्पूर्ण कविताओं का संकलन), पृ0–60।
यहाँ खादर शब्द कछार, पुरवे = गॉव, घरवे = मिट्टी के घर और बॉगर शब्द बाढ़ में न डूब सकने वाली ऊँची जमीन के लिए प्रयुक्त होकर लोक–जीवन के संवेदनशील अर्थों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं।

(8) "कैसे आशीर्वच – मुदन्तु सर्वे, प्रसीदन्तु सर्वे।
'सर्वे सुखिन: सन्तु।' गावे कोई" ।सदानीरा–1 अज्ञेय की सम्पूर्ण कविताओं का संकलन।
पृ0–231 ।

(9) तारसप्तक – सम्पादक अज्ञेय, पृ0–222–223

अनुभव के स्तम्भ से अनुभव के स्तम्भ को मिलाता है/जो मानव को एक करता है। समूह का अनुभव जिसकी मेहरावें हैं/ और जन–जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी जिसके नीचे से बहती है।" तार सप्तक – सम्पा0 अज्ञेय, पृ0–249।

(10) "अनादिनिधनं ब्रहम शब्दतत्वं यदक्षरम्।" ।। 1 ।।

"वाक्य पदीय", प्रथम काण्डम्, भर्तृहरि कृतं, पृ0–1।

(11) "अरी धूल झगड़ैल, चढ़ी/पछवा के कन्धों पर इतराती/ले काट चकोटी अब भी।"

– सदानीरा – 1, अज्ञेय, पृ0–303।

(12) सदानीरा – 1, अज्ञेय पृ0 –270, 271, 272 ।

(13) पहाड़ियों से घिरी हुई इस छोटी–सी घाटी में

ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर/धुँआ उगलती जाती है............।

मानव की आशाएँ ही पल–पल/उसको छलती जाती है।"

सदानीरा – 2, अज्ञेय, पृ0 – 37।

(14) "अच्छा माँ! मुझे खाली मिट्टी दे दो –

मैं कुछ नहीं माँगूंगा/मेले जाने का हठ नहीं ठानूँगा/

जो कहोगी मानूँगा।" – सदानीरा – 2, अज्ञेय, पृ0–106।

(15) "यह कली/झुट पुट अंधेरे में/पली थी देहात की गली में/
भोली–भाली/नगर के राजपथ, दिपते/प्रकाश में गयी छली।"
सदानीरा – 2 अज्ञेय पृ0–51।

(16) "ये उपमान मैले हो गये हैं/देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच/
कभी वासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।"
सदानीरा – 1, अज्ञेय पृ0 – 240।

(17) ''रात सान की/कोयल भी बोली/पपीहा भी बोला/मैंने नहीं सुनी/
तुम्हारे कोयल की पुकार/तुमने पहिचानी क्या/मेरे पपीहे की गुहार।''
सदानीरा–2, अज्ञेय पृ0–379।

(18) ''ऊपर उठा हूँ इतना आकाश में/
जितना की मेरी जडें नीचे दूर धरती में समायी हैं।
जो मरण–धर्मा है वे ही जीवनदायिनी है।''
सदानीरा–2, अज्ञेय, पृ0–40।

(19) ''बँधी लीक पर रेलें लादे माल/चिहुँकती और रँभाती अफराये डाँगर–सी ठिलती चली जाती है।'' –द्र0 वही,, पृ0–37।

(20) ''......... मेरा रक्त ताजा है/मेरी लहर भी ताजा और शक्तिशाली है।''
सदानीरा–1, अज्ञेय, पृ0 – 259।

(21) सदानीरा – 2, पृ0–51।

(22) ''ये केले के पेड़, क्यों नहीं भगवान ने तुझे रीढ़ दी/कि कभी तो तू अपने भी काम आता – चाहे तुझे कोई न भी खाता–/न सेठ, न सन्यासी न डाँगर पशु।''
सदानीरा–2, पृ0–223।

(23) ''यह दीप अकेला स्नेह–भरा/है गर्व भरा मदमाता, पर इसको भी पंक्ति को दे दो।''
सदानीरा–2, अज्ञेय, पृ0–261।

(24) आत्मनेपद – अज्ञेय पृ0 41–45।

(25) द्र0 वही,, पृ0–45।

(26) ''अपनी अखण्ड आस्था के साध्य रूप/ मश्शाल जला दूँ/न सही क्षयग्रस्त नगर में/ इस बनखण्डी में आग लगा दूँ।''
सदानीरा–1, अज्ञेय, पृ0–266 ।

(27) ''नव सर्जना में जो अपने को होम कर होते हैं आनन्दमग्न/
उनकी तो दृष्टि और होती है।'' द्र0 वही – पृ0 – 267।

(28) सदानीरा – 1 – अज्ञेय।

(29) ''दाम देगा नहीं, वसूलेगा/और फिर हम सबको – एक–एक को – एक साथ/
और बड़े इत्मीनान से धीरे–धीरे खायेगा/खाता चला जायेगा।''
सदानीरा–2, अज्ञेय, पृ0 – 174।

उपसंहार

साहित्य शब्द का कलात्मक व्यापार नही है। साहित्य शब्द की साधना है। यह साधना मानवीय मूल्यों की स्थापना कर समाज के हित के भाव को प ल्लवित एवं विकसित करती है। आनन्द रिक्तता की परिपूर्णता है। अनादिकाल से परिपूर्णता की प्राप्ति के मार्ग का अन्वेषण हो रहा है किन्तु अभी वह मार्ग किसी को प्राप्त नहीं हो सका है। साहित्य का शिवत्व ही सत्य और सुन्दर है।जिसमें शिवत्व नहीं है वह असत्य व असुन्दर है। यह शिवत्व व्यापक और सर्वकालिक है। परलोक की कल्पना सुख की चरम परिणति की प्राप्ति के लिए की गयी है। यह लोक दुःखों का कारण और विपदाओं का आलय है। सभी निलय कुछ क्षणों के लिए भले ही भौतिक सुख प्रदान कर दें किन्तु आत्मिक–सौन्दर्य की अप्राप्ति के कारण व्यक्ति सदैव अकथनीय पीड़ा को प्राप्त करता है।

हिन्दी साहित्य का स्वातन्त्र्योत्तर काल सम्पूर्ण प्राचीन मिथकों, मूर्तियों और मिथ्यात्मक आदर्शों के खंडहर को ध्वस्त करने वाला काल है। इस काल के कवियों ने जीवन–मूल्यो को भौतिक रूप में व्याख्यायित किया है। मार्क्सवाद के प्रभाव ने काव्य–सौन्दर्य को नये रूप में प्रतिष्ठित किया है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति भारत के लिए महती उपलब्धि रही है, परन्तु जितनी इससे आशा थी ठीक उसके विपरीत परिणति की प्राप्ति हुई। आम आदमी की हड्डियों को बज्र बनाकर उन्हीं पर प्रहार करना शासकों का मूल–मन्त्र सा बन गया था, इसीलिए इन कवियों ने ऐसे पाषाण–हृदय शासकों की कटु आलोचना करते हुए सामान्य जनों की असीम पीड़ा को अपनी कविताओं में अभिव्यंजित किया है।

वस्तुतः 'लोक' शब्द प्रारम्भ से साधारण जनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक संस्कृत अभिजात्यों की और लौकिक संस्कृत अकुलीनों की भाषा रही है। जब लौकिक साहित्य को

कुलीनों ने स्वीकार किया तब प्राकृत और अपभ्रंश,–आम आदमी, जो अल्प शिक्षित, अशिक्षित, श्रमजीवी रहे हैं – की भाषा बनी। लौकिक संस्कृत में भी लोक शब्द साधारण जनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। वस्तुतः संवेदना की अनुभूति आम आदमी के जीवन से ही होती है क्योंकि वह वेदना से जन्म लेकर उसकी आग में अपने यौवन को हवन करता हुआ उसी में अपनी अन्तिम साँस लेता है। उसे यह भी ज्ञात नहीं रहता कि वह भी एक आदमी है, इन्सान है, पृथ्वी का अन्य अभिजात्य वर्ग की ही भॉति हॉथ–पैर व बुद्धि रखने वाला एक मानव है। वह बस पूँजी –पतियों और सामन्तों के भोग–विलास का एक मात्र साधन बनकर जीता रहता है। वह रात–दिन श्रम करता है, अपने नव्य राजाओं के लिए खून पसीना एक कर देता है और अपना सब कुछ न्यौछावर कर देता है – महाप्रभुओं के चरणों में ; पर उसे बदले में मिलता है तिरस्कार, अपमान, उपेच्छा, प्रताड़ना और जलालत की सुखी रोटी,, वह भी समय से नहीं। उसकी क्षुधा–अग्नि की शान्ति कभी अन्न से नहीं होती है परन्तु उसी के रक्त मांस से होती है। सूखी हड्डियों को ढ़ोता हुआ सुखद भविष्य की आशा में वह क्या नहीं सहता है ?

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त गरीबी दूर करने के लिए जिन–जिन राजनैतिक दलों ने जो–जो भी नारे दिये वे सब शुद्ध छल रहे। क्षुधानल में जलने वालों को मदिरा पान कराकर इनके बल पर शासन पर कुण्डली मारकर बैठे रहने वाले नेताओं ने इनके साथ सदा विश्वासघात किया। अपने को सुरक्षित रखने के लिए पूँजी–पतियों से साँठ–गाँठ कर राजाओं से भी अधिक भोग–विलास के मद में डूबे रहते रहे। बिडम्बना तो यह है कि दलित–शोषितों के बीच से जो नेता बनते हैं, वे भी इनके साथ वही व्यवहार करते हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था करती है। कुछ तथाकथित बुद्धजीवियों के दल भी इन्हीं भ्रष्टअत्याचारी निरंकुश शासकों की विरुदावली गाते हुए उनसे धन पाकर सरस्वती का अपमान करते हैं।

यद्यपि हिन्दी साहित्य के विकास में विषय व भाषागत परिवर्तन होते रहे है परन्तु स्वतन्त्रता के बाद की परिस्थितियों के कारण कवियों ने आम–आदमी की समस्याओं को विषय बनाकर अपनी नव्य रचनाओं से हिन्दी साहित्य को एक नया रूप प्रदान किया है। छायावादी कवियों में मुख्यत: निराला ही एक ऐसे कवि हैं जिन्होंने साधारणजनों,—पत्थर तोड़ने वाली, भिक्षा मांगने वाले, प्रकृति के आघातो को झेलते हुए भी खेत–खलिहानों में सभी के भोजन के लिए अन्न उगाने वालों—को अपनी कविता का विषय बनाकर आने वाले कवियों के लिए भाषा और विषयगत परिवर्तन का ऐसा सेतु प्रदान कर दिया है जिसके माध्यम से सरलता से नूतन, गहन और जटिल विषय की उफनती नदी को पार किया जा सकता है। कविता के वाह्य और अन्तर स्वरूपों में जो परिवर्तन आया है – क्रमशः चल भी रहा है – और भविष्य में भी चलता रहेगा– यह नूतन सृजन का संकेत है। यद्यपि इसपर परम्परावादियों ने जमकर प्रहार किया है परन्तु पुराना ही सब कुछ श्रेयस् है और नया दोषपूर्ण है – यह नहीं कहा जा सकता है। प्रत्येक परिवर्तन में गुण–दोष का सम्मिश्रण रहता है। दृष्टि–भेद से गुण–दोष की मीमांसा होती आयी है और होती रहेगी।

प्रत्येक युग का कवि आलोचना से भयाक्रान्त होकर यथास्थिति वाद के लौह पंजर में जकड़ा नहीं रहता है वरन् उसे तोड़कर लोक–हित या लोक–मंगल की बात करता है। इन कवियों ने लोक–हित को वास्तविक रूप में पहिचानकर उसकी अस्मिता को सुरक्षित रखने का प्रयास किया। वस्तुतः समाज के सबसे दुर्बल व्यक्ति के लिए संसार में कहीं भी न्याय नहीं है। उन्हें जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अन्याय की आग पर चलना पड़ता है। भारतीय दार्शनिकों के सिद्धान्त ने भी 'सुख–दुख की प्राप्ति पूर्व जन्म के कार्यों का फल है' – को बताकर इन्हें यथास्थिति वाद में सांस लेने के लिए बाध्य कर दिया। 'नियति' शब्द ने इनके क्रान्ति–बीज को दग्ध कर दिया है, परम्परा और रूढ़ियों ने इनके पांव में जंजीर डाल दी है। जातिवाद,

सम्प्रदायवाद और ईश्वरवाद ने इनके कर्मठ हॉथों को इस प्रकार निष्क्रिय बना दिया है कि उनके द्वारा किये गये कार्य उनकी क्षुधाग्नि को भी तृप्त करने में समर्थ नहीं हो पा रहे हैं। ऐसा नहीं है कि वे श्रम नहीं करते हैं, पर 'श्रम का फल उनके भाग्य में' नहीं – यह सोचकर वह शान्त रहते हैं। भारत की राजनीतिक–व्यवस्था की विचित्रता यही है कि जो दिन–रात अथक परिश्रम की भट्ठी में अपने को झोंके रहते हैं वे ही सबसे दुःखी हैं।जो उन्हें जलते हुए दूर से देखकर प्रसन्न रहता है वही सबसे सम्पन्न रहता है।

इन सभी कवियों ने अन्याय के साम्राज्य पर हथौडा मारने का प्रयास किया। इनकी भाषा में कहीं भी वंचना नहीं है। सीधे शब्दों में नेहरू के प्रभा मण्डल पर प्रहार करने वाले नागार्जुन ने उनकी सशक्त पुत्री इन्दिरा गाँधी की माया, छल–प्रपंच की गन्दी राजनीति को आवरण विहीन बना दिया है। इनकी कविताओं में शासन की क्रूरता, अन्यायप्रियता और अदूरदर्शिता पर सीधा प्रहार यह सिद्ध करता है कि युगान्तरकारी कवि की दृष्टि खुली हुई होती है और वह सत्य–कथन से भयभीत नहीं होता है। केदारनाथ अग्रवाल ने भी 'खरी–खरी' बात कहकर स्वतन्त्र भारत के शासकों के अपकर्मों का भण्डाफोड़ किया है। धूमिल का 'संसद से सड़क तक' वस्तुतः भारत के तथाकथित समाज–सेवकों, नकली राष्ट्रभक्तों की काली–काली करतूतों की गाथा है। रघुवीर सहाय, त्रिलोचन, गिरिजा कुमार माथुर, अज्ञेय और मुक्तिबोध जैसे कवियों ने आम आदमी की साँसों की पीडा को पहचाना है। मुक्तिबोध जब विराट् पुरूष की कल्पना करते हैं तब सर्वप्रथम यही प्रतीत होता है कि इनका विराट पुरूष औपनिषदिक होगा किन्तु इनका विराट पुरूष क्रान्तिपुरूष है। इनका श्यामवर्ण वाला श्रमिक ही 'राम' और 'श्याम' है। इनकी 'फैंटेसी' केवल निरर्थक फैटेंसी नहीं है वरन् भावी यथार्थ का अनुपम चित्र है जिसे मुक्तिबोध जैसा कवि ही देख सकता है। यह क्रान्तिदृष्टा कवि जब वास्तविक कल्पना के आकाश में उड़ने लगता है तब वह ऋषियों के ध्यान–लोक की गहराई में पहुँचकर

जिस फैंटेंसी का साक्षात्कार करता है वह कुछ लोगों के लिए भले ही उनका पागलपन लगे लेकिन वस्तुतः वह भविष्य का यथार्थ चित्रण होता है। मुक्तिबोध की क्रान्ति की बैलगाड़ी भले ही मन्थर गति से चले किन्तु उबड–खाबड रास्ते को पारकर अपनी मंजिल पर अवश्य पहुँच जाती है। वे जानते हैं कि बौद्धिक वर्ग केवल एक कमरे में बैठकर कागजों पर ही क्रान्ति के गीत गा सकते हैं, वे रात्रि में रावणों के यहॉ पानी भरते हैं, भिश्तीगिरी करते हैं, उनके चरणों में तेल लगाते हैं और उनकी जय–जयकार करते हैं किन्तु दिन में क्रान्ति के ध्वज को बस अपने घर के एक कोने में गाड़कर अपने को क्रान्ति–बीज का जनक मान बैठते हैं। मुक्तिबोध को विश्वास है कि इस प्रकार के चिन्तन यथास्थितिवाद के पोषकों से भी अधम है क्योंकि इनके वाह्य और आन्तर स्वरूप में विरोध है। क्रान्ति कोई कर सकता है तो केवल शोषित–श्रमिक वर्ग ही। वह अन्धेरे में भी अपने सभी कार्यों को पूर्ण कर सकता है।

नागार्जुन का भी दलित वर्ग जब विद्रोह की ज्वाला लेकर खड़ा हो जाता है तब सामन्ती विचारधारा के लोगों के प्रासाद मिट्टी में मिल जाते हैं। नागार्जुन, रघुवीर सहाय, धूमिल आदि सभी कवियों का हृदय व्याकुल हो उठता है आम–आदमी की दुर्दशा को देखकर। ये उनके साथ–साथ जीने–मरने के लिए तैयार रहते हैं। नागार्जुन मुसलमान रिक्शे वाले के बच्चों का चुम्बन लेने के लिए व्याकुल रहते हैं। रघुवीर सहाय चीकट लपेटे श्रमिक बालक से प्रेम करना चाहते हैं। अज्ञेय इनकी बस्ती में सॉस लेना चाहते हैं। केदार तो अपना सम्पूर्ण जीवन इन्हीं के हित के लिए अर्पित कर रहे हैं। त्रिलोचन तो गाँव की मिट्टी के कणों से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए वे अपनी कविता में उन्हीं की बात करते हैं जो दिन–रात धूप, वर्षा और जाड़ा से युद्ध कर अपने खेतों में काम करते हुए अमीरों के सुख की सामग्री एकत्र करते रहते हैं और स्वयं घर–विहिन होकर भूखे ही फूटपाथ पर या मड़ई के कोने में अपनी नींद से आँख मिचौली खेलते हुए सूरज की किरणों को जगाते हैं। उनके जीवन में बस अमावस्या की

रात्रि ही रहती है। गिरिजा कुमार माथुर की अधेड़ स्त्री चुपके से उद्यान में घुसकर माली के ऊँघते रहने पर घास काटती है और सूखी लकड़ियों को एकत्रित करती हैं। यही घास उसके लिए रोटी बनती है। रघुवीर सहाय का बूढ़ा बाप अकाल के समय अपने बेटे को फर्श पर लिटाकर बेटे की जगह अपनी गोदी में कटोरे को रखते हुए चुप-चाप पेंदी में सटे हुए भात को नहीं अपनी जिन्दगी को खाता है। उनका क्लर्क पूड़ी को तरसता है। रात्रि में उसकी पत्नी चुपके से चार पुऐ बनाकर बलवती इच्छा को पूर्ण करना चाहती है तभी उसके बच्चे उठ जाते हैं और इस कृत्य को देखकर सो जाते हैं ''मुँह ढककर''।

इन कवियों ने ऐसे ही मर्मभेदी चित्र उपिस्थत कर आम-आदमी के प्रति अपनी संवेदनशीलता को अभिव्यक्ति दी है, साथ ही साथ शासन और प्रशासन के ढ़पोरशंखी चरित्र को उजागर किया है। यह सब कुछ इसलिए है कि मानवीय संवेदनाएं मर चुकी हैं। सामन्तवादी विचारधारा किसी न किसी रूप में शासन पर कुण्डली मारकर बैठी हुई है। गंगा के पानी को जिसे गरीबों के घर बहना चाहिए, शासन और प्रशासन अपने घरों की ओर मोड़ देते हैं। आम--आदमी इसे अपनी आँखों से देखता रहता है पर कुछ कर नहीं पाता है। यदि वह विद्रोह करने का साहस करता है तो उस पर नृशंसतापूर्वक गोलियों की वर्षा की जाती है। अखबारों में सब छपता है लेकिन उसका कोई मूल्य नहीं है। मरने वालों का नाम भी ज्ञात नहीं होता है क्योंकि वह विशिष्ट व्यक्ति नहीं है। रामदास का हत्यारा बड़े विश्वास से रामदास की हत्या करता है और भीड़ उसे मात्र देखती रह जाती है। गिरीश की मृत्यु होती रहती है। मूर्ति तोड़ने वाला दूसरी मूर्ति भोली-भाली जनता के हाथ में थमा देता है। मिस्त्री और उसका बेटा नेहरू युग के पेंच को-यह जानते हुए भी कि यह कस नहीं सकता है, इसकी चूड़ियाँ घिस गयी है-कसता रहता है। भारत में दयावती के कुनवा को बेमौत घुट-घुट कर मरना है। महलों की नींव से लुटी हुई अस्मिता वाली नवयुवतियों की सिसकियाँ आती रहती है पर उस महल का

स्वामी आम–आदमी के रक्त की वारूणी को शासकों और प्रशासकों के साथ पीता रहता है। मुसद्दीलाल सदा मुस्कराता रहता है। योग्य वही है जो सबसे बड़ा अर्थपति हो। इन कवियों की लेखनी बिकी नही है, इसलिए इन्होंने निर्विकार भाव से आम आदमी की कराहती हुई जिन्दगी के उन कारूणिक दृश्यों को प्रस्तुत किया है जिसे देखकर एक बार दानव भी दयार्द्र हो जाय किन्तु भारत के शासक और प्रशासक की ऑखों से घडियाली आँसू भी नहीं टपकते हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ : प्रकाशन – सूची

मूल ग्रन्थ :–

1 अनकहनी भी कुछ कहनी है (कविता सग्रह) – त्रिलोचन
राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 2/38, असारी रोड, दरियागंज.
नयी दिल्ली – 110002 । (दूसरा सस्करण – 1993)

2. अपूर्वा (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन, 17 एम0 आई0 जी0, बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर,
इलाहाबाद–211006 । (प्रथम सस्करण–1994)

3. आखिर ऐसा क्या कह दिया मैने (क0स0)– नागार्जुन
वाणी प्रकाशन, 21 ए, दरियागंज, नई दिल्ली – 110002

4. आग का आईना (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन, 743,मोतीलाल नेहरू नगर, इलाहाबाद–2
(प्रथम संस्करण–1970)

5. ऑगन के पार द्वार (क0सं0)– अज्ञेय
भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली – 110003

6. आत्मगंध (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन, 17, एम0आई0जी0, बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर, इलाहाबाद
–211002 । (प्रथम सस्करण–1988)

7. आत्महत्या के विरूद्ध (क0सं0) – रघुवीर सहाय
राज कमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8,नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली–110002
(तृतीय संस्करण–1985)

8. इत्यलम् (क0सं0) – अज्ञेय
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली ।

9. इस गुब्बारे की छाया में (क0सं0)– नागार्जुन
वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागज, नई दिल्ली–110002 । (प्रथम संस्करण–1989)

10. उस जनपद का कवि हूँ (क0सं0) – त्रिलोचन
राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा0लि0 , अंसारी मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली – 110002.

11. कल सुनना मुझे (क0सं0) – धूमिल
वाणी प्रकाशन , 21–ए , दरियागंज, नयी दिल्ली – 110002 (सं0–1999)

12. कहे केदार खरी–खरी (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन , 17 , एम0 आई0 जी0 , बाघम्बरी आवास योजना , अल्लापुर, इलाहाबाद – 211006 (प्रथम सस्करण–1983)

13. कुछ पते ,कुछ चिट्ठियॉ (क0स0) – रघुवीर सहाय
राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0, 1 बी , नेताजी सुभाष मार्ग ,नयी दिल्ली – 110002 (प्रथम संस्करण–1989)

14. खिचड़ी विप्लव देखा हमने (क0स0) – नागार्जुन
संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज , हापुड़ – 245101 (प्रथम संस्करण–1980)

15. चॉद का मुँह टेढ़ा है (क0सं0) – मुक्तिबोध
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन,18,इंस्टीट्यूशनलएरिया, लोदी रोड, नयीदिल्ली – 110003 (नौवा संस्करण–1988)

16. चैती (क0सं0) – त्रिलोचन
वाणी प्रकाशन , 21–ए , दरियागंज, नयी दिल्ली – 110002 (प्र0सं0–1987)

17. जमुन जल तुम (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन , 17 एम0आई0जी0, बाघम्बरी आवास योजना , अल्लापुर इलाहाबाद – 211006 , (प्र0सं0 1984)

18. ताप के ताये हुए दिन (क0सं0) – त्रिलोचन
संभावना प्रकाशन, रेवती कुंज , हापुड़ – 245101 (सं0–1980)

19. तार सप्तक (क0सं0) – सम्पा0 अज्ञेय
भरतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, लोदी रोड ,नयी दिल्ली–110003 (छठा संस्करण–1995)

20. तुमने कहा था (क0सं0) – नागार्जुन
वाणी प्रकाशन , 21–ए , दरियागज, नयी दिल्ली–110002 (द्वितीय संस्करण–1988)

21. दूसरा सप्तक (क0सं0) – सम्पादक अज्ञेय
भारतीय ज्ञानपीठ , 18 , इंस्टीट्यूशनल एरिया , लोदी रोड , नयी दिल्ली–110003

22. धरती (क0सं0) – त्रिलोचन
नीलाभ प्रकाशन , 5– खुसरो बाग रोड , इलाहाबाद , (प्रथम संस्करण–1977)

23. धूप के धान (क0सं0) – गिरिजा कुमार माथुर
भारतीय ज्ञानपीठ , काशी (प्र0सं0 1955)

24. नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएं–2– सम्पादक शोभाकान्त मिश्र
वाणी प्रकाशन , 21–ए , दरियागंज, नयी दिल्ली – 2 (प्र0सं0 1985)

25. प्यासी पथरायी ऑखे (क0सं0) – नागार्जुन
अनामिका प्रकाशन , 185 , नया बैरहना , इलाहाबाद – 211003 (संस्करण–1982)

26. फूल नही रंग बोलते हैं (क0सं0) – केदारनाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन , 17 एम0आई0जी0, बाघम्बरी आवास योजना , अल्लापुर
इलाहाबाद – 211006 (तीसरा संस्करण–1983)

27. फूल नाम है एक (क0सं0) – त्रिलोचन
राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0,1बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली–110002 ,(संस्करण–1985)

28 बोले बोल अबोल (कवितासंग्रह) –केदार नाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन , 17 एम0आई0जी0, बाघम्बरी आवास योजना , अल्लापुर
इलाहाबाद – 211006 (प्रथम सस्करण–1985)

29. भूरी–भूरी खाक धूल (क0स0) –मुक्तिबोध
राजकमल प्रकाशन, 8 नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली–110002,
(द्वितीय संस्करण–1987)

30. मुझे और अभी कहना है (क0सं0) – गिरिजा प्रसाद माथुर
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ,18 ,इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदीरोड, नयी दिल्ली–110003 (प्र0सं0–1991)

31. मैं वक्त के हूँ सामने (क0सं0) –गिरिजा प्रसाद माथुर
नेशनल पब्लिशिंग हाउस , दरियागज, नयी दिल्ली – 110002 ,(प्र0स0–1990)

32. लोग भूल गये है (क0सं0) – रघुवीर सहाय
राजकमल प्रकाशन, 1 बी , नेताजी सुभाष मार्ग ,नयी दिल्ली – 110002
(तीसरा संस्करण–1989)

33. सतरंगे पंखो वाली (क0सं0) – नागार्जुन
वाणी प्रकाशन , 21–ए , दरियागंज, नयी दिल्ली – 110002 (प्र0सं0 1984)

34. सदानीरा – 1 (अज्ञेय की सम्पूर्ण कविताओं का संकलन)
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

35. सदानीरा – 2 (अज्ञेय की सम्पूर्ण कविताओं का संकलन)
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली

36. संसद से सड़क तक (क0सं0)– धूमिल
राजकमल प्रकाशन, 1– बी , नेताजी सुभाष मार्ग , नयी दिल्ली – 110002
(छठा संस्करण–1990)

37. सबका अपना आकाश (क0सं0) – त्रिलोचन
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग ,
नयी दिल्ली – 110002, (प्रथम संस्करण–1987)

38. सीढियो पर धूप में (क0 स0) – रघुवीर सहाय
वाणी प्रकाशन , 21–ए , दरियागज , नयी दिल्ली – 2

39. शब्द (क0सं0) – त्रिलोचन
वाणी प्रकाशन , 21–ए , दरियागंज , नयी दिल्ली – 2

40. हे मेरी तुम (क0सं0) –केदार नाथ अग्रवाल
परिमल प्रकाशन , 17 एम0आई0जी0, बाघम्बरी आवास योजना , अल्लापुर
इलाहाबाद – 211006 (प्रथम संस्करण–1984)

सहायक ग्रन्थ :–

1. अर्थात् – रघुवीर सहाय (सम्पादक – हेमन्त जोशी)
राजकमल प्रकाशन, 1बी , नेताजी सुभाष मार्ग , दयिागंज , नयी दिल्ली – 110002
(प्र0 सं0 – 1994)

2. अन्तराल– गिरिजा कुमार माथुर (सम्पादक – गोपाल दत्त सारस्वत
श्री राम मेहरा एण्ड कम्पनी , हॉस्पिटल रोड , आगरा , (स0 – 1978)

3. अज्ञेय : आज के लोकप्रिय कवि – सम्पादक विद्यानिवास मिश्र
राजपाल एण्ड संस , मदरसा रोड , कश्मीरी गेट , दिल्ली – 6, (सं0 – 1978)

4. अज्ञेय काव्य में प्रागबिम्ब और मिथक – सी0 एस0 राजन
लोक भारती प्रकाशन, 15–ए , महात्मा गॉधी मार्ग, इलाहाबाद–1 (प्र0सं0–1992)

5. अज्ञेय : सृजन और सन्दर्भ – सम्पादक– डा0 सावित्री मिश्र
लोक भारती प्रकाशन , 15 ए , महात्मा गॉधी मार्ग , इलाहाबाद–1 (प्र0सं–1989)

6. आचार्य शुक्ल : प्रतिनिधि निबन्ध – सम्पादक सुधाकर पाण्डेय
राधा कृष्ण प्रकाशन , अंसारी रोड , दरियागंज नयी दिल्ली – 110002 (सं0–1977)

7. आत्मनेपद – अज्ञेय
नेशनल पब्लिशिंग हाउस , दरियागंज , नयी दिल्ली – 110002 ।

8. आत्म संघर्ष की कविता और मुक्तिबोध – डॉ हंसराज त्रिपाठी
मानस प्रकोशन ,विवेक नगर , प्रतापगढ़ (अवध) , 230001 (प्र0सं0–1982)।

9. आदिकालीन हिन्दी रासो काव्य परम्परा एवं भारतीय सस्कृति – डॉ राकेश चतुर्वेदी
साहित्यवाणी , 28 पुराना अल्लापुर , इलाहाबाद – 211006 (प्र0स0–1987) ।

10. आधुनिक भारतीय साहित्य – बी0एल0 ग्रोवर , यशपाल
प्रकाशन –एस0 चन्द एण्ड कम्पनी लि0 रामनगर, नयी दिल्ली – 110055,
(दूसरा संस्करण – 1982)

11. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – नामवर सिंह
लोक भारती प्रकाशन , 15 ए , महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद–1 (सं0–1994)

12. आँसू – जयशंकर प्रसाद
लोक भारती प्रकाशन , 15 ए , महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद – 1 (स0–1995)

13. इतिहास और आलोचक दृष्टि – रामस्वरुप चतुर्वेदी
लोक भारती प्रकाशन , इलाहाबाद (प्र0स0–1982)

14. उद्धव शतक – सम्पादक– डॉ जगदीश गुप्त
सुमित्र प्रकाशन , 18 ए , एल्गिन रोड , इलाहाबाद (प्र0सं0–1983)

15. कटघरे का कवि धूमिल – डॉ ग0 तु0 अष्टेकर
पंचशील प्रकाशन , फिल्म कालोनी , जयपुर – 302003 (सं0–1984)

16. कबीर ग्रन्थावली – सम्पादक– माता प्रसाद गुप्त
साहित्य भवन प्रा0 लिमिटेड, के0पी0 कक्कड रोड, इलाहाबाद, 211003
(प्र0सं0–1985)

17. कबीर वाणी पीयूष – सम्पा0 डॉ0 जयदेव सिंह व डॉ0 वासुदेव सिंह
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, (प्र0सं0–1976)

18. कवितावली (उत्तर काण्ड) – टीकाकार लाला भगवान दीन
प्रकाशन केन्द्र, सीतापुर रोड, लखनऊ ।

19. क्रान्तिदर्शी कवि धूमिल – डॉ0 बी0 कृष्ण
डॉ0 एस॰आर0 गुप्ता, सीता प्रकाशन,मोती बाजार, हाथरस (प्र0सं0–1994)

20. कामायनी – जयशंकर प्रसाद
गोबर्द्धन सराय, वाराणसी – 10 (आवृत्ति–1987)

21. कामायनी : एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध
राजकमल प्रकाशन प्रा0लि0, 1 बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली–110002.

22. काव्य और अर्थ बोध – त्रिलोचन (सम्पादक – डॉ0 अवधेश प्रधान)
साहित्य वाणी, 28 , पुराना अल्लापुर, इलाहाबाद – 211006 (प्र0सं0–1995)

23. काव्य रश्मि – सम्पादक डॉ0 कन्हैया सिंह, डॉ0 अनन्त सिह
विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी (द्वितीय संस्करण–1979)

24. काव्य समीक्षा – डा0 विक्रमादित्य राय
भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, फरवरी 1967।

25. केदारनाथ अग्रवाल – सम्पादक अजय तिवारी
परिमल प्रकाशन, 17 एम0आई0जी0 बाघम्बरी आवास योजना
अल्लापुर, इलाहाबाद–211006, (प्र0सं0–1986)।

26 छायातप – प्रो0 डॉ0 सत्य नारायण त्रिपाठी, डॉ0 रामदेव शुक्ल
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक वाराणसी (प्र0सं0–1983)

27. जनवादी समझ और साहित्य – राम नारायण शुक्ल
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक , वाराणसी (प्र0सं0–1985 ई0)

28. जायसी ग्रन्थावली (पद्मावत) – सम्पादक राजनाथ शर्मा
विनोद पुस्तक मन्दिर , आगरा, (षष्ठ संस्करण–1983)

29. जायसी ग्रन्थावली – सम्पादक रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् – 2013, (13वॉं संस्करण)

30. धूमिल और उसका काव्य संघर्ष – ब्रह्मदेव मिश्र
लोकभारती प्रकाशन, 15ए, महात्मा गॉंधी मार्ग, इलाहाबाद – 1 (प्र0सं0–1987)

31. नयी कविताएँ:एक साक्ष्य – राम स्वरूप चतुर्वेदी
लोक भारती प्रकाशन, 15–ए, महात्मा गॉंधी मार्ग, इलाहाबाद–1 (स0–1990)

32. नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध – गजानन माधव मुक्ति बोध
विश्व भारती प्रकाशन, धनवटे चेम्बर्स, नागपुर 12 (द्वितीय संस्करण–1977)

33. नागार्जुन – प्रभाकर माचवे (आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि–14)
राजपाल एण्ड सन्स – मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली – 6

34. नागार्जुन – सत्य नारायण
रचना प्रकाशन, किशन पोल बाजार, जयपुर – 1 (प्र0सं0–1991)

35. नागार्जुन का रचना संसार – विजय बहादुर सिंह
संभावना प्रकाशन , रेवती कुंज, हापुड़ – 245101

36. नागार्जुन की कविता – अजय तिवारी
वाणी प्रकाशन , 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली – 110002 (प्र0सं0–1990)

37. नागार्जुन की काव्य यात्रा – डॉ0 रतन कुमार पाण्डेय
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी (प्र0सं0–1986 ई0)

38. पद्मावत का लोकतात्विक अध्ययन – डॉ0 नृपेन्द्र प्रसाद वर्मा
अनुपम प्रकाशन, पटना (प्रथम संस्करण–1979)

39. पद्मावती समय – सम्पादक डॉ0 विश्वनाथ गौड़
साहित्य निकेतन, कानपुर (सं0–1986)

40. प्रगतिशील काव्यधारा और केदारनाथ अग्रवाल – डॉ0 राम विलास शर्मा
परिमल प्रकाश, 17, एम0आई0 जी0 बाघम्बरी आवास योजना, अल्लापुर, इलाहाबाद– 211006 (प्र0सं0–1986)

41. प्रिय प्रवास – अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर, 1921 (द्वितीय बार)।

42. प्रेमघन सर्वस्व (प्रथम भाग) – सम्पादक श्री प्रभाकेश्वर प्रसाद उपाध्याय,
श्री दिनेश नारायण उपाध्याय,
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीयावृत्ति, (शक–1884)

43. बाबा नागार्जुन – सम्पादक नरेन्द्र कोहली
वाणी प्रकाशन , 21 – ए , दरियागज , नयी दिल्ली – 2 ।

44. बिहारी रत्नाकर – श्री जगन्नाथ दास रत्नाकर
तारा बुक एजेन्सी, कमच्छा, वाराणसी–221010 (पं0सं0–अष्टम् आवृत्ति 1994)

45. भक्तिकाव्य और लोक जीवन – शिव कुमार मिश्र
पीपुल्स लिटरेसी , 317 मटिया महल , दिल्ली – 110006 (प्र0सं0–1983)

46. भारतीय लोक साहित्य – डॉ0 श्याम परमार
साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग ।

47. भारतेन्दु ग्रन्थावली (पहला खण्ड) – सम्पादक शिव प्रसाद मिश्र
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, (सं0–2027)

48. भारतेन्दु ग्रन्थावली (दूसरा खण्ड) – संकलनकर्ता व सम्पादक ब्रज रत्न दास
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (सं0–1991)

49. भ्रमरगीत सार – सम्पादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
विद्या भाष्कर बुक डिपो, ज्ञानवापी, वाराणसी (नवरात्र–2049)

50. मतिराम ग्रन्थावली – सम्पादक कृष्ण बिहारी मिश्र
गंगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ (सं0–1983वि0)

51. मुक्ति बोध : ज्ञान और संवेदना – नन्द किशोर नवल
राज कमल प्रकाशन प्रा0लि0, 1–बी, नेताजी, सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली – 110002, (प्र0सं0–1993)

52. मेरे साक्षात्कार – नागार्जुन (सम्पादक – शोभाकान्त)
किताब घर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली– 11002 (प्र0सं0–1994)

53. यथार्थ यथास्थिति नहीं – रघुवीर सहाय (सम्पादक– सुरेश शर्मा)
21ए, दरियागंज, नयी दिल्ली – 11002 (सं0–1994)

54. युगवाणी – सुमित्रानन्दन पंत
भारती भण्डार, प्रयाग, (स0–2004 वि0)

55. रघुवीर सहाय का कवि–कर्म – सुरेश शर्मा
अरूणोदय प्रकाशन, 1/2165, पूर्वी राम नगर, गली नं0 16,
मंडौली रोड, शाहदरा, दिल्ली – 110032 (स0–1992)

56. राग विराग (निराला)– सम्पादक राम विलास शर्मा
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद – 1 (चौदहवॉ संस्करण–1989)

57. रामचरित मानस – गोस्वामी तुलसी दास (मूल मझली साइज)
गीता प्रेस गोरखपुर, पैतीसवां संस्करण (स0 2038 वि0)

58. रीतिकालीन साहित्य का पुनर्मूल्यांकन – डॉ0 राम कुमार वर्मा
साहित्य भवन (प्रा0) लिमिटेड, के0पी0 कक्कड रोड, इलाहाबाद 211003, (प्र0सं0–1984)

59. लोक साहित्य का अध्ययन – त्रिलोचन पाण्डेय
लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद (प्र0सं0–1979)

60. लोक साहित्य की भूमिका – डॉ0 कृष्ण देव उपाध्याय
साहित्य भवन, लिमिटेड, इलाहाबाद (संस्करण–1986)

61. विद्यापति – डॉ0 शिव प्रसाद मिश्र
लोक भारती प्रकाशन,15ए, महात्मागॉधी मार्ग, इलाहाबाद–1 (11वॉ संस्करण–1996)

62. विनय पत्रिका – गोस्वामी तुलसीदास
गीता प्रेस, गोरखपुर , सम्वत् 2032 (पचीसवॉ संस्करण)

63. वे और नहीं होगें जो मारे जायेंगे – रघुवीर सहाय
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नयी दिल्ली (प्र0सं0–1983)

64. संक्षिप्त रामचन्द्रिका – सम्पादक डॉ0 पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, दशम संस्करण !

65. समकालीन कविता और धूमिल – डॉ0 मंजुल उपाध्याय
अनामिका प्रकाशन, 185 नया बैरहना, इलाहाबाद –3 (प्र0सं0–1986)

66. समकालीन कविता का यथार्थ – डॉ0 परमानन्द श्रीवास्तव
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़ (प्र0सं0–1988)

67. सूरसागर (प्रथम भाग)– संकलनकर्ता स्वामी श्री जयराम देव जी महाराज

68. स्कन्दगुप्त – जयशंकर प्रसाद
प्रसाद प्रकाशन,प्रसाद मन्दिर,गोबर्द्धनसराय, वाराणसी–10(आवृत्ति–अगस्त 1986)

69. शब्द जहाँ सक्रिय हैं – नन्द किशोर नवल
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली– 110002 (प्र0सं0–1986)

70. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (भाग–3)
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली (प्र0सं0–1981)

71. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली (भाग 6)
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8 नेता जी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली ,
(प्र0सं0–1981)

72. हिन्दी कविता का वैयक्तिक परिप्रेक्ष्य – राम कमल राय
लोक भारती प्रकाशन, 15–ए, महात्मा गॉधी, इलाहाबाद –1 (प्र0स0–1981)

73. हिन्दी काव्य धारा – राहुल सांस्कृत्यायन
किताब महल, इलाहाबाद (प्र0स0–1945)

74. हिन्दी साहित्य : अनिर्दिष्ट शोध–भूमियाँ–भगवती प्रसाद सिंह ,
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली (प्र0सं0–1977)

75. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास – डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी
लोकभारती प्रकाशन, 15–ए, महात्मा गॉधी मार्ग, इलाहाबाद–1 (सं0–1991)

76. हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य – अज्ञेय
ओम प्रकाश, राधाकृष्ण प्रकाशन, 14, रूप नगर, दिल्ली – 6

77. हिन्दी साहित्य का आदिकाल – डॉ0 हरिश्चन्द्र वर्मा
हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ (प्रकाशन–1988)

78. हिन्दी साहित्य का इतिहास – सम्पादक डॉ0 नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नई दिल्ली – 110002. (स0–1987)

79. हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी , तेइसवॉ संस्करण (स0–2047 वि0)

80. हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास – (षोड्श भाग) – सम्पादक
कृष्णदेव उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

81. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – डॉ0 राम कुमार वर्मा
प्रकाशन – राम नारायण लाल , बेनी माधव, प्रयाग, सितम्बर 1961

82. हिन्दी साहित्य कोश (भाग–1) प्रधान सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सन्त कबीर रोड, वाराणसी–1 (तृतीय संस्करण–1985)

83. हिन्दी साहित्य कोश (भाग–2) – प्रधान सम्पादक – धीरेन्द्र वर्मा
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी –1 ।

84. हुँकार – रामधारी सिंह 'दिनकर'
मार्डन पब्लिसर्स, योगी प्रेस, पटना, द्वितीय संस्करण ।

85. त्रिलोचन के बारे में – सम्पादक गोबिन्द प्रसाद
वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नई दिल्ली–110002 (प्र0सं0–1994)

86. ज्ञान शब्द कोश – सम्पादक मुकुन्दी लाल श्रीवास्तव
ज्ञानमण्डल लिमिटेड, सन्त कबीर मार्ग, वाराणसी – 221001 (सं0–1986)

संस्कृत ग्रन्थ

1. अथर्ववेद (द्वितीय खण्ड)
प्रकाशन : गंगा बुक डिपो, घीया मण्डी, मथुरा, 1969

2. अमरकोश– श्रीमद् अमरसिंह विरचित
प्रकाशनः मुम्बइयां सत्य भामा भाई पाण्डरंग, इव्येताभिः, सन् 1944 (षष्ठ संस्करणम्)

3. अष्टाधायी काशिका (पाठिनीय व्याकरण सूत्र वृत्तिः)– व्याख्याकार श्री नारायण मिश्र, प्रकाशनःचौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी–1,(चतुर्थ संस्करण,सम्वत् 2029)

4. ईशादि नौ उपनिषद – व्याख्याकार हरिकृष्ण दास गोयन्दका
प्रकाशन गीता प्रेस गोरखपुर (दशम सस्करण सम्वत 2040)

5. उत्तर राम चरितम् – भवभूति प्रणीतम् – सम्पा0
डा0 श्री निवास मिश्र,महालक्ष्मी प्रकाशन, शहीद भगत सिह मार्ग, आगरा – 282002

6. ऋग्वेद (भाषा भाष्य) – वैद्यनाथ शास्त्री
प्रकाशन : सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, रामलीला मैदान, नयी दिल्ली – 2

7. ऐतरेय ब्राह्मण का एक अध्ययन – डॉ0 नाथू लाल पाठक
प्रकाशन : रोशन लाल जैन एण्ड सन्स, बोरडी का रास्ता, जयपुर ।

8. कादम्बरी (पूर्वार्द्धम्)– श्री बाणभट्ट प्रणीता, सम्पा0 – प्राचार्य मोहन देव पन्त
प्रकाशन : श्री नरेन्द्र प्रकाश जैन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 6 (सं0–1983)

9. द न्यू वैदिक सलेक्शन – पंडित कान्ता नाथ शास्त्री तैलंग और
डॉ0 ब्रज बिहारी चौबे, प्रकाशन : प्राच्य भारती प्रकाशन, कमच्छा, वाराणसी
(प्रथम संस्करण–1965)

10. ध्वन्यालोक – श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य विरचित
मोतीलाल बनारसी दास चौक, वाराणसी ।

11. नाट्यशास्त्र (प्रथमो अध्यायः)
चौखम्भा संस्कृत संस्थान (विद्या विलास प्रेम), गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी
(संस्करण–सम्वत् 2040)

12. निरूक्तम् (निघण्टु भाष्य) यास्क मुनि
प्रकाशन : खेमराज श्रीकृष्ण दास श्रेष्ठिना, श्री वेंकेटेश्वर स्टीम प्रेस बम्बई
(संस्करण–सम्वत् 1982)

13. नैषधीयचरितं महाकाव्यम् – महाकवि हर्ष प्रणीत , सम्पा0
पं0 श्री ऋषीश्वर नाथ भट्टेन, प्रकाशन : श्री जे0 एन0 यादव, मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स (संस्कृत बुक डिपो) कचौड़ी गली ।

14. महाभारत (प्रथम खण्ड) – श्री मन्महर्षि वेदव्यास प्रणीत
गीता प्रेस, गोरखपुर (पंचम संस्करण–सम्वत् 2044)

15. महाभाष्य (भाग–1)
प्रकाशनः सुपरिटेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट प्रेस , मद्रास (संस्करण सन् 1948)

16. रघुवंशम् – कालिदास (कालिदास ग्रन्थावली – सीताराम चतुर्वेदी)
प्रकाशन . बद्री प्रसाद शर्मा, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़,
(तृतीय संस्करण – सम्वत् 2019 वि0)

17. व्याकरण महाभाष्ये नवाह्निनकम्
प्रकाशनः सत्यभामा बाई, पाण्डुरग इत्येताभि, मुम्बय्या (पचम सस्करण)

18. शुक्ल यजुर्वेद संहिता – श्री महाधराचार्य
प्रकाशन : मोती लाल , बनारसी दास बगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली – 7,
(संस्करण 1978)

19. श्रीमद् भगवद्गीता (श्री रामानुज भाष्य)
प्रकाशन : गीता प्रेस, गोरखपुर (चतुर्थ संस्करण)

20. श्रीमद् भगवतद्गीता (शांकरभाष्य)
गुजराती प्रिंटिंग प्रेस कोर, मुम्बई (शाकाब्द 1959)

21. श्री वाल्मिकी रामायणे
गीता प्रेस, गोरखपुर (तृतीय संस्करण)

22. हलायुध कोश – सम्पा0 जयशंकर जोशी
हिन्दी समिति, सूचना विभाग , लखनऊ (उ0प्र0) (संस्करण 1967)

<u>पत्र–पत्रिकाएँ</u> :–

1. आजकल, (सितम्बर 1969) – सम्पा0 केशव गोपाल निगम
सूचना व प्रसारण मन्त्रालय, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस,नयी दिल्ली–110001

2 आजकल, (मार्च 1980) – सम्पा0 प्रोणवीर कोहली
सूचना व प्रसारण मन्त्रालय, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस,नयी दिल्ली–110001

3. आजकल (अगस्त 1995) – सम्पा0 प्रताप सिंह बिष्ट
सूचना व प्रसारण मंत्रालय , प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नयी दिल्ली–110001

4. आजकल (जून 1996) – सम्पा0 प्रताप सिंह बिष्ट
सूचना व प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस, नयी दिल्ली– 110001

5. वर्तमान साहित्य (अगस्त 1992) – सम्पा0 से0 रा0 यात्री ,
विभूति नरायण राय, 109 रिछापालपुरी , गाजियाबाद – 201001

6. वर्तमान साहित्य (सितम्बर 1992) – सम्पा0 से0 रा0 यात्री
विभूति नरायण राय, 109 रिछापालपुरी , गाजियाबाद – 201001

7. साक्षात्कार (जून 1992) – सम्पा0 प्रभाकर श्रोत्रिय
मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् , डी – 11 प्रोफेसर्स कालोनी , भोपाल – 2

8. साक्षात्कार (अगस्त 1995) – सम्पा0 ध्रुव शुक्ल
मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् , संस्कृति भवन, बाण गंगा चौराहा , भोपाल –462003

9. हिन्दुस्तानी (त्रैमासिक) – सम्पा0 ब्रजेश्वर वर्मा (सूर विशेषांक)
हिन्दुस्तानी अकादमी , प्रयाग ।

संक्षेप में

सम्पा0	–	सम्पादक
पृ0सं0	–	पृष्ठ संख्या
प्र0सं0	–	प्रथम संस्करण
क0स0	–	कविता संग्रह
सं0	–	संस्करण
स0	–	सम्वत्
वि0	–	विक्रमी